आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन

डा० के० के० मिश्र
एम० ए०, पी-एच० डी०
समाजशास्त्र विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

मीनाक्षी प्रकाशन

प्रस्तावना

'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' का नया संस्करण प्रस्तुत है। सामाजिक परिवर्तन आज प्रत्येक समाज में अध्ययन का मुख्य आकर्षण बन गया है। कारण स्वयं स्पष्ट है। समाज का अन्तिम लक्ष्य प्रगति है, उसकी प्राप्ति परिवर्तन के अभाव में सम्भव नहीं। यही कारण है कि परिवर्तन के कारकों का विशद अध्ययन करके परिवर्तन को वह दिशा देने का प्रयास सभी समाजों में चल रहा है जो प्रगति के लिए आवश्यक है।

प्रस्तुत प्रयास में भारतवर्ष में कार्यशील विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में किया गया है। नियोजन का अध्याय पूरी तरह फिर से लिखा गया है ताकि पाठकों को नये तथ्यों से अवगत कराया जा सके। पुस्तक की सार्थकता इस बात से प्रमाणित हो चुकी है कि सभी समाजशास्त्र के अध्यापक इसे पाठ्य पुस्तक के रूप में संस्तुत करते रहे हैं। पाठकों से अनुरोध है कि वे अपने रचनात्मक सुझाव भेजें।

—के० के० मिश्र

विषय-सूची

पहला अध्याय

भारत में सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक परिवर्तन प्रत्येक समाज की एक आवश्यक विशेषता है। फिर भी समाज को उचित दिशा तभी प्राप्त होगी जब उसमें आवश्यक परिवर्तन होगा। यही कारण है कि किसी भी समाज का जो स्वरूप आज से कुछ समय पहले था, वह अब नहीं रहा। आये दिन समाज परिवर्तित होता रहता है। यह अवश्य है कि उस परिवर्तन का वास्तविक माप सम्भव नहीं। समाजशास्त्र में सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य सामाजिक सम्बन्धों में हुए परिवर्तन से लगाया जाता है। सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण सामाजिक अन्तःक्रियाओं द्वारा होता है। जब अन्तःक्रियाएँ प्रतिमानित स्वरूप को धारण कर लेती हैं तो उसे सामाजिक सम्बन्ध कहते हैं। प्रतिमानित स्वरूप से तात्पर्य उस निश्चित स्वरूप से है जिसका कि कुछ निश्चित अर्थ हो। लेकिन व्यवहार अथवा क्रिया-प्रतिक्रिया से सामाजिक सम्बन्ध का निर्माण तभी होगा जब वह 'प्रस्थिति' (status) के अनुरूप हो। प्रस्थिति के अनुरूप किये गये व्यवहार को कार्य या भूमिका (role) से सम्बोधित किया जाता है। यही 'प्रस्थिति' और 'कार्य' सामाजिक सम्बन्ध (समाज) की रीढ़ हुआ करती हैं। जब हम समाज में परिवर्तन की बात करते हैं तो हमारा सम्बन्ध इस 'प्रस्थिति' तथा 'कार्य' में परिवर्तन से होता है।

भारतीय समाज में लोगों के 'प्रस्थिति' तथा 'कार्य' में तीव्र परिवर्तन हो रहा है जिसके अनेक कारण हैं और जिनका विधिवत् उल्लेख हम आगामी पृष्ठों पर करेंगे। औद्योगीकरण, नगरीकरण, आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण, धर्म निरपेक्षीकरण की प्रक्रियाएँ कार्यशील हैं और ये सामाजिक सम्बन्धों के मूलभूत निर्मायक तत्त्व 'प्रस्थिति' तथा 'कार्य' को बड़ी तेजी के साथ प्रभावित कर रही हैं। भारतीय समाज को विचारकों ने 'स्थिर समाज' (static society) से सम्बोधित किया है। इसका प्रमुख कारण यह था कि पहले लोगों की एक 'प्रस्थिति' हुआ करती थी और उसी के अनुरूप लोग अपना 'कार्य' किया करते थे। लेकिन आज यह स्थिति नहीं रही। अब यहाँ भी प्रस्थितियाँ बदल रही हैं और लोग सफलतापूर्वक उसके अनुसार कार्य नहीं कर पा रहे हैं। यही कारण है कि समाज परिवर्तित हो रहा है। 'प्रस्थिति' दो प्रकार की होती है—

(1) प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed status), और

(2) अर्जित प्रस्थिति (Achieved status)।

प्रदत्त प्रस्थिति उसे कहते हैं जो व्यक्ति को जन्म के साथ ही उसके परिवार तथा जाति के आधार पर प्राप्त हो जाती है, जैसे ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए किसी व्यक्ति की एक प्रस्थिति।

अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति की समाज में वह स्थिति है जिसे वह अपने प्रयत्नों तथा योग्यता के आधार पर प्राप्त करता है। अन्य शब्दों में अर्जित प्रस्थिति अर्जित गुणों पर आधारित होती है, जैसे—धन, शैक्षणिक योग्यता, कला, नृत्य, संगीत का गुण आदि।

अन्य गतिशील (dynamic) समाजों की भाँति भारतवर्ष में भी 'अर्जित प्रस्थिति' पर जीवन व्यतीत करने की बात अधिक बलवती होती जा रही है। यहाँ लोग अपने 'प्रदत्त प्रस्थिति' से अब सन्तुष्ट नहीं। वे अब 'अर्जित प्रस्थितियों' के लिए प्रयत्नशील हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि अधिकांश लोग यह मानने लगे हैं कि 'अर्जित प्रस्थिति' जिसे वे प्राप्त कर रहे हैं अथवा करना चाहते हैं, के कारण उनकी दशा में सुधार होगा। सुधार हो सकता है यदि व्यक्ति बदले हुए 'प्रस्थिति' के अनुरूप व्यवहार करे। लेकिन सदैव वैसा हो नहीं पाता। व्यक्ति 'प्रस्थिति' तो धारण कर लेता है लेकिन उसके अनुरूप व्यवहार नहीं कर पाता। यही कारण है कि भारतवर्ष में आजकल तेजी के साथ परिवर्तन हो रहा है।

'अर्जित प्रस्थिति' के निर्णायक तत्त्व, जैसे धन, शैक्षणिक योग्यता, कला, संगीत, नृत्य का ज्ञान, आदि में कोई निश्चित सीमा नहीं होती कि इसके बाद अब उसमें विकास या ह्रास नहीं होगा। वे लोग भी शैक्षणिक योग्यता प्राप्त कर रहे हैं जो पीढ़ियों से अशिक्षित चले आ रहे थे। सरकार पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए विशेष सुविधा दे रही है ताकि वे शिक्षित हो सकें। स्त्री-शिक्षा जिसे अनावश्यक मध्यकाल से ही माना जाता था अब सामान्य शिक्षा से आगे बढ़ रहा है। सरकार शत-प्रतिशत अनुदान देकर स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित कर रही है। धन की प्राप्ति के द्वारा भी लोग अपने प्रस्थिति में परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील हैं। अब किसान उन खाद्यान्नों को नहीं पैदा करना चाहते जिनका कि वे स्वयं उपभोग करते हैं। इसके विपरीत वे 'व्यावसायिक पौधों' (जैसे राई, सरसों, तिल, गन्ना आदि) की खेती में अधिक रुचि ले रहे हैं ताकि उन्हें फसल होते ही रुपया मिल जाये। अब भारतीय किसान खाद, सिंचाई के साधनों का प्रयोग तथा उत्तम किस्म के बीजों द्वारा खाद्यान्नों के उत्पादन में सराहनीय वृद्धि कर रहे हैं। यही कारण है कि उनकी आर्थिक स्थिति अधिक मजबूत हो रही है। आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के कारण अब उनके सोचने-समझने के तरीके तथा दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हो रहा है। यह भी एक प्रमुख कारण है जिससे कि भारतीय समाज को अब गतिशील समाज कहा जा रहा है।

डेविस ने लिखा है कि 'सामाजिक परिवर्तन से अभिप्राय उन संशोधनों से है जो सामाजिक संगठन में होता रहता है।'[1]

गिलिन और गिलिन ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'जीवन के-स्वीकृत ढंग में जब संशोधन होने लगता है तो उसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। ये परिवर्तन भले ही भौगोलिक दशाओं में परिवर्तन के कारण हुए हों या सांस्कृतिक सज्जा, जनसंख्या की संरचना या विचारों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप हुए हों, अथवा चाहे वह समूह में प्रसरण या आविष्कार के कारण

[1] 'By social change is meant only such alterations as occur in social sation.' K. Davis, *Human Society*, 622.

हुए हों।'[1]

यदि उपर्युक्त विचारों का विवेचन किया जाये तो विदित होगा कि समय के साथ-साथ सामाजिक संगठन परिवर्तित होता रहता है। सामाजिक संगठन में परिवर्तन से तात्पर्य सामाजिक ढांचे तथा सामाजिक कार्य में परिवर्तन से होता है। व्यक्ति विशेप के जीवन अथवा उससे सम्बन्धित व्यवहारों मे हुए परिवर्तन को हम सामाजिक परिवर्तन नहीं कहेंगे क्योंकि उसका सम्बन्ध समस्त समाज से नही है, यद्यपि यह बात अपने स्थान पर सही है कि सामाजिक परिवर्तन मानव सम्बन्धों मे परिवर्तन से सम्बन्धित है। अतः कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन सामाजिक संगठन, संस्था तथा विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं में होने वाला परिवर्तन है। भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तन का भी यही मूल कारण है। यहाँ की सामाजिक संस्थाएँ तथा सामाजिक प्रक्रियाएँ तेजी के साथ परिवर्तित हो रही हैं।

सामाजिक परिवर्तन की सार्वभौमिक विशेषता निम्नवत् है—

(1) प्रत्येक समाज में (संस्कृति में भी) परिवर्तन निरन्तर तथा आवश्यक रूप से होता रहता है।

(2) परिवर्तन न तो अस्थायी है और न ही स्थानिक (spatial) रूप से अलग, अपितु इसकी प्रक्रिया निरन्तर चला करती है।

(3) परिवर्तन का प्रभाव उस स्थान विशेष के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी पड़ता है।

(4) प्राचीन काल की तुलना में आधुनिक सामाजिक परिवर्तन अधिक व्यापक है।

(5) भौतिक प्रौद्योगिकी तथा सामाजिक समर-तन्त्रों के विस्तार के कारण सामाजिक परिवर्तन के प्रभावों का क्षेत्र भी बढ़ता जा रहा है।

(6) परिवर्तन के कारण लोगों के अनुभव तथा समाज के कार्यात्मक पहलू पर साधारणतया प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

भारतीय सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन

सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि समाज की सामाजिक संस्थाएँ भी संशोधित अथवा परिवर्तित हों। भारतीय सामाजिक संगठन में परिवर्तन का श्रेय यहाँ की दो प्रमुख संस्थाओं, संयुक्त परिवार और विवाह, में परिवर्तन को है। संयुक्त परिवार की यह विशेषता थी कि कर्ता की आज्ञा का पालन सभी सदस्य करते थे। व्यक्ति अपने हित की बात बाद में तथा सामूहिक हित के बारे में पहले सोचता था। सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होता था। उम्र मे बड़े लोगों को अधिक सम्मान प्राप्त होता था। सभी अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रेम-भाव के द्वारा पारिवारिक उद्देश्यों की पूर्ति करते थे। प्रत्येक सदस्य अपने को सुरक्षित महसूस करता था। कर्ता भी परिवार के अन्य सदस्यों के हितों को पहले पूरा करता था। उसमें पारिवारिक समृद्धता की अधिक इच्छा होती थी। लेकिन

[1] 'Social changes are variations from the accepted modes of life, whether due to alteration in geographic conditions, the cultural equipments, composition of population or ideologies and whether brought about by diffusion or invention within the group.' Gillin and Gillin, *Cultural Sociology*, 561.

औद्योगीकरण, नगरीकरण तथा पश्चिमीकरण के प्रभाव के कारण अब सदस्यों का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी होता जा रहा है और अब लोग पारिवारिक उद्देश्य को गौण मानकर अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति में अधिक संलग्न हैं यही कारण है कि पारिवारिक बन्धन शिथिल पड़ रहे हैं और पारिवारिक ढाँचा परिवर्तित हो रहा है। अब संयुक्त परिवार के स्थान पर एकाकी परिवार को लोग अधिक महत्त्व दे रहे हैं। विवाह संस्था भी परिवर्तित हो रही है। पहले सवर्ण विवाह को उचित माना जाता था। सगोत्र, सपिण्ड तथा सप्रवर विवाह वर्जित था। आर्थिक समानता भी वर-वधू के लिए इसलिए आवश्यक मानी जाती थी क्योंकि इससे सम्बन्ध स्थायी रह पाते थे। लेकिन आजकल अन्तर्जातीय विवाह को भी उचित कहा जाता है। सगोत्र, सपिण्ड तथा सप्रवर विवाहों पर भी मनाही नहीं रही। आर्थिक विषमता का बिना ध्यान दिये आजकल गान्धर्व विवाह हो रहे हैं। विवाह के बदलते हुए रूप के कारण ही आजकल वैवाहिक सम्बन्धों में स्थायित्व नहीं रह पाता है। अब विवाह जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध नहीं रहा और न ही यह धार्मिक कृत्य माना जा रहा है। अब तो इसे एक संविदा माना जाता है जिसे कभी भी तोड़ा जा सकता है यदि संविदा के अन्तर्गत निश्चित शर्तों का पालन नहीं होता। बाल-विवाह को पहले एक धार्मिक कृत्य माना जाता था। जो अभिभावक ऐसा नहीं करते थे उन्हें पाप का भागीदार माना जाता था। अब स्थिति बदली हुई है— बाल-विवाह को सामाजिक अपराध माना जाता है। इसके करने वाले को वैधानिक दण्ड मिल सकता है। उसी प्रकार विधवा-विवाह अब अमान्य नहीं रहा। इन संस्थाओं में परिवर्तन के कारण अब सामाजिक संगठन भी परिवर्तित हो रहा है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन से सम्बोधित करते हैं। मैकाइवर तथा पेज ने ठीक ही लिखा है कि 'आज से दस हजार वर्ष पहले सामाजिक व्यवस्था कैसी थी, उसमें कैसे-कैसे परिवर्तन और पुनर्गठन हुए परिवार तथा राज्य जैसे मौलिक तत्त्वों में किस प्रकार परिवर्तन हुए होंगे, आदि बातों को व्यक्त करना आज के व्यक्ति की कल्पना शक्ति के बाहर है। सभी युगों में व्यक्तियों ने सामाजिक भविष्यवाणी के साथ चलना चाहा है लेकिन दूरस्थ भविष्य ने सदैव ही उसके स्वप्नों को पराजित किया है।'[1] 1947 ई० के पूर्व भारतीय सामाजिक संगठन का जो रूप था वह आज नहीं है। ग्रामीण और नगरीय दोनों समुदाय परिवर्तित हो रहे हैं। हमारे रहन-सहन, भाषा, रीति-रिवाज, संस्कृति तथा विभिन्न प्रकार के आर्थिक राजनीतिक तथा धार्मिक पहलुओं में रूपान्तर हुआ है। हम समाज को उस दिशा में ले जा रहे हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सुखी तथा समृद्ध होगा। ये सारी उपलब्धियाँ परिवर्तन के फलस्वरूप ही हो रही हैं। कुछ परिवर्तन वांछनीय तथा कुछ अवांछनीय होते हैं। यदि परिवर्तन उचित दिशा में है तथा सामाजिक मूल्य उसका समर्थन कर रहे हैं तो इसे वांछनीय सामाजिक परिवर्तन तथा यदि परिवर्तन सामाजिक मूल्यों के विपरीत है तो उसे अवांछनीय परिवर्तन अथवा विघटनकारी परिवर्तन कहा जाता है। कभी-कभी अवांछनीय या विघटनकारी परिवर्तन भी समाज के लिए आवश्यक हो जाता है। जो सामाजिक व्यवस्था अन्य किसी माध्यम से संशोधित या परिवर्तित नहीं हो पाती उसे विघटनकारी तत्त्वों से परिवर्तित किया जाता है। जनजातियों के बारे में कहा जाता है कि उनके जीवन की गतिविधियों में नहीं के बराबर परिवर्तन हुआ है, जैसे

[1] MacIver and Page, *Society*, 509.

अनेक मानव-शास्त्रीय अनुसन्धानों मे यह सिद्ध किया गया है कि जनजातियों का व्यवहार, खान-पान, रहन-महन, वेश-भूषा आदि आज भी साधारणतया वैसे ही हैं जैसा कि आज से 50-100 वर्ष पहले था। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि उनमें परिवर्तन नही हुआ है। यही कहा जा सकता है कि परिवर्तन की गति उनमें धीमी है। भारतवर्ष में आज वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकीय अनुसन्धानों के कारण वर्तमान सामाजिक सम्बन्धों मे तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। परिवर्तन की दिशा क्या है, वे कौन-कौन से कारक हैं जो सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं, किस कारक का महत्त्व अधिक है, आदि प्रश्नों का उत्तर आसानी से नहीं दिया जा सकता। अब हम उन प्रमुख कारको का उल्लेख करेंगे जो सामाजिक परिवर्तन के लिए जिम्मेदार हैं।

सामाजिक परिवर्तन के कारक

परिवर्तन के कारक जो भारतीय समाज को परिवर्तित कर रहे हैं, दो भागों मे रखे जाते हैं—

(1) **बाह्य कारक**—इस पर मनुष्य का नियन्त्रण पूरी तरह से नहीं हो सका है। केवल आंशिक संशोधन इसमें सम्भव हो पाता है, जैसे प्राकृतिक अथवा जैविक कारक।

(2) **आन्तरिक कारक**—ये मानव नियन्त्रण में हैं फिर भी उनका बाध्यता-मूलक प्रभाव सामाजिक सम्बन्धों पर पड़ता है, जैसे औद्योगिकीय एवं सांस्कृतिक कारक।

अब हम संक्षेप मे इन कारकों का उल्लेख करेंगे तथा यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि वे किस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित कर रहे हैं।

(1) **भौतिक या प्राकृतिक कारक**—जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जा रहा है वैसे-वैसे भौतिक तथा प्राकृतिक कारकों पर मानव-नियन्त्रण की आशा बढ़ती जा रही है। मनुष्य प्राकृतिक दशाओं को नियन्त्रित करने मे कुछ सफल भी हुआ है, जैसे नदियों पर पुलों का निर्माण, पहाड़ों के बीच रास्तो का बनाना, पथरीली तथा रेगिस्तानी जगहों को कृषि-योग्य बनाना, जंगलो को काट कर उसे कृषि-योग्य बनाना आदि। फिर भी प्राकृतिक कारकों का बाध्यतामूलक प्रभाव मानव जीवन और उसके अन्त: सम्बन्धो पर पड़ता चला आ रहा है। भौतिक पर्यावरण का वह भाग जो मानव-नियन्त्रण मे नही है उसे हम भौगोलिक कारक कहते हैं।

भौगोलिक कारक से तात्पर्य उन प्राकृतिक दशाओं से है जैसे—जलवायु, भूमि का वितरण, मौसम परिवर्तन, बाढ, भूकम्प आदि जिसका मानव सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है जैसे ऋतुओं के बदलने का प्रभाव हमारे सामाजिक सम्बन्धों पर पड़ता है। गर्मियों में शारीरिक अपराध, हत्या, लूटपाट, बलात्कार आदि की दर बढ जाती है—शरद काल मे आर्थिक अपराध अधिक होते हैं; उसी प्रकार जिस स्थान का तापक्रम अधिक घटता-बढ़ता नही वहाँ लोगो की कार्यक्षमता अधिक होती है। कार्यक्षमता अधिक होने के कारण उत्पादन में वृद्धि होती है और इस प्रकार आर्थिक समृद्धता में वृद्धि होती है। जहाँ जमीन उपजाऊ नही है वहाँ लोग चोरी, डकैती तथा इस प्रकार के अपराध अधिक करते है। हंटिंगटन का मत है

कि जलवायु में परिवर्तन से सम्यता और संस्कृति में परिवर्तन होता है। इससे भी जलवायु तथा भूमि की बनावट का सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्ध जोड़ता है। बाढ तथा भूकम्प आ जाने से सामाजिक सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाता है। सूखे के कारण भी समाज आर्थिक दृष्टिकोण से कमजोर हो जाता है जिसके कारण सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित होते हैं। बाढ़ से प्रत्येक वर्ष लाखों परिवार बेघरबार हो जाते है, असख्य लोगो की जान जाती हैं और इस प्रकार प्रचलित सामाजिक सम्बन्धो में परिवर्तन होता है। यही हालत सूखे की स्थिति में भी है। भौगोलिक कारक रहन-सहन, आचार-विचार, वेश-भूषा को प्रभावित करते हैं जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव सामाजिक सम्बन्धों पर पड़ता है। प्रत्येक सम्यता अपने पर्यावरण के साधनों का शोषण कर लेती है। यदि भौगोलिक दशाएँ मानव जीवन के अनुकूल हैं तो नि.सन्देह समाज विकास करेगा। इसके विपरीत यदि भौगोलिक दशाएँ क्रूर हैं तो मानव जीवन सुखी नही रह सकता। भारतवर्ष को सोने की चिड़िया इसीलिए कहा जाता था क्योंकि यहाँ की प्राकृतिक दशाएँ अधिक अंशों मे मानव जीवन के अनुरूप थी। प्राकृतिक दशाएँ यद्यपि किन्ही अशों मे अब मानव नियन्त्रण में हैं फिर भी सामाजिक संरचना को वे प्रभावित करती हैं।

(2) जैविक कारक (जनसंख्या में परिवर्तन)—भारतीय समाज को प्रभावित कर परिवर्तित करने का श्रेय जनसंख्या में परिवर्तन को है। सामाजिक सम्बन्ध मनुष्यों पर आश्रित हैं अत: उनकी संख्या मे वृद्धि अथवा कमी के कारण सामाजिक सम्बन्ध भी प्रभावित होते हैं जिनको हम सामाजिक परिवर्तन से सम्बोधित करते है। जनसंख्या का घनत्व, वितरण, शारीरिक तथा मानसिक योग्यता का सामाजिक परिवर्तन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। मनुष्य की जैविक योग्यताओं तथा गुणों मे भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है जिससे सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित होते है। एक ही परिवार में विभिन्न आचार-विचार के लोग मिलते हैं जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव सामाजिक परिवर्तन पर पड़ता है क्योंकि विचारों, भावनाओं तथा मनोवृत्तियों का परिवर्तन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। यदि किसी समाज की जनसख्या एकाएक बढ जाती है तो उसके परिणामस्वरूप विभिन्न सामाजिक समस्याएँ जैसे भोजन और रहन-सहन की समस्या, शिक्षा, दवा-दारू आदि की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं और उनका सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है। भारतवर्ष मे 1951 से नियोजन के कार्यक्रम सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए चल रहे हैं फिर भी *आशातीत सफलता नही मिल पा रही है, इसका प्रमुख कारण जनसंख्या मे वृद्धि है*। लोगों की आवश्यकताएँ पूरी नही हो पा रही है यही कारण है कि लोगो मे असन्तोष व्याप्त है, जिससे प्रेरित होकर आये दिन अवांछनीय घटनाएँ घटित हो रही है। जनसख्या की अधिकता के कारण यहाँ लोगों को उचित मात्रा मे पौष्टिक आहार नही मिल पा रहा है जिसके कारण शारीरिक विकास ठीक प्रकार से नही हो रहा है। यह स्थिति यहाँ के लोगो की कार्यक्षमता को कम कर रही है जिसके कारण कुल उत्पादन कम हो रहा है, प्रतिव्यक्ति आय नहीं बढ़ रही है और समाज पिछड़ा हुआ तथा गरीब राष्ट्र कहला रहा है। कभी-कभी जनसंख्या मे एकाएक कमी के कारण भी सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित होते है जैसे महामारी, अकाल अथवा युद्ध के दिनों में देखा जाता है। भारतवर्ष में जनसख्या वृद्धि एक

समस्या के रूप में इसलिए है क्योंकि 'जनसंख्या की आन्तरिक रचना' का बंटवारा उचित नहीं है। जैसे उत्पादक आयु 18 वर्ष से 52 वर्ष मानी जाती है; यहाँ इस आयु-समूह के केवल 40 प्रतिशत लोग हैं जबकि 60 प्रतिशत ऐसे लोग हैं जो या तो बच्चे हैं अथवा बूढ़े। आर्थिक उत्पादन कार्यों में अब भी पुरुषों की महत्ता स्त्रियों से अधिक है अतः कुछ राज्य जहाँ पुरुषों की संख्या स्त्रियों से बहुत कम है वे आर्थिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए हैं। स्त्रियों की संख्या अधिक होने के कारण समाज में बहुपत्नी-विवाह की समस्या पायी जाती है। स्त्रियों की संख्या चूँकि अधिक है यही कारण है कि उनका सामाजिक महत्त्व भी कम है। भारतवर्ष में शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के कारण जाति और वर्ण के दायरे समाप्त हो रहे हैं। लोग अन्तर्जातीय और अन्तर्राष्ट्रीय विवाह कर रहे हैं। जीवन साथी का चुनाव अब अभिभावकों की इच्छा पर आश्रित न हो कर स्वयं उस व्यक्ति की इच्छा पर केन्द्रित है जो विवाह करने वाला है। यदि बेमेल अथवा अन्तर्जातीय विवाह हुआ तो मिश्रित रक्त-सम्बन्ध के कारण नये दम्पति द्वारा उत्पन्न सन्तानों के गुणों में परिवार के अन्य सदस्यों के गुणों की तुलना में अन्तर होगा। दोनों प्रकार के लोग दो मूल्यों को लेकर चलेंगे जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन अवश्यम्भावी है। संयुक्त परिवार प्रणाली में परिवर्तन का यह एक प्रमुख कारण है। जन्म दर और मृत्यु दर को नियन्त्रित करने के लिए जिन प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है उनके प्रति प्रतिक्रिया होती है क्योंकि मूल्यांकन परिवर्तनशील है। पहले यहाँ एक दम्पति के लिए आठ-दस बच्चे आवश्यक माने जाते थे लेकिन अब दो या तीन पर्याप्त हैं। 1971 की जनगणना रिपोर्ट से पता चलता है कि अब भारत की जनसंख्या 54 करोड़ 70 लाख हो गयी है। 1947 में भारत और पाकिस्तान की सम्मिलित आबादी 33 करोड़ थी। यहाँ की जनसंख्या-वृद्धि माल्थस के सिद्धान्त से मेल खाती है जिसमें कहा गया है कि यदि प्रतिबन्धों का प्रयोग नहीं किया जाता तो किसी भी समाज की जनसंख्या 25 वर्ष में दुगुनी हो जायेगी। 1961–71 के बीच जनसंख्या वृद्धि 24·8 प्रतिशत रही है जबकि 1951–61 के बीच यह वृद्धि 22·18 प्रतिशत थी। प्रतिबन्धों (परिवार नियोजन कार्यक्रम) के प्रयोग के बावजूद जनसंख्या की वृद्धि सामाजिक परिवर्तन के लिए जिम्मेदार है। *जनसंख्या-वृद्धि में अल्पसंख्यकों का योगदान अधिक है। 1971 जनगणना रिपोर्ट* के अनुसार हिन्दू जो कुल जनसंख्या के 82·72 प्रतिशत है, पिछले 10 वर्षों (1961–71) में उनकी वृद्धि 23·69 प्रतिशत रही है जबकि मुस्लिम जो कुल आबादी के 11·21 प्रतिशत हैं, उनकी वृद्धि पिछले दस वर्षों में 30·85 प्रतिशत रही है। इसी प्रकार ईसाई जो केवल 2 6 प्रतिशत हैं उनमें जनसंख्या-वृद्धि 32·6 प्रतिशत हुई है और लगभग इसी अनुपात में सिक्ख, बौद्ध तथा जैनियों में भी जनसंख्या-वृद्धि पायी गयी है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि जनसंख्या-वृद्धि भारतीय सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख कारण है।

(3) प्रौद्योगिकीय कारक—जैसे-जैसे लोगों का झुकाव भौतिक समृद्धता की ओर होता जा रहा है वैसे-वैसे लोग प्रौद्योगिकीय आविष्कारों को अपना रहे हैं। भारतीय समाज पर प्रौद्योगिकीय प्रभाव अब उतना ही महत्त्वपूर्ण हो गया है जितना कि वह विकसित समाजों में है। प्रौद्योगिकी (मशीन, कल, पुर्जे) यद्यपि *मानव-निर्मित हैं फिर भी उसका बाध्यतामूलक* प्रभाव मानव सम्बन्धों पर पड़ता

है। जैसे-जैसे बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रयोग समाज में होने लगा है उसी रूप में सामाजिक सम्बन्ध भी परिवर्तित हो रहे हैं। लघु उद्योग धन्धों में काम करने वाले लोगों में सम्बन्ध प्राथमिक होता था तथा उनमें 'हम भावना' के साथ-साथ सहयोग भी पाया जाता था। लेकिन जैसे-जैसे बड़े उद्योग उन लघु उद्योग-धन्धों के स्थान पर आते जा रहे हैं वैसे-वैसे सामाजिक सम्बन्ध प्राथमिक से द्वैतीयक होते जा रहे हैं। इन बड़े उद्योग धन्धों में काम करने वालों में (भले ही वे पिता-पुत्र ही क्यों न हों) औपचारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वे व्यक्तिगत आधार पर भी अपने पहले के सम्बन्धों को त्याग कर नये प्रकार से अंतःक्रिया करने लगते हैं। इसका सबसे अधिक प्रभाव व्यक्ति के दृष्टिकोण पर पड़ा है, अब वह व्यक्तिवादी अधिक होता जा रहा है। यह प्रमुख कारण है जिससे भारतीय सामाजिक संगठन परिवर्तित हो रहा है।

औद्योगीकरण के कारण व्यक्ति अब आशावादी होता जा रहा है। वह उन चीजो के निर्माण के बारे में भी सोच सकता है जिसे लोग असम्भव समझते थे। खेती-बारी का कार्य पहले ब्राह्मण इसलिए नही कर पाता था क्योंकि परम्परागत आधार पर हल चलाना उसके लिए वर्जित था लेकिन आज वही व्यक्ति ट्रैक्टर से अपना खेत जोतता है और खेती के काम के लिए उसे दूसरो पर आश्रित नही रहना पड़ता। ऐसे ब्राह्मण परिवार जिनका खेत बिना जोते-बोये परती पड़ा रहता था आज वे मशीनो का प्रयोग करके उसी खेती से समृद्ध होते जा रहे हैं। पहले किसान पानी के लिए प्रकृति पर आश्रित रहता था लेकिन आज उसके पास सिंचाई की मशीन होने के कारण वह आवश्यकतानुसार पौधो को समय-समय पर पानी देता रहता है। औद्योगीकरण ने नियतिवाद (भाग्यवादिता) तथा अलौकिक शक्ति की महत्ता को कम किया है। अब पुरुषार्थ की भावना लोगों मे जागृत हो रही है। यातायात तथा आवागमन के साधनों (रेल, मोटर, वायुयान) के निर्माण के कारण जहाँ दूरी की अवधारणा समाप्त हो रही है, वही पर छुआछूत तथा जाति-पाँति का भेदभाव भी समाप्त हो रहा है। अब सवर्ण एक अस्पृश्य के साथ-साथ ट्रेन मे बैठकर यात्रा करता है। उसे कई दिनो तक ट्रेन मे यात्रा करनी है अतः वह अन्य लोगों के बगल में बैठकर भोजन भी कर लेता है। इन व्यवहारों में परिवर्तन के कारण सामाजिक परिवर्तन हो रहा है। प्रौद्योगिकी का विकास नगरीकरण की प्रक्रिया मे वृद्धि कर रहा है। अब लोग अन्य स्थानों से आकर उस स्थान पर बस जाते हैं जहाँ उद्योग को लगाया गया है। आवास की एक प्रबल समस्या खड़ी होती है। एक ही मकान मे विभिन्न आचार-विचार के लोग साथ-साथ रहते है। फलस्वरूप उनमें सहयोगात्मक सम्बन्ध नही रह पाते और परम्परागत व्यवस्था मे परिवर्तन स्वाभाविक हो जाता है। कुछ सामाजिक समस्याएँ जैसे वेश्यावृत्ति, बलात्कार, भिक्षावृत्ति, चोरी तथा मानसिक रोग की बहुलता बढ जाती है। इनके परिणामस्वरूप भी सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन देखने को मिलता है। रेडियो, टेलीफोन, सिनेमा, बेतार का तार तथा टेलीविजन आदि के आविष्कार ने सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है। प्रौद्योगिकी के कारण रीति-रिवाजो, सामाजिक मूल्यों, राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तन हो रहा है जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन अनिवार्य है। भारतीय सामाजिक परिवर्तन को तीव्र से तीव्रतर करने का श्रेय प्रौद्योगिकी को है।

(4) सांस्कृतिक कारक—संस्कृति का सम्बन्ध जीवन की सम्पूर्ण गतिविधि से होता है। अतः यदि जीवन की गतिविधियों में परिवर्तन हो तो उससे सामाजिक परिवर्तन निश्चित सा हो जाता है। संस्कृति के अन्तर्गत हम भाषा, साहित्य, कला, सुख-सुविधा की वस्तुएँ, यहाँ तक कि वे सभी चीजें जो मानव समाज से सम्बन्धित हैं, रखते हैं। यदि इन तत्वों में परिवर्तन हुआ तो सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। संस्कृति स्वयं परिवर्तनशील होती है अतः उस पर आश्रित समाज में परिवर्तन भी अवश्यम्भावी हो जाता है। सामाजिक मूल्य जो व्यक्तियों के व्यवहारों को निर्देशित करते हैं, यदि परिवर्तित होते हैं तो उससे भी सामाजिक परिवर्तन होता है। भारतवर्ष में मूल्यों का संघर्ष आधुनिक सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण कहा जा सकता है। यहाँ पुरानी पीढ़ी के लोग अब भी परम्परागत सामाजिक मूल्यों को धारण किये हुए हैं जबकि नयी पीढ़ी के सदस्य नये मूल्यों को लेकर चल रहे हैं। मूल्यों में संघर्ष के कारण भी परम्परागत सामाजिक ढाँचा परिवर्तित हो रहा है। फैशन के क्षेत्र में आये दिन परिवर्तन हम देख सकते हैं। फैशन सामाजिक नियन्त्रण का एक साधन है। भारतीय स्त्रियाँ भी अब पैन्ट, लुंगी, टापलेस वस्त्र पहन रही हैं जबकि बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ अब भी पुराने ढंग से साड़ी पहनती हैं। ऐसी स्थिति में विचारों में समानता सम्भव नहीं और न ही पुराने प्रकार के वस्त्रों से नई पीढ़ी के लोगों को प्रभावित ही किया जा सकता है अतः बेमेल शोभनाचार के कारण भी परिवर्तन देखने को मिल रहा है। आचार और आहार मे भी परिवर्तन स्पष्ट है। अब आधुनिक ब्राह्मण मांस, मदिरा, धूम्रपान का प्रयोग बेधड़क कर रहा है जबकि उसके पिता और पितामह उसका विरोध करते आये हैं। पहले सवर्ण स्त्रियाँ मांस नहीं खाती थी—अब मांस खाने की बात तो दूर रही, वे खुली सड़क पर सिगरेट भी पीती हैं तथा रेस्टराँ और क्लबों में शराब का भी प्रयोग करती है। यह स्थिति यद्यपि कुछ लोगों के विकास का मार्ग भी प्रशस्त कर देता है फिर भी इससे सामाजिक संगठन परिवर्तित हुए बिना नही रह सकता क्योंकि इसके पहले के लोगो का व्यवहार इस प्रकार का नही था। विवाह और परिवार में परिवर्तन और उसके प्रभाव का उल्लेख पिछले पृष्ठों पर किया गया है कि उनमें परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के लिए किस प्रकार जिम्मेदार है।

संस्कृति के दो प्रधान पक्ष भौतिक और अभौतिक के प्रति समाज का दृष्टिकोण और झुकाव किस प्रकार का है इसका भी सामाजिक परिवर्तन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। भारतवर्ष में अब लोगों का झुकाव भौतिक संस्कृति की तरफ अधिक होता जा रहा है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि भारतवर्ष में भौतिक संस्कृति का बहिष्कार किया जाता रहा है। हमारे पुरुषार्थों में (जिनकी संख्या चार है) अर्थ को भी वही स्थान दिया गया था जो अन्य पुरुषार्थों को है। फिर भी लोग भौतिकवादी नही थे। लोगों का झुकाव अध्यात्म की ओर अधिक था। अन्य शब्दों में अभौतिक संस्कृति का महत्त्व समाज में अधिक था। लोग साहित्य, कला, संगीत, नृत्य आदि के विकास में अधिक तल्लीन रहते थे। जीवन का अन्तिम उद्देश्य 'मोक्ष' इन्हीं रास्तों से मिल सकता है इस प्रकार की धारणा लोगों में थी। लेकिन आज व्यक्ति का दृष्टिकोण भौतिकवादी अधिक है। वह अधिक से अधिक धन प्राप्त कर भौतिक सुख-सुविधा के साधनों मे वृद्धि करना

चाहता है। पश्चिमी समाजों की भांति अब यहाँ भी जीवन का अन्तिम उद्देश्य 'अमरत्व की प्राप्ति' हो गया है जिसे धन के माध्यम से भी प्राप्त किया जा सकता है। 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार 'सर्वस्व त्याग' की बात अनिवार्य थी वह स्थिति अब अमरत्व के लिए आवश्यक नहीं। इस प्रकार संस्कृति के पहलू में परिवर्तन के कारण सामाजिक परिवर्तन हो रहा है। नैतिकता की अवधारणा भी अब यहाँ बदल रही हैं। पहले यौन सम्बन्ध विवाह के पश्चात् ही स्थापित हो सकता था। लेकिन अब तो गर्भपात को भी वैधानिक संरक्षण प्राप्त है। स्त्री विवाह के पहले यदि गर्भवती हो गयी तो भी उसका सामाजिक बहिष्कार नहीं होगा। भारतवर्ष में भी अब पश्चिमी समाजों की भाँति एक स्त्री या पुरुष विवाह-विच्छेद के बाद अन्य से जितनी बार चाहे विवाह कर सकते हैं। यहाँ विवाह पहले एक धार्मिक कृत्य माना जाता था। स्त्री का दान (कन्यादान) दिया जा रहा है ऐसा लोगों का मत था। और चूंकि दान दी हुई चीज फिर दूसरे व्यक्ति को दी नहीं जाती इसी आधार पर दूसरे विवाह को अनुचित बतलाया जाता था। जो इसका उल्लंघन करते थे उन्हें अनैतिक और दुराचारी कहा जाता था। लेकिन आज यह स्थिति नहीं रही। व्यक्ति अपने स्वार्थ में किसी भी प्रकार का व्यवहार कर सकता है जिसके कारण आज सामाजिक सम्बन्ध तीव्र गति से परिवर्तित हो रहा है। मिल्टन सिंगर ने लिखा है कि भारतीय सामाजिक संगठन में परिवर्तन का प्रमुख कारण सांस्कृतिक है। भारतीय गाँव जो मिट्टी के घरों तथा घासफूस की छतों से अधिकांशतया बना है, उनमे रहने वाले लोग यद्यपि उन वस्तुओं का उपभोग नहीं करते जो कस्बे या शहर के लोग करते हैं फिर भी ग्रामीण लोग अच्छे कपड़े तथा आभूषण को रखने की इच्छा रखते हैं। उनमें अधिक जमीन तथा अच्छे नस्ल के जानवर रखने की इच्छा होती है, बच्चों को शिक्षित करना तथा अपनी लड़कियों के लिए अच्छे वर की तलाश भी उनकी एक प्रमुख चाह होती है। अपने लिए न सही लेकिन अपने किसी रिश्तेदार के लिए वे नौकरी की तलाश करते हैं। बहुत सरल शब्दों में कहा जा सकता है कि ग्रामीण लोगों की इच्छा अपनी स्थिति को सुधारने की होती है। वह अन्य चीजों की भी कामना करता है जो सार्वजनिक कल्याण के हैं जैसे स्कूल, सड़क, पीने के पानी की व्यवस्था आदि। आजकल भारतीय सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण अधिकाश लोगों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन है।

उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त कुछ अन्य तत्त्व भी हैं जो भारतीय सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित कर रहे हैं। आगामी अवतरणों में हम उनका संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

(1) संस्कृतीकरण (Sanskritisation)—भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था का अपना एक विशिष्ट स्थान था। इस व्यवस्था के अन्तर्गत श्रम-विभाजन की विधिवत् व्यवस्था थी। प्रत्येक वर्ण के लोग अपने कार्यों को करते थे। कार्यों के आधार पर ही विभिन्न वर्णों के लोगों को एक निश्चित सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त थी। ब्राह्मण सर्वोच्च सामाजिक प्रस्थिति का व्यक्ति माना जाता था, उसके बाद क्षत्रिय, फिर वैश्य और सबसे अन्त मे शूद्र वर्ण के लोगों का स्थान था। कौन व्यक्ति किस वर्ण में रहेगा इसका निर्धारण व्यक्ति के गुण और झुकाव पर निर्भर करता था। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत यह व्यवस्था जन्मजात हो गई फिर भी प्रत्येक जाति की सामाजिक प्रस्थिति परम्परागत बनी रही।

संस्कृतिकरण प्रक्रिया के अन्तर्गत नीची जातियों के सदस्य उच्च जातियों के व्यवहारों को अपना रहे हैं। इस अनुकरण की प्रक्रिया के कारण निम्न जाति के सदस्यों का व्यवहार परिवर्तित हो रहा है जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के तौर पर चमार तथा अस्पृश्य जाति के सदस्य ब्राह्मणों का अनुकरण अपने जीवन की गतिविधि में इसलिए कर रहे हैं ताकि उनकी प्रस्थिति में सुधार हो और वे भी समाज में वही प्रतिष्ठा पा सकें जो ब्राह्मणों को मिलती रही है। पूजा-पाठ, जनेऊ धारण करना, तीर्थयात्रा करना, अब शूद्र उसी प्रकार कर रहे है जैसा ब्राह्मण किया करते हैं। अब वे अपने परम्परागत कार्यों को करना नहीं चाहते। इस स्थिति के कारण सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित हो रहे है। संस्कृतीकरण की स्पष्ट प्रक्रिया स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दृष्टिगत हुई है वैसे इसके पहले भी छोटी प्रस्थिति के लोग उच्च प्रस्थिति वाले लोगों का अनुकरण करते रहे हैं। निम्न जाति के लोगों द्वारा नये व्यवहार प्रतिमान के अपनाने के कारण अब उनमें नये-नये विचारों का समावेश हो रहा है, इसी विचार-परिवर्तन के कारण उनके मूल्य तथा मान्यताएँ भी बदल रही है, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज में परिवर्तन हो रहा है।

(2) औद्योगीकरण (Industrialisation)—यद्यपि प्रौद्योगिक कारक का वर्णन ऊपर किया गया है फिर भी औद्योगीकरण प्रक्रिया का वर्णन भारतीय सामाजिक परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए आवश्यक जान पड़ता है। औद्योगीकरण से तात्पर्य *औद्योगिक क्रान्ति से है जिसके परिणामस्वरूप किसी समाज में* बड़े उद्योग-धन्धों का विकास होता है। भारतवर्ष में प्रौद्योगिक कारक सदियों से सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता रहा है फिर भी उसे हम औद्योगीकरण नहीं कहेंगे, क्योंकि उससे बड़े और मूलभूत उद्योगों का विकास सम्भव नहीं हो सका। भारत में औद्योगीकरण का वास्तविक श्रीगणेश 1956 ई० में माना जाता है, जबकि भारतीय सरकार ने नियोजन के माध्यम से औद्योगिक विकास का कार्यक्रम शुरू किया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की उपलब्धियों से पता चलता है कि अब भारतवर्ष में औद्योगीकरण की प्रक्रिया कार्यरत है जिसका प्रभाव हमारे सामाजिक सम्बन्धों पर पड़ रहा है। बड़े-बड़े उद्योगों के विकास के कारण जहाँ एक ओर आर्थिक विकास में सहायता मिल रही है वही पर दूसरी ओर विभिन्न सामाजिक समस्याएँ, जैसे बेकारी, गन्दगी, शारीरिक अपराध, चोरी आदि के कारण सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित हो रहे हैं। प्राथमिक सामाजिक सम्बन्ध जो भारतीय समाज की विशेषता थी अब बदलकर द्वितीयक होती जा रही है। सामाजिक दूरी की अवधारणा समाप्त हो रही है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव गतिशीलता में वृद्धि है। लोग अपने गाँवों को छोड़कर उन स्थानों को जाने लगे हैं जहाँ उद्योग स्थापित किये जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में इस बात की सम्भावना अब बढ़ रही है कि लोग कहीं अब अपने परम्परागत सगठनों से सम्बन्ध न तोड़ लें। ऐसा हो भी रहा है। ऐसे लोग जिनकी प्रस्थिति गाँव में ऊँची नही है वे शहरो की ओर या उस स्थान पर जहाँ उद्योग लगाये गये है इसलिए जा रहे हैं ताकि उनकी प्रस्थिति में सुधार हो जाये। यदि ऐसा सम्भव हो सका तो फिर वे लोग अपने पैतृक स्थान से अपने निकट सम्बन्धियों को भी बुला लेते है और स्थायी रूप से उस नये स्थान पर रहने लगते हैं। इस आप्रवास तथा उत्प्रवास के कारण अनेक सामाजिक समस्याएँ

अवतरित हो रही है, जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन हो रहा है। औद्योगीकरण ने भारतीय समाज को अब 'स्थिर समाज' से 'गतिशील समाज' में परिवर्तित कर दिया है जिसका परिणाम यह हुआ है कि आये दिन लोगों की 'प्रस्थिति' तथा 'कार्य' बदल रहा है जिससे सामाजिक संगठन में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। औद्योगीकरण के कारण 'अभिजात वर्ग' के रूप में अब वे लोग भी आने लगे हैं जिनकी प्रस्थिति अभी तक नीची रही है। ऐसे लोगो का व्यवहार परम्परागत व्यवहार प्रतिमान का विरोध करता है और नये व्यवहार प्रतिमान को समाज के सामने रखता है। इस प्रकार व्यवहार प्रतिमान में परिवर्तन के कारण भी सामाजिक परिवर्तन हो रहा है। औद्योगीकरण ने अब स्त्रियों को भी आर्थिक उत्पादन कार्य के योग्य बना दिया। पहले यह धारणा अधिक बलवती थी कि स्त्रियाँ चूंकि शारीरिक शक्ति में पुरुषों से कमजोर होती है अतः उन्हें घर के अन्दर के कामों को ही करना चाहिए। घर के बाहर का कार्य जिसमे आर्थिक उत्पादन कार्य प्रमुख है पुरुषों के लिए छोड़ देना चाहिए। लेकिन मशीनीकरण के कारण अब शारीरिक शक्ति की महत्ता घटी है। अब तो बटन दबाने मात्र से उत्पादन प्रारम्भ हो जाता है जिसे पुरुष और स्त्री कोई कर सकता है। ऐसी स्थिति मे, स्त्रियाँ अब घर के अन्दर के कार्य को अनुचित, प्रस्थिति-विरोधी तथा सम्मानघातक सिद्ध करते हुए पुरुषों के समान बाहर जाकर उद्योगों में काम कर रही है। यदि किसी परिवार में दोनों स्त्री-पुरुष (पति-पत्नी) उद्योग में काम करते हैं तो उनके आश्रित बच्चों का समाजीकरण ठीक से नहीं हो पाता क्योंकि उन बच्चों की देखभाल के लिए उचित स्थान अभी भारत में पर्याप्त संख्या में बन नही पाया है। वे बच्चे उन कार्यों को बाल्यावस्था से शुरू कर देते हैं जिसे अपराधी या समाज विरोधी कृत्य कहा जाता है। आगे चलकर यही बच्चे पेशेवर अपराधी के रूप मे कार्य करने लगते हैं। परिवार की आर्थिक समृद्धता जैसे-जैसे बढ़ रही है (क्योंकि पति-पत्नी दोनों नौकरी करते है) वैसे-वैसे परिवार मे अनैतिक व्यवहार की संख्या भी बढ़ने लगती है। ऐसा देखा गया है कि जिन परिवारों में परिवार के अधिकांश या सभी सदस्य नौकरी करते हैं या आर्थिक उत्पादन क्रिया में भाग लेते हैं वहाँ शराबखोरी या फिजूलखर्ची की आदत बढ़ जाती है। शराबखोरी के कारण व्यक्ति कभी-कभी उन व्यवहारों को कर बैठता है जो उनके आश्रितों के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के व्यवहार के कारण भी सामाजिक परिवर्तन देखने को मिल रहा है। औद्योगीकरण ने 'पेशा वर्ग' को जन्म दिया है। किसी एक पेशे या किसी एक मशीन पर काम करने वाले लोगो में वही भावना आ जाती है जो किसी वर्ग या जाति के सदस्यों के बीच पायी जाती है। इस 'पेशे वर्ग' के लोग भले ही वे किसी भी जाति या धर्म के क्यों न हों, वे आपस में सभी प्रकार के सम्बन्ध जैसे वैवाहिक सम्बन्ध, उत्सव पर्व में साथ-साथ रहना, खाना-पीना आदि प्रारम्भ कर देते हैं जिसके कारण उनके परम्परागत व्यवहार प्रतिमान का उल्लंघन होता है और इस कारण भी सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित हो रहे हैं। औद्योगीकरण के कारण जहाँ विभिन्न प्रकार की चीजें समाज को उपलब्ध होने लगी हैं वहीं पर चीजों के मूल्य में उल्लेखनीय वृद्धि हो रही है। मध्यम वर्ग तथा कुछ निम्न वर्ग के लोग इस स्थिति से अधिक त्रस्त हो रहे हैं। इस दशा के कारण अब 'मध्यम वर्ग' का वह स्थान नहीं रह पा रहा है जो कुछ समय पहले था। इस स्थिति के कारण भी सामाजिक परिवर्तन हो

रहा है। बड़े-बड़े उद्योगों के लग जाने के कारण अधिकांश श्रमिक अब बेकार होते जा रहे हैं। इस बेकारी की स्थिति के कारण अब लोग उन कृत्यों को कर रहे हैं जिसे असामाजिक कहा जाता है। इस स्थिति के कारण भी सामाजिक परिवर्तन निश्चित सा हो जाता है।

(3) पश्चिमीकरण (Westernisation)—पश्चिमीकरण से तात्पर्य पश्चिमी समाजों का किसी गैर-पश्चिमी समाज पर पड़ने वाले प्रभाव से है। भारतीय समाज के ऊपर पश्चिमी समाजो का व्यापक प्रभाव पड़ा है जिसके परिणामस्वरूप यहाँ की मूलभूत सामाजिक संस्थाएँ प्रभावित हुई हैं। अंग्रेज 1600 ई० से भारतीय समाज के सम्पर्क में आये और तभी से उन्होंने यहाँ के निवासियों को अपने चाल-ढाल, पोशाक, बोली और रहन-सहन से प्रभावित करना शुरू किया। इसका सबसे अधिक प्रभाव यहाँ के उच्च तथा मध्यम वर्ग के लोगों पर पड़ा और उनका रहन-सहन, पोशाक तथा बोल-चाल भी अब अंग्रेजों की भाँति होने लगा। इस स्थिति के कारण परम्परागत सामाजिक सम्बन्धों मे परिवर्तन प्रारम्भ हुआ और एक नया सामाजिक ढाँचा निर्मित हुआ। पश्चिमीकरण ने एक ओर जहाँ जाति-पाँति को गलत सिद्ध करने का प्रयास किया वहीं पर उसने जातिगत दूरी तथा भेदभाव को बढ़ाने में भी मदद दी। यह पश्चिमीकरण का प्रभाव रहा है कि पढ़े-लिखे लोग भी जातिवाद तथा साम्प्रदायिक भेदभाव से अपने को अलग नहीं रख सके। पश्चिमीकरण ने मानवतावाद, समानता तथा धर्मनिरपेक्षता की भावना को बढ़ाने मे मदद दी। प्रेस, आवागमन के साधन तथा अन्य ऐसी ही चीजो का आविष्कार कर उसने सामाजिक दूरी को कम करने का प्रयत्न किया जिसके परिणामस्वरूप दूरस्थ स्थानों के लोग अपने विचारों का आदान-प्रदान करके एक नयी सामाजिक व्यवस्था के लिए कृतसंकल्प हुए। नियतिवाद से आशावाद की ओर, अन्धविश्वास से तार्किक व्यवहार की ओर, अध्यात्मवाद के साथ-साथ भौतिकवाद की ओर भारतीय लोगों को प्रेरित करने का श्रेय पश्चिमीकरण को है। इस प्रकार की स्थिति के कारण भारतीय सामाजिक संगठन मूलभूत रूप से परिवर्तित हो रहा है। पश्चिमीकरण के प्रभाव के कारण ही पवित्रता तथा अपवित्रता की अब धारणा बदल रही है। जिसे आज से कुछ दिन पहले तक पवित्र माना जाता था वही आज अपवित्र माना जाता है। इस पवित्रता तथा अपवित्रता की अवधारणा में परिवर्तन के कारण आज लोगों के दृष्टिकोणों मे परिवर्तन हो रहा है और यह परिवर्तन सामाजिक मूल्य में परिवर्तन को जन्म दे रहा है। मूल्यो में परिवर्तन भी भारतीय सामाजिक परिवर्तन का कारण है। पश्चिमीकरण का प्रभाव निम्न जातियों के ऊपर भी पड़ा है जिसके परिणामस्वरूप वे अपनी स्थिति में सुधार के लिए जागरूक हुए। यही कारण है कि आज निम्न जाति के लोग अपने अर्जित गुणो में वृद्धि करके अपने परम्परागत रहन-सहन के ढंग को परिवर्तित कर रहे हैं। यह स्थिति भी सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख कारण है। पश्चिमीकरण ने व्यक्तिवादिता का भी विकास किया है जिसके परिणामस्वरूप आज लोगों में साथ-साथ रहने तथा परिवार के अन्य व्यक्ति के लिए कुछ करने की भावना समाप्त हो रही है। संयुक्त परिवार से एकाकी परिवार की ओर झुकने की प्रवृत्ति भी पश्चिमीकरण का ही परिणाम है।

(4) धर्मनिरपेक्षीकरण (Secularisation)—भारतीय समाज को धर्म-प्रधान देश कहा जाता रहा है। यहाँ के लोग परम्परागत इसलिए कहे जाते थे क्योंकि उनका प्रत्येक व्यवहार धर्म पर केन्द्रित होता था। धर्म का जो रूप आज यहाँ है वही

हजार वर्ष पहले भी था और चूँकि व्यवहार धर्म पर आश्रित था यही कारण है कि उसमें परिवर्तन नही हो पाता था। विवेकानन्द से अमरीका में यह पूछे जाने पर कि भारतीय तथा अमरीकी जनता में मूलभूत अन्तर क्या है, उन्होंने उत्तर दिया कि अमरीकी जनता जहाँ सरकार और उसके स्वरूप के बारे में अधिक जागरूक है वहीं पर भारतीय जनता धर्म और उसके प्रभाव के बारे में अधिक जागरूक रहती है। लेकिन अब यह विशेषता लुप्त हो रही है क्योंकि यहाँ धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया कार्यरत है जिसके अन्तर्गत धर्म विशेष को श्रेष्ठ या निम्न कहना उचित नही और न ही धर्म के आधार पर व्यक्ति का प्रत्येक व्यवहार उचित कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति मे लोगों का व्यवहार अब औपचारिक नियन्त्रण के साधनों जैसे कानून, राज्य आदि से अधिक निर्देशित होने लगा है। औपचारिक नियन्त्रण के साधनों की यह विशेषता होती है कि वे स्वयं समय-समय पर संशोधित या परिवर्तित होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा निर्देशित व्यवहार में संशोधन या परिवर्तन स्वाभाविक है। स्वतन्त्र भारत ने अपने नीति निर्देशक तत्त्वों में धर्मनिरपेक्षीकरण को प्रमुख स्थान दिया है जिसके परिणामस्वरूप प्रभावकारी धर्मों का महत्त्व घट रहा है। ऐसी स्थिति के कारण भी भारत में सामाजिक परिवर्तन देखने को मिल रहा है। धर्मनिरपेक्षीकरण के अब बुद्धिवाद या तार्किकता (rationalism) को बढ़ावा मिल रहा है जबकि पहले भारत में धर्म के नाम पर अन्धानुकरण की भावना अधिक थी। यह स्थिति भी सामाजिक परिवर्तन के लिए जिम्मेदार है। धर्म जिसे अपवित्र या अनुचित कहता रहा है उसे तार्किक दृष्टिकोण पर उचित सिद्ध किया जा रहा है जैसे ब्राह्मण वर्ग का व्यक्ति मांस या अण्डे का सेवन नहीं कर सकता था क्योंकि हिन्दू धर्म उसे अपवित्र मानता था और इसी कारण जो व्यक्ति ऐसा करता था उसे असामाजिक, अनुचित या अवांछनीय कहा जाता था। आज स्थिति कुछ दूसरी है अब मांस तथा अण्डे को स्वास्थ्य के लिए उचित बतलाते हुए उसे ब्राह्मण के रसोईघर मे रखने की सलाह दी जाती है। अब जिस रसोईघर में अण्डा नहीं बरता जाता उसे लोग उचित नही बताते। इस प्रकार के दृष्टिकोण मे अन्तर का कारण धर्मनिरपेक्षीकरण है जिसके फलस्वरूप सामाजिक सम्बन्ध बदल रहे हैं। विभिन्न समुदाय, जाति तथा धर्म के अनुयायियों के बीच खान-पान पर वह प्रतिबन्ध नही रहा जो पहले था। धर्मनिरपेक्षीकरण धर्म को अब एक तार्किक दृष्टिकोण दे रहा है जिसके कारण विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों के लोग अब साथ-साथ समान लक्ष्य की पूर्ति मे देखे जा सकते हैं। यह स्थिति भी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को बढ़ावा दे रही है।

(5) **जनतन्त्रीकरण (Democratisation)**—भारतवर्ष में तीव्र सामाजिक परिवर्तन का एक कारण जनतन्त्रीकरण का विकास है। यहाँ प्रजातान्त्रिक सरकार की स्थापना के बाद समाज को बदलने का कार्यक्रम भी इसी माध्यम से पूरा किया जा रहा है। प्रजातान्त्रिक नियोजन जिसे हम पचवर्षीय नियोजन भी कहते हैं के द्वारा भारतीय सामाजिक संगठन मे मूलभूत परिवर्तन हुआ है। शक्ति का विकेन्द्रीकरण भी इसी प्रक्रिया के कारण सम्भव हो सका है। जनतन्त्रीकरण अच्छे व्यक्तित्व के विकास के लिए कृतसंकल्प है, यही कारण है कि आज धर्म, जाति, धन, लिंग आदि भेदो के आधार पर सामाजिक व्यवहार मे कोई अन्तर नही है। सभी को समान बनाने मे जनतन्त्रीकरण का योगदान उल्लेखनीय है। समाज के पिछड़े लोगों—विशेषकर अस्पृश्यों की समस्या का समाधान बहुत अशों में इस प्रक्रिया द्वारा सम्भव

हो सका है। प्रत्येक व्यक्ति को विचार अभिव्यक्ति, विवाह, शिक्षा तथा किसी उचित कार्य करने की स्वतन्त्रता है। ऐसी स्थिति के कारण अब पिछड़े वर्गों की हालत में सुधार के साथ-साथ स्त्रियों की दशा में भी सुधार विशेष उल्लेखनीय हो रहा है। स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन के कारण अब यहाँ की मूलभूत सामाजिक सस्था (परिवार) परिवर्तित हो रहा है जिसकी स्पष्ट झलक सामाजिक परिवर्तन है। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व जो जनतन्त्रीकरण का आधार है। उससे भारतीय सामाजिक संस्थाएँ अधिक अंशों में प्रभावित हो रही हैं। सरकार का रूप वयस्क मताधिकार पर आश्रित है अतः चुनाव के समय जनता को सरकार का रूप बदलने का पूरा अधिकार प्राप्त है, सरकार के बदलने से राष्ट्रीय नीति बदलती है जो सामाजिक सम्बन्धों को भी प्रभावित करती है। शक्ति के विकेन्द्रीकरण का जो कार्य जनतन्त्रीकरण के माध्यम से शुरू हुआ है उसके द्वारा ग्राम स्तर की समस्याओं के समाधान के लिए केन्द्र सरकार द्वारा कार्यक्रम बन रहे हैं। अब ग्राम पंचायतों को भी अधिकार प्राप्त है ताकि वे लोगों को सामाजिक न्याय कम खर्च तथा कम समय में दे दें। शक्ति के विकेन्द्रीकरण के बाद अब जिन लोगों के पास सत्ता या शक्ति जा रही है वे उसका दुरुपयोग भी कर रहे हैं। भाषावाद, क्षेत्रवाद, जातिवाद और सम्प्रदायवाद जैसी समस्याएँ भी राजनीतिकरण के कारण उत्पन्न हो रही हैं जिसके परिणामस्वरूप लोगों का दृष्टिकोण संकुचित हो रहा है। यह स्थिति भी समाज को एक नये प्रकार से परिवर्तित कर रही है। जनतन्त्रीकरण ने राजनीतिकरण को जन्म दिया है जिसके कारण अब अधिकाधिक लोग राजनीति में उलझते जा रहे हैं। अब तो शैक्षणिक संस्थाओं को भी राजनीति का अखाड़ा बनाया जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा के स्तर में गिरावट और अन्य विभिन्न छात्र-समस्याओं का जन्म हो रहा है। यह स्थिति भी सामाजिक परिवर्तन का कारण है।

(6) नगरीकरण (Urbanisation)—भारत में सामाजिक परिवर्तन का एक अन्य कारण ग्रामीण समुदाय पर नगरीकरण का प्रभाव है। यातायात तथा आवागमन की सुविधा के कारण अब गाँव का व्यक्ति रोज छोटे-मोटे कार्यों के लिए भी नगर में आता है और वह यहाँ की चमक-दमक से इतना प्रभावित हो जाता है कि अपने ग्रामीण जीवन में भी उन्ही के अनुरूप व्यवहार शुरू कर देता है। वह जब कभी वैसा नही कर पाता तो अपने परम्परागत गाँव तथा परिवार को छोड़कर नगर मे ही स्थायी रूप से रहने लगता है। कुछ समय बाद जब वह फिर गाँव में जाकर देखता है तो उसे अनुभव होता है कि यह जगह उसके अनुरूप अब नही रही क्योंकि सभी लोग उसे अब भी वही स्थान देते हैं जो उसे पहले मिला करता था अतः इस बार वह अपनी पत्नी, बच्चो तथा अन्य प्रत्यक्ष आश्रितो को लेकर गाँव छोड़कर नगर को चला जाता है। यह आवश्यक नही कि उसके आश्रित भी नगर में उचित समायोजन कर ही लेंगे। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि अधिकांश ऐसे लोग नयी परिस्थिति से सामंजस्य स्थापित नही कर पाते जिसके कारण सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित होता है। यद्यपि औद्योगीकरण का नगरीकरण पर प्रभाव पड़ता है फिर भी इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि बिना औद्योगीकरण के नगरीकरण सम्भव नहीं। अधिकाश भारतीय नगर ऐसे रहे हैं जहाँ उन्नीसवीं सदी के पहले केवल लघु उद्योग-धन्धे ही विकसित थे। शक्ति से स्वचालित उद्योग अब भी अधिकांश भारतीय नगरों में प्रचुर मात्रा में नहीं हैं। नगरों में लोगों के बीच द्वैतीयक सम्बन्ध 'व्यक्तिवाद' को बढ़ावा दे रहे हैं जिसके

कारण परम्परागत सामाजिक संस्थाएँ, जैसे परिवार तथा विवाह, परिवर्तित हो रहे हैं
जो सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण है।

सारांश

टी० बी० बोटोमोर ने उचित ही लिखा है कि भारतवर्ष में सामाजिक
परिवर्तन लाने मे दो तत्त्वों ने महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है : प्रथम—पाश्चात्य
विज्ञान एव प्रौद्योगिकी, तथा दूसरा—सामाजिक नियोजन। विभिन्न अध्ययनों मे यह
सिद्ध किया गया है कि प्रौद्योगिकी का प्रभाव सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं
पर दृष्टिगत होता है। रहने की दशा मे सुधार तथा चिकित्सा सुविधा के द्वारा मृत्यु-
दर मे कमी हुई है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है यह भारत की तीव्र जनसंख्या
वृद्धि के लिए उत्तरदायी है। पूंजीवादी उद्योग व्यवस्था का प्रारम्भ सम्पत्ति-प्रणाली व
श्रम-विभाजन मे परिवर्तन लाया है जिसने नये सामाजिक स्तरों तथा वर्गों को जन्म
दिया है, जिन्होने भारत के राजनीतिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।
औद्योगीकरण के प्रभाव से सयुक्त परिवार, सम्पत्ति की अवधारणा, कानून तथा जाति-
प्रणाली सभी प्रभावित हुए हैं। प्रौद्योगिकी के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभावों ने बुद्धिवाद
के माध्यम से उस परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रारम्भ किया है जिसके कारण लोगों का
दृष्टिकोण परिवर्तित हो रहा है। बोटोमोर के शब्दों में, 'प्रौद्योगिकी अप्रत्यक्ष रूप से
आर्थिक सम्बन्धो, तथा प्रौद्योगिकीय और वैज्ञानिक विचार के धीमे रूपान्तरण के
माध्यम से अप्रत्यक्ष परिवर्तन ही नही लायी जो कि इसका आधार था अपितु विश्व
के बारे मे इसने नया दृष्टिकोण प्रदान किया जो कि परम्परागत संस्कृति के साथ
संघर्ष मे आया। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश शासन ने भारत में सामाजिक तथा
प्रौद्योगिकीय आविष्कारों को प्रारम्भ किया (सरकार प्रशासन, न्याय-प्रणाली, शिक्षा
आदि) तथा बुद्धिवाद और बाद में समानतावाद एवं साम्यवाद जैसे नये सांस्कृतिक
मूल्य प्रारम्भ किये।'[1] भारतीय सामाजिक परिवर्तन के ये मूल कारण कहे जा सकते
हैं। बोटोमोर के अनुसार 'सांस्कृतिक विडम्बना' (भौतिक संस्कृति और अभौतिक
संस्कृति के बीच की दूरी) की अवधारणा भारतवर्ष के लिए अधिक उचित है जिसके
कारण परिवर्तन हो रहे हैं। आधुनिक पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था के विकास से किन्हीं
ऐसे सामाजिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ जिसने भारतीय परम्परा को या तो
अस्वीकार किया अथवा उसमें आधुनिकीकृत सुधार किये फिर भी भारतीय सामाजिक
संस्थाएँ पूंजीवादी अथवा समाजवादी संस्थाओ के अनुकूल नही हो सकीं। जैसे संयुक्त
परिवार आधुनिक समय मे न तो उपयोगी रहा और न ही आवश्यक। इसी प्रकार
जाति-व्यवस्था मे गतिशीलता एव समानता की कमी उसके प्रजातन्त्रीय होने में बाधा
है, यही कारण है कि जाति-प्रणाली राजनीतिक शासन, शिक्षा-प्रणाली तथा उद्योग
की आवश्यकताओं से मेल नही खाती।। चूंकि जाति-प्रणाली तथा सयुक्त परिवार
भारतीय संस्कृति के प्रमुख तत्त्व हैं अतः जैसे-जैसे वे कमजोर होते जाते हैं उनके साथ
भूतकाल के सांस्कृतिक मूल्य भी क्षीण हो रहे है। लौकिक हिन्दुत्व स्वयं प्रत्यक्ष रूप
से अभिनवीकरण तथा धर्मनिरपेक्षीकरण से प्रभावित हो रहा है जो औद्योगिक समाज
के विकास से संलग्न है। बहुत से भारतीय शिक्षित युवक विवाह पर जातीय प्रतिबन्ध
को नापसन्द करते हैं, माता-पिता द्वारा निर्णीत विवाह की आलोचना करते हैं तथा

[1] T. B. Bottomore, *Sociology*, 318–19.

परिवार के बुजुर्गों से अप्रसन्न दीखते हैं। फिर भी व्यवहार में साधारणतया वे आचरण के परम्परागत प्रकारों को पारिवारिक श्रद्धा एवं स्नेह से प्रभावित होकर तथा शायद इस अनिश्चितता से भी कि भिन्न मार्ग के अनुसरण करने का क्या परिणाम होगा, विशेषाधिकार प्राप्त समूह ऐसी नवीनताओं का प्रतिरोध करते हैं जो कि उनकी प्रतिष्ठा तथा आर्थिक लाभ को कम करती है। ये विभिन्न संघर्ष सामाजिक परिवर्तन के स्रोत हैं। नियोजन कार्यक्रम, जो 1951 में प्रारम्भ हुआ, के कारण इच्छित परिवर्तन सम्भव हो सका है। भारतीय संविधान (1950) समाज के सभी लोगों के लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय देने के लिए कृतसंकल्प है। पब्लिक सर्विस कमीशन अब इन सैद्धान्तिक उद्देश्यों को व्यवहार रूप में परिणत कर रहा है। सामुदायिक विकास योजना के द्वारा गाँवों की स्थिति में सुधार किया जा रहा है ग्रामीण संरचना परिवर्तित हो रही है। डा० एस० सी० दुबे ने लिखा है कि यद्यपि ग्रामवासियों ने कार्यक्रम का विरोध इस आधार पर किया कि उसके कारण उनके सांस्कृतिक मूल्य प्रभावित होंगे फिर भी इस योजना ने ग्रामीण समुदायों में एक ऐसी मनोवृत्ति को अपनाने में मदद दी है जिसका प्रभाव दीर्घकालीन होगा।[1] लोग नवीनताओं को अपनाने में धीमे हैं तथा अत्यधिक सचेत रहते हैं फिर भी एक सीमित मात्रा में वे विभिन्न कार्यक्रमों को अपना भी रहे हैं। लोगों की आकांक्षाओं के स्तर में निःसन्देह परिवर्तन हो गया है तथा उनके और सरकार के बीच की दूरी धीरे-धीरे समाप्त होने के साथ ही पर्याप्त उन्नति की सम्भावना बढ़ सकती है।

बेटोमोर के शब्दों में, 'भारतवर्ष में सामाजिक परिवर्तन का विवरण आर्थिक परिवर्तन के महत्त्वपूर्ण प्रभाव का संकेत देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप की भाँति आज के विश्व में औद्योगीकरण की प्रक्रिया ही मुख्य रूप से समाज की संरचना तथा सांस्कृतिक आदर्शों को आकार प्रदान करती है। फिर भी प्रत्येक अवस्था में सामाजिक जीवन के विभिन्न तत्त्वों के बीच परस्पर सम्बन्ध होता है तथा कोई यह अन्दाज नहीं लगा सकता कि औद्योगिक समाजों का स्वरूप कैसा होगा। भारतवर्ष में अनेक प्रक्रियाएँ साथ-साथ घटित हो रही हैं। औद्योगिक विकास की स्वेच्छाजन्य योजनाएँ कार्यशील हैं तथा इसके साथ ही साथ कृषि-सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण योजना भी लागू है। इसके अतिरिक्त अनेक अवांछित परिवर्तन दिखाई देते हैं जो कि प्रत्यक्ष रूप में औद्योगीकरण तथा अभिनवीकरण से उत्पन्न होते हैं।[2] जैसा कि प्रो० एम० एन० श्रीनिवास ने कहा है, विकासशील देश (भारतवर्ष) आज प्राचीन और नवीन के बीच संघर्ष का रणस्थल है। पुरानी व्यवस्था अब न तो नई शक्तियों का सामना कर पाती है और न लोगों की नई आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को पूरा कर पाती है, पर वह मरणासन्न भी नहीं है। वास्तव में वह अभी तक बहुत जीवन्त है। यह संघर्ष बहुत से अशोभन विवाद, कलह, मतिभ्रम, और कभी-कभी रक्तपात को भी जन्म देता है। सन्तुलन और एकीकरण में उलझाव का परिणाम ही परिवर्तन है।

दूसरा अध्याय

उद्विकास

परिवर्तन के परिणामस्वरूप जो विभिन्न स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं उनमें उद्विकास भी एक है। डार्विन तथा हर्बर्ट स्पेंसर ने सामाजिक उद्विकास को उसी रूप मे देखा है जिस रूप मे मानव शरीर का उद्विकास होता है। समाज और संस्कृति में उद्विकास किन्हीं निश्चित नियमों के अन्तर्गत होता रहता है। जब परिवर्तन में दिशा भी नियत हो तो उसे उद्विकास से सम्बोधित किया जाता है।

परिवर्तन	+	दिशा	=	उद्विकास
(Change)		(Direction)		(Evolution)

जिस प्रकार विभिन्न वस्तुओं में उद्विकास होता रहता है उसी प्रकार समाज भी विभिन्न उद्विकासीय स्तरों से गुजरता है। Evolution शब्द की उत्पत्ति लैटिन के evolvere शब्द से हुई है, जिसका अर्थ होता है 'प्रकट करना' अथवा क्रमिक उन्नति करना। उद्विकास का सम्बन्ध उस वृद्धि या परिवर्तन से है जो कि वस्तुओं के आन्तरिक गुणों के कारण होता है। मैकाइवर तथा पेज ने 'सोसायटी' मे लिखा है कि जब हम निरन्तरता को ही नहीं बल्कि परिवर्तन की दिशा को भी व्यक्त करते हैं तो उसे उद्विकास कहते हैं। वैज्ञानिक तो उन्ही तत्वो का अध्ययन करता है जिसमें उद्विकास के गुण होते है। उद्विकास की प्रक्रिया के कारण एक वस्तु सरलता से जटिलता की तरफ अग्रसारित होती है। उद्विकास के कारण वस्तु के अन्तर्निहित गुण और अंग प्रस्फुटित होकर उसके आकार और रचना में परिवर्तन लाते हैं। उद्विकास के कारण वस्तुओं के कार्यों मे भी परिवर्तन आता है। किसी वस्तु के अंग और कार्य जो स्पष्ट नही थे उद्विकास के कारण स्पष्ट हो जाते है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उद्विकास वह परिवर्तन है जिसके कारण एक स्थिति का रूपान्तरण इस प्रकार का होता है जिससे कि उसके सभी अंग, प्रत्यंग, गुण तथा कार्य अपनी-अपनी दिशा मे प्रस्फुटित होकर साफ-साफ दिखाई देने लगते हैं। उद्विकास में जो परिवर्तन होता है उसका सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से नहीं होता। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि आदर्शात्मक सामाजिक मूल्य उद्विकास के परिवर्तन को नियन्त्रित नही करते बल्कि किसी भी वस्तु मे परिवर्तन स्वतः हो जाता है और वह मनचाही दिशा अपनाता है। यदि उस वस्तु मे अन्तर्निहित गुण अधिक होते हैं जिनके कारण वह उद्विकास हुआ है तो परिवर्तन की गति तीव्र हो जाती है। यदि उद्विकास की शक्ति कम हैं तो उस वस्तु के अंगो मे परिवर्तन भी धीरे-धीरे होगा। उद्विकास धीरे-धीरे तथा स्वतः होता है। उद्विकास के परिणामस्वरूप वस्तु को विकसित दिशा का स्वरूप प्रगतिशील होगा अथवा ह्रासमय होगा, इसका निर्धारण उस समाज के सामाजिक मूल्य करते हैं। उद्विकास के परिणामस्वरूप वस्तुओं का जो नया रूप सामने आता है वह सदैव ही

जटिल होगा, इस विचार को बहुत से समाजशास्त्री नहीं मानते।

अर्थ तथा परिभाषा

पुस्तकालय एवं

उद्विकास का सम्बन्ध उस परिवर्तन से है जिसमें कोई वस्तु अथवा संरचना सरल से जटिल हो जाती है तथा उसके अंग-प्रत्यंग अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। यदि परिवर्तन में दिशा का भी बोध है तो उसे उद्विकास से सूचित किया जाता है। अब हम कुछ विचारकों के मतों का उल्लेख करेंगे।

मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है कि 'उद्विकास से तात्पर्य केवल निरन्तरता से नहीं बल्कि परिवर्तन की दिशा से भी है। उद्विकास से तात्पर्य केवल आकार में परिवर्तन से नहीं है बल्कि इसका सम्बन्ध ढांचे में परिवर्तन से है।'[1] उपर्युक्त परिभाषा के विवेचन से स्पष्ट होता है कि उद्विकास में परिवर्तन की निरन्तरता के साथ-साथ एक दिशा का भी बोध आवश्यक है। यह बात अवश्य है कि वह दिशा पूर्वनिश्चित (fixed) नहीं होती।

ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने लिखा है कि 'उद्विकास मात्र केवल एक निश्चित दिशा में परिवर्तन है।'[2]

स्पेंसर ने उद्विकास की व्याख्या करते हुए लिखा है कि उद्विकास किसी पदार्थ की वह समन्वित गति है जिससे वह अपेक्षाकृत अधिक अनिश्चित, सम्बद्ध एकरूपता से निश्चित असम्बद्ध विजातीयता में परिवर्तित होता है।[3] इस परिभाषा में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि उद्विकासीय प्रक्रिया के कारण कोई वस्तु सरलता से जटिलता को प्राप्त होती है।

हाउस ने सामाजिक उद्विकास की परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'सामाजिक उद्विकास नियोजित तथा अनियोजित विकास को कहते हैं, जो संस्कृति और सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों या सामाजिक अन्तःक्रिया के स्वरूपों का होता है।'[4]

जिसबर्ग का मत है कि 'उद्विकास एक ऐसा आन्दोलन है जो सरलता से जटिलता की तरफ जाता है, बहुत ही विवादपूर्ण है।'[5]

जिसबर्ट ने लिखा है कि उद्विकास के अन्तर्गत वस्तुओं के विभिन्न अंग प्रस्फुटित होकर परिपक्वता को प्राप्त करते हैं।[6]

[1] 'Evolution expresses not only continuity but direction of change, Evolution as we shall see.... , a change not merely in size but at least in structure also.' MacIver and Page, *op. cit.*, 522.

[2] 'Evolution is merely change in a given direction.' Ogburn and Nimkoff, *A Hand book of Sociology*, 603.

[3] 'Evolution is an integration of matter and concomitant dissipation of motion, during which the matter passes from a relatively indefinite, incoherent homogeneity to a relatively definite coherent heterogeneity and during which the retained motion undergoes a parallel transformation.' H. Spencer, *Principles of Sociology*.

[4] 'Social evolution : The development, planned and unplanned, of culture and forms of social relationships or social interaction.' E. N. House in the *Dictionary of Sociology* by H. P. Fairchild (ed.), 282.

[5] 'The notion that evolution is a movement from the simple to the complex can be, and has been seriously disputed.' M. Ginsberg, *Studies in Sociology*, 78.

[6] P. Gisbert, *Fundamentals of Sociology*, 109.

उद्विकास की विशेषताएँ

विभिन्न विचारकों के मतों के आधार पर उद्विकास की निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं—

(1) उद्विकास परिवर्तन की निरन्तरता तथा दिशा दोनो को ही व्यक्त करता है।
(2) इसमें दिशा का तो बोध होता है लेकिन निश्चित दिशा का बोध नहीं होता। एक जीवधारी छोटा, मोटा या बड़ा होगा तब तक तय नहीं किया जा सकता जब तक कि उसका पूर्ण उद्विकास नहीं हो जाता।
(3) उद्विकास का प्रमुख कारण आन्तरिक शक्ति हुआ करती है। बाह्य शक्ति का इसके लिए कम महत्त्व है। साधारणतया उद्विकास जैविक परिवर्तनों को स्पष्ट करता है।
(4) उद्विकास का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। उद्विकास मे परिवर्तन किसी भी तरह का हो सकता है।
(5) उद्विकास का सामाजिक मूल्यों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता
(6) उद्विकास की अवधारणा सार्वभौमिक है और इसका क्षेत्र विकसित है।
(7) उद्विकास प्रक्रिया धीरे-धीरे कार्यरत होती है।
(8) उद्विकास का मनोवैज्ञानिक पहलू से कोई सम्बन्ध नहीं होता।
(9) उद्विकासीय परिवर्तन के कारण सरल अवस्था जटिल अवस्था मे परिवर्तित हो जाती है।

डार्विन का उद्विकासीय सिद्धान्त

सामाजिक परिवर्तन के उद्विकासीय सिद्धान्तो की महत्ता उस समय और बढ गयी जब उन्नीसवी शताब्दी में चार्ल्स डार्विन ने अपने उद्विकासीय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। डार्विन ने यह सिद्ध किया कि प्रत्येक जीव में अस्तित्व के लिए संग्राम होता है। इस सग्राम मे वही जीव बच पाते हैं, जो सबसे योग्य होंगे। अपने पर्यावरण से सफल समायोजन वही जीव कर सकता है जिसका विकास उस पर्यावरण के अनुकूल होगा। इसी समायोजन की आवश्यकता के कारण ही जीवों में समरूपता से विभिन्नता और इस प्रकार सरलता से जटिलता आ जाती है। प्राणिजगत् मे परिवर्तन की इसी प्रक्रिया को उसने उद्विकास की संज्ञा दी है। डार्विन के इस उद्विकास के सिद्धान्त के आधार पर ही योग्यतम का अतिजीवन तथा भेदकरण के दो अन्य नियम कार्यान्वित हैं। प्राकृतिक पर्यावरण का सिद्धान्त भी अधिकतम योग्यता के अतिजीवन को व्यक्त करता है। उद्विकास की प्रक्रिया के फलस्वरूप स्थिर तथा सरल वस्तुओं तथा जीवों का रूप गतिशील तथा जटिल हो जाता है जिसको निम्नलिखित उदाहरणों से ठीक प्रकार से समझा जा सकता है। एक बीज का रूप स्थिर तथा सरल होता है। यदि उसे उपयुक्त मिट्टी तथा जलवायु प्रदान की जाये तो उसका अंकुरण प्रारम्भ हो जाता है। इस अवस्था तक का उद्विकास स्पष्ट नहीं होता। लेकिन कुछ दिनों के बाद उसमें से एक जड़ निकलती है, और एक तना निकलता है। कालान्तर मे उस जड़ मे से द्वैतीयक तथा तृतीयक जड़ें निकलती हैं। उसी प्रकार उस तने में से विभिन्न शाखाएँ, पत्तियाँ फल-फूल निकलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि

एक सरल बीज जब उद्विकास के परिणामस्वरूप एक पौधे या पेड़ का रूप धारण कर लेता है तो उसके विभिन्न अंग स्पष्ट हो जाते हैं। प्रत्येक अंग अपना-अपना कार्य करके उस सम्पूर्ण व्यवस्था को शक्ति प्रदान करता है जिससे कि वह वृक्ष अन्य वृक्षों से संघर्ष में पीछे न रहे। जड़ों से पानी, मिट्टी और खाद का शोषण वृक्ष करते हैं, पत्तियों से वायु तथा प्रकाश ग्रहण करते हैं, उनकी छालें अति गर्मी तथा अति ठंडक से सुरक्षा प्रदान करती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न अंग विभिन्न प्रकार के कार्य करते हैं लेकिन उन सबका उद्देश्य एक होता है और वह है वृक्ष को समुचित शक्ति प्रदान करना जिससे वह अपने पर्यावरण से अनुकूलन कर अधिक दिन तक अपने अस्तित्व को बनाये रख सके। मानव जीवन में भी उद्विकासीय प्रक्रिया का क्रम पौधे जैसा ही होता है। प्राणियों के शरीर में भी निरन्तर उद्विकास की प्रक्रिया कार्यरत रहती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि हम उसका आभास निरन्तर नही कर पाते। जब जीवधारी एक अवस्था या स्तर से दूसरी में पहुँच जाता है तभी हम उस उद्विकास का आभास कर पाते हैं, जैसे मानव जीवन में जन्मकाल व शैशवावस्था, बाल्यकाल, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि। व्यक्तियों में यह विकास उनकी आन्तरिक शक्ति के कारण होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राणियो में एकरूपता से बहुरूपता की दशा मे विकास होता है। डार्विन के इस सिद्धान्त को बाद में स्पेंसर ने सामाजिक जीवन पर लागू किया।

प्राणियों के उद्विकास के बारे में यदि हम दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि पहले एककोशीय जीवधारी (single-celled organism) थे जिन्हें अमीबा कहते हैं। अमीबा एक ऐसा अविकसित प्राणी है जिसमे विभिन्न अगों का विकास नहीं हुआ था। वह एक ही अंग से अपना सब काम कर लेता है। लेकिन जैसे-जैसे प्राणियों का विकास हुआ बहुकोषीय जीवधारी पाये जाने लगे। बैल, गाय, बन्दर, मनुष्य सभी बहुकोषीय जीवधारियों के उदाहरण हैं, जिनके विभिन्न अंग अलग-अलग विकसित है। प्रत्येक अंग अलग-अलग प्रकार का कार्य करता है। समाज के उद्विकास को भी यदि देखा जाये तो हमे विदित होगा कि जो समाज सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक दिनों मे थे वे बहुत ही सरल थे। उन समाजों में श्रम-विभाजन और विशेषीकरण की प्रक्रिया नही थी। आजकल जो समाजों के रूप है उनमें विभिन्न प्रकार की आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक संगठन पाये जाते हैं। समाज में श्रम-विभाजन है। विभिन्न प्रकार के कार्य विभिन्न प्रकार के पेशा-समूह करते हैं। एक ही प्रकार के कार्यों को करते-करते विशेषीकरण की प्रक्रिया अवतरित होने लगी है। *आज के समाज की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता विशेषीकरण* ही है जो विभिन्नीकरण और श्रम-विभाजन का परिणाम है। आदिम समाजों में व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन एक ही प्रकार के सामाजिक समूह में व्यतीत हो जाता था लेकिन आजकल व्यक्ति की सभी आवश्यकताएँ केवल प्राथमिक समूहों में ही पूरी नहीं हो पातीं। व्यक्तियों को द्वैतीयक समूहों पर अधिक आश्रित रहना पड़ता है।

समस्त ब्रह्माण्ड की वस्तुएँ उद्विकास की निहित विशेषता के कारण परिवर्तित हो रही हैं। जीवों तथा समाज का उद्विकास भी ब्रह्माण्ड के विकास का एक अंग है। स्पेन्सर ने उद्विकास की धारणा को व्यक्त करते हुए लिखा है कि 'समाजों में एकीकरण दृष्टिगत होता है जो पिण्ड या राशि की सरल वृद्धि से तथा उनके मिलाप तथा पुनर्मिलाप से सम्पन्न होता है। सजातीयता से विजातीयता में

परिवर्तन के अनेक उदाहरण हैं। सरल जनजाति जो सभी भागों में एक जैसी होती है उनसे रचना तथा कार्य सम्बन्धी असमानताओं से विकसित तथा सभ्य राष्ट्र का विकास होता है। प्रगतिशील एकीकरण और विजातीयत्व से संयोग में वृद्धि हो जाती है। इसके साथ-साथ निश्चितता में भी वृद्धि होती है। प्रारम्भ में सामाजिक संगठन अनिश्चित था लेकिन उसमें उन्नति के कारण निश्चित प्रबन्ध आते-जाते हैं। सभी संस्थाएँ प्रारम्भ में एक में मिलती रहती हैं लेकिन वे धीरे-धीरे एक-दूसरे से पृथक् और विशिष्ट होने लगती है। इसी तरह समाज के हर पहलू में उद्विकास की प्रक्रिया कार्यरत रहती है। इसमें वृहद् आकार, अधिकतर संयोग, अनेकरूपता तथा निश्चितता की ओर विकास होता जाता है।' हॉबहाउस ने समाज के उद्विकास के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि 'उद्विकास से तात्पर्य किसी भी प्रकार की वृद्धि से है' (By Evolution I mean any sort of growth)। वे आगे लिखते हैं कि समाज प्रगतिशीलता, कार्यकुशलता, स्वतन्त्रता और पारस्परिकता जैसे इच्छित उद्देश्य की ओर जा रहा है। लेकिन सभी समाजशास्त्री इस मत को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उच्चतम सभ्यताओं में भी स्त्रियों की दयनीय स्थिति, स्वतन्त्रता का अपहरण तथा वैयक्तिक स्वार्थों की प्रबलता रही है। मार्गन, स्पेंसर तथा ऐंजिल्स, आदि का यह मत है कि प्रत्येक समाज का विकास वन्यावस्था, बर्बरता और सभ्यता की अवस्थाओं से होता है। आर्थिक दृष्टिकोण से भी शिकार युग, पशुपालन युग, कृषि, हस्तकला तथा उद्योग की अवस्थाएँ एक-एक करके अवतरित हुई। परिवार का उद्विकास भी यौन स्वच्छन्दता, समूह-विवाह, पितृसत्तात्मक, मातृसत्तात्मक तथा एकविवाही परिवार की क्रमिक अवस्थाओं से हुआ है। धर्म के उद्विकास के भी अनेक स्तर है—जैसे पशु, पदार्थ, टोटम, बहुदेववाद तथा एकेश्वरवाद। आधुनिक समाजों मे कुछ संस्थाएँ प्राचीन समाजो की संस्थाओ जैसी ही हैं, अतः प्रारम्भिक उद्विकास के सिद्धान्त को उसी रूप में स्वीकार करना ठीक नहीं; फिर भी उद्विकास की प्रक्रिया को पूर्णरूपेण अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। आधुनिक मानव-शास्त्री जो उद्विकास की धारणा को पूर्ववत् मानते हैं उनका विचार है कि समस्त मानव समाज मे सरलता और अस्पष्टता से जटिलता तथा विशिष्टता की ओर उद्विकास हुआ है। उद्विकास के अन्तर्गत नैतिक प्रगति की धारणा सन्निहित नहीं होती। मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है कि उद्विकास वह प्रक्रिया है जिसमे वस्तुओं मे अन्तर्निहित गुण तथा सम्भावनाएँ धीरे-धीरे विकसित होती हैं। उद्विकास संख्यात्मक तथा गुणात्मक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसमें वस्तु की आन्तरिक विशेषताएँ प्रकट होकर स्पष्ट हो जाती हैं।

हरबर्ट स्पेंसर का सिद्धान्त

डार्विन के मत से अपनी सहमति व्यक्त करते हुए स्पेंसर ने उद्विकासीय सिद्धान्त को समाज तथा संस्कृति पर लागू किया। स्पेंसर का मत है कि आदिम युग में समाज का रूप अधिक सरल था। लोगों के बीच आपसी सम्बन्ध प्रत्यक्ष तथा व्यक्तिगत होते थे। परिवार प्रत्येक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक कार्यों को करता था। सभी लोगो का पेशा प्रायः निश्चित होता था और रहन-सहन का स्तर भी समान ही होता था। लोग एक-दूसरे के बारे मे कम चिंतित होते थे। यही कारण था कि सभी लोगो के बीच समन्वय की कोई कड़ी नहीं थी। लेकिन समय

के साथ-साथ परिवार, राज्य, उद्योग, धार्मिक संस्था आदि का अधिक स्पष्ट रूप सामने आया।

इन विभिन्न इकाइयों का कार्य-क्षेत्र भी अलग हुआ। प्रत्येक इकाई के कार्य की सुनिश्चितता के कारण समाज में श्रम-विभाजन देखने को मिला। श्रम-विभाजन के कारण एक इकाई को चूंकि एक ही प्रकार के कार्य करने होते थे, अत: विशेषीकरण की प्राप्ति भी प्रारम्भ हुई। श्रम-विभाजन के कारण जहाँ विशेषीकरण की प्राप्ति हुई वहीं पर समाज का प्रत्येक कार्य विधिवत् पूरा होने लगा क्योंकि सभी इकाइयों का कार्य-क्षेत्र स्पष्टत: बँटा हुआ था।

यद्यपि श्रम-विभाजन विभिन्नीकरण को जन्म देता है फिर भी सभी इकाइयाँ विभिन्न हितों की शर्तं के लिए एक-दूसरे पर निर्भर भी रहती है। विभिन्न इकाइयो के बीच अन्तर्निर्भरता का क्षेत्र यदि बढता नही है तो कम भी नही होता, क्योंकि एक इकाई को विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर आश्रित रहना पडता है। जैसे परिवार राज्य पर निर्भर है, उसी प्रकार कानून धार्मिक संस्थाओं पर निर्भर है। समाज के सभी लोगों तथा इकाइयों में अन्तःसम्बन्ध आवश्यक रूप से रहता है। उद्विकास की प्रक्रिया प्रत्येक समाज में निरन्तर चला करती है। इस प्रक्रिया के कारण एक समाज सरल से जटिल अवस्था में पहुँचता है। उदाहरण के रूप में पहले वस्तुओं का क्रय-विक्रय न होकर अदला-बदली (barter system) हुआ करता था। अब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी वस्तुओं का क्रय-विक्रय सम्भव है। अब आर्थिक क्षेत्र में उद्विकासीय अवस्था शिकार से प्रौद्योगिकी तक पहुँच चुकी है।

इस प्रकार स्पेंसर के अनुसार किसी भी समाज का उद्विकास सरल से जटिल अवस्था में होता रहता है जिसकी स्पष्ट पहचान बढ़ता हुआ श्रम-विभाजन तथा अंशों का विशेषीकरण है। इस बढ़ते हुए श्रम-विभाजन के होते हुए भी विभिन्न इकाइयों के बीच एक प्रकार का सम्बन्ध बना रहता है, यही कारण है कि समाज में समन्वय तथा भिन्नता दोनों साथ-साथ देखने को मिलते हैं।

आदिम समाजों के उद्विकास की धारणा को व्यक्त करते हुए मेकाइवर तथा पेज ने निम्नलिखित तीन स्तरो का उल्लेख किया है—

(अ) सामुदायिक प्रथाएँ (Communal Customs)—आदिम समाजों में प्रथाएँ ही सामाजिक व्यवहारों को नियन्त्रित करती थी। प्रथाओं का प्रयोग राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, पारिवारिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में होता था। इन्ही विभिन्न सामाजिक पहलुओं को सुचारु रूप से चलाने के लिए इन प्रथाओं का निर्माण हुआ था। सामुदायिक प्रथाओं का रूप सामाजिक उद्विकास का प्रारम्भिक रूप था।

(ब) विभेदीकृत सामुदायिक संस्थाएँ (Differentiated Communal Institutions)—सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया में विभेदीकृत सामुदायिक संस्थाओं का रूप दूसरे स्थान पर है। नई-नई समस्याओं तथा आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विभिन्न प्रकार की नई-नई संस्थाओं का प्रादुर्भाव होता है। समाज में राजनीतिक, धार्मिक, तथा आर्थिक संस्थाओं का रूप ऐसे ही विकसित हुआ है। संस्थाओं का निर्माण व्यक्तियों के विचारों से ही होता है लेकिन उसमें स्थायित्व पाया जाता है। कालान्तर में इन्हीं संस्थाओं के द्वारा व्यक्तियों का व्यवहार निर्देशित होने लगा।

(स) विभेदीकृत समितियाँ (Differentiated Associations)—यह उद्विकास की तीसरी अवस्था है। समितियाँ निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन होती हैं। यद्यपि आदिम समाजों में संस्थाओं से समितियों में विकास की अवस्था बहुत कम पायी जाती है, फिर भी विभिन्न समितियों, जैसे राज्य, परिवार, चर्च, स्कूल आदि का निर्माण हुआ। प्रत्येक विशिष्ट प्रकार के कार्य के लिए अनेक प्रकार की समितियाँ हैं।

सामाजिक उद्विकास के कारण

ऑगबर्न ने सामाजिक उद्विकास के निम्नलिखित चार कारकों का उल्लेख किया है—

(1) आविष्कार (Invention)—आविष्कारों के परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्धों मे परिवर्तन तीव्र गति से होता है। आविष्कारों का प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध उस समाज के व्यक्तियों की योग्यता, साधन तथा अन्य सांस्कृतिक कारको से है। जिस समाज मे ये जितने ही अधिक होंगे सामाजिक विकास का रूप उसी प्रकार का होगा।

(2) संचय (Accumulation)—पुराने ज्ञान के संचय के परिणामस्वरूप ही नये-नये आविष्कार सम्भव हो पाते हैं, जिनके कारण सामाजिक उद्विकास में सहायता मिलती है।

(3) प्रसार (Diffusion)—विभिन्न आविष्कारों के प्रसार के परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन तथा उद्विकास स्वाभाविक है। आविष्कारों का प्रसार जितनी तेजी से होगा उद्विकास की प्रक्रिया भी उतनी ही तेज होगी।

(4) सामंजस्य (Adjustment)—यदि समाज के विभिन्न भागों में सामंजस्य है, तो उस व्यवस्था मे उद्विकास की गति तीव्र होगी। उद्विकास की प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न सामाजिक भागों में सामंजस्य हो।

आदिम युग से आधुनिक युग तक का सामाजिक उद्विकास

मानव सभ्यता तथा समाज का क्रमिक विकास हुआ है। शुरू-शुरू में पृथ्वी का यह रूप नही था, इस पर कोई भी जीवधारी नहीं थे। धीरे-धीरे पृथ्वी इस योग्य हुई कि उस पर जीवधारियों का जीवन सम्भव हुआ। शुरू-शुरू में जो जीवधारी इस पृथ्वी पर अवतरित हुए, वे एककोशीय थे। बाद मे बहुकोशीय जीवधारियों का विकास हुआ। निम्नलिखित स्तरो में मानव सभ्यता का विकास हुआ :

(1) पुरातन प्रस्तर युग (Old Stone Age)—आदिम काल मे व्यक्ति भी जंगलो मे रहता था और शिकार के द्वारा अपना भरण-पोषण करता था। जगली जानवरो का शिकार करके उनका मांस खाता था तथा अन्य कन्द-मूल और फलो के ऊपर वह पूर्ण रूप से आश्रित रहता था। कहने का तात्पर्य यह है कि वह प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओं पर ही अपनी इच्छा की पूर्ति करता था। जिन ओजारो से व्यक्ति शिकार करता था वे पत्थर, हड्डी तथा लकड़ी के बने होते थे। भवन-कला मे वे व्यक्ति निपुण नहीं थे। रहने के लिए वे या तो गुफाओं का उपयोग करते थे या पेड़ों की छाया मे रहते थे। भोजन वे पकाकर नहीं करते थे, कच्चे मांस तथा अन्य पदार्थों को खाते थे। धीरे-धीरे पत्थर की आपसी रगड़ तथा लकड़ियों की रगड़ से उसने आग का आविष्कार किया। तत्पश्चात् पकाकर भोजन करने की प्रथा प्रारम्भ हुई।

पुरातन प्रस्तर युग के अवशेष आज भी यदा-कदा उपलब्ध हैं। उन अवशेषों से यह विदित होता है कि उस काल के व्यक्ति विभिन्न प्रकार के पत्थरों के बने औजारों का प्रयोग करते थे, जैसे तीर, फावड़ा, चाकू भाला आदि। शुरू-शुरू में इनका रूप भद्दा था परन्तु बाद में वह परिष्कृत हो गया। सभ्यता के विकास के दृष्टिकोण से यह काल बहुत ही पीछे था।

(2) नूतन प्रस्तर युग (Neolithic Age)—इस युग मे पहुँचकर व्यक्ति अब तम्बुओं का प्रयोग करने लगा था। यह तम्बू रहने के लिए बनाये जाते थे जो चमड़े के बनते थे। प्रायः अब लोग खालों में अपना शरीर भी ढका करते थे। इस युग में व्यक्ति केवल पशुओं का शिकार ही नहीं करता था बल्कि उन्हें पालने भी लगा था। वह खेती भी करने लगा तथा अन्न का उत्पादन भी शुरू कर दिया। पत्थरों के बने औजार अब अधिक परिष्कृत होने लगे। पत्थर और लकड़ी के मिले-जुले मकान भी बनने लगे। धीरे-धीरे उन स्थानों पर बस्तियों का निर्माण हुआ जिनके आस-पास चरागाह तथा खेती के योग्य भूमि थी। ऊन तथा रेशम के कपड़ों का आविष्कार भी इसी युग में हुआ। इस युग में व्यक्तियों का मुख्य पेशा खेती तथा पशुपालन था। शिकार करना गौण पेशा बन गया। खेती के लिए पत्थर के ही औजारों का प्रयोग होता था। बैलों तथा घोड़ों से हल चलाकर खेती की जाती थी। यही नहीं लकड़ी की बनी गाड़ियों को इन्हीं जानवरों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाकर सवारी की जाती थी। गाँव की बस्तियों के इर्द-गिर्द खाइयाँ खोदी जाती थीं या मोटी-मोटी दीवारें बना दी जाती थीं ताकि बाहरी लोगों और जंगली जानवरों से रक्षा हो सके। बर्तन बनाने की कला का भी विकास हुआ। कुम्हार अपने चाक से सुडौल मिट्टी के बर्तनों का निर्माण करता था। बाद में इन बर्तनों को सुखाकर आग से पकाया भी जाता था। बढ़ई, जुलाहे, आदि भी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का, जैसे, लकड़ी का सामान, और कपड़ा आदि बनाकर उसे अनाज के बदले गाँव के लोगों को दिया करते थे। चीजों की अदला-बदली; जिसे व्यापार का प्रथम चरण कहा जा सकता है, अब एक ही गाँव में सीमित न रहकर विभिन्न गाँवों के बीच होने लगा। लोग मिट्टी की मूर्तियों का निर्माण कर विभिन्न प्रकार के देवी-देवताओं की अराधना किया करते थे। जादू-टोना तथा मन्त्र आदि मे लोगों का विश्वास अधिक था।

(3) धातु युग (Metal Age)—नूतन प्रस्तर युग के बाद धातु युग का प्रादुर्भाव हुआ। इस धातु युग को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—कांस्य युग, लोह युग, और ताम्र युग। इस युग मे धातुओ का प्रयोग औजार तथा बर्तन बनाने के लिए हुआ। प्रस्तर युगों मे जो काम पत्थरों के बने औजारों से होता था, वही काम अब इस युग में धातुओं के बने औजारों से होने लगा। मिस्र, सिन्ध घाटी और चीन आदि की विकसित सभ्यताएँ इसी काल की है। इस युग में अब बड़ी-बड़ी बस्तियो तथा नगरो का निर्माण होने लगा। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो तथा वेबीलोन आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। विशाल अट्टालिकाओं का निर्माण इस युग में हुआ। मूर्ति-पूजा भी इस काल की विशेषता है। अनेक प्रकार के देवी-देवताओं का चित्र बनाकर लोग उनकी उपासना किया करते थे। लिखने की कला का भी विकास इस युग में हुआ। प्रस्तर युग की तुलना में अब व्यक्ति अधिक सुसंस्कृत तथा सभ्य हो गया था। इस युग में अपने-अपने समुदाय का क्षेत्रफल बढ़ाने की सबकी इच्छा

थी। लोग दूर-दूर स्थानों पर जाकर व्यापार करते थे। साहित्य, चिन्तन, संगीत व कला आदि के क्षेत्र में भी समुचित विकास हुआ।

(4) औद्योगिक युग (Industrial Age)—लोहा धातु ज्ञान के कारण व्यक्तियों के आर्थिक जीवन मे अधिक उन्नति हुई है। अठारहवी शती की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् समाज के उद्विकास में मूलभूत परिवर्तन हुआ। औद्योगिक युग का प्रारम्भ बड़ी-बड़ी मशीनों के आविष्कार से प्रारम्भ हुआ। अब व्यक्तियों ने बड़ी-बड़ी मशीनों का आविष्कार कर अधिक मात्रा में उत्पादन कार्य प्रारम्भ किया। व्यक्तियों के परम्परागत विचारों में परिवर्तन आया, जिसका सारा श्रेय इस औद्योगिक क्रान्ति को है। सभ्यता का विकास तेजी के साथ शुरू हुआ, यातायात तथा संचार के साधनों के क्षेत्र में अद्भुत विकास हुआ जिससे सामाजिक सम्पर्कों मे वृद्धि हुई। टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन आदि सचार के साधनो का विकास हुआ। इस युग में आर्थिक उत्पादन जैसे खेती, शिल्प या उद्योगों के लिए मशीनों का प्रयोग होने लगा। सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण अब विवेकपूर्ण होने लगा जिसका नियन्त्रण सामाजिक कानूनों द्वारा होने लगा। इस युग मे विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास के कारण क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। अब प्रत्येक चीज मे हम कार्य-कारण सम्बन्ध जानना चाहते हैं। जिसमें यह सम्बन्ध नही मिलता, हम उसको स्वीकार नही करते। आदिम समाज जितना ही सरल और परम्परावादी था, आज का औद्योगिक समाज उतना ही अधिक जटिल तथा प्रगतिवादी हो गया है। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप नगरीकरण में वृद्धि हो रही है; सामाजिक सम्बन्ध द्वैतीयक होते जा रहे हैं। अनेक प्रकार की सामाजिक समस्याएँ अवतरित हो रही है जिनका समाधान आज के इस औद्योगिक युग को एक चुनौती है।

आर्थिक जीवन में उद्विकास

आर्थिक जीवन के आधार पर हम समाज के उद्विकास को चार प्रमुख भागों में बाँट सकते हैं—

(1) फिरन्दो जीवन (Nomadic Life)—इस युग में व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को शिकार की तलाश तथा फलों के सग्रह के लिए घूमा करता था। इसे शिकार करने और भोजन एकत्र करने का काल या स्तर (hunting and food gathering stage) भी कहते हैं। यह आर्थिक जीवन का प्रथम स्तर है। एक स्थान पर उपलब्ध फलों का उपभोग करने के बाद व्यक्ति दूसरे स्थानों पर चले जाते थे ताकि वे अन्य फनों को प्राप्त कर अपना पेट पाल सकें। मनुष्य इस युग में स्थायी रूप से एक स्थान पर नही रहता था। सामाजिक जीवन की सत्ता थी, वह इसलिए कि व्यक्ति टोलियों में रहकर शिकार आदि किया करता था।

(2) चरवाहा जीवन (Pastoral Life)—इस स्तर पर पहुँच कर व्यक्ति अब जानवरों को पालने लगा। उसे यह आभास होने लगा कि यदि इन जानवरों को ठीक प्रकार से रखा गया तो वे अधिक लाभदायक होंगे। भेड़ों, बकरियों, गायों तथा घोड़ों को लोग अधिक मात्रा में पालने लगे और उनके दूध व मांस का प्रयोग भोजन के लिए करते थे तथा खालों को पहनने के काम मे लाते थे। इस काल में भी लोग अपने पशुओं के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को आया-जाया करते थे। स्थायी रूप से एक स्थान पर लोग नहीं रहते थे। अस्थायी प्रकार से वे कभी-कभी खेती कर लिया

करते थे। जंगली जानवरों तथा अन्य समूहों से रक्षा के लिए अब यह आवश्यक हो गया कि वे अधिक संगठित ढग से रहें।

(3) कृषक जीवन (Agricultural Life)—इस स्तर पर पहुँचकर लोग स्थायी रूप से खेती करने लगे। विभिन्न प्रकार के अनाजों के बारे में भी लोगों का ज्ञान बढ़ गया था। कौन-सी फसल कब बोई जाती है, इसके बारे में भी लोग जानकार हो गये थे। खेतिहर लोगों की स्थायी बस्तियाँ बस गयी थीं। लोग अदल-बदल कर वस्तुओं का आदान-प्रदान किया करते थे। सामाजिक सम्पत्ति की वृद्धि हुई। सम्पत्ति पर पूरे समूह का अधिकार होता था। किन्हीं-किन्हीं कुटीर उद्योग-धन्धों का भी विकास इस कृषक स्तर मे हुआ। बढ़ई, लोहार, कुम्हार आदि छोटी-मोटी वस्तुओं का निर्माण कर अपना जीविकोपार्जन करते थे। श्रम-विभाजन की व्यवस्था इसी स्तर में प्रारम्भ हुई।

(4) औद्योगिक जीवन (Industrial Life)—प्रौद्योगिकी में विकास तथा मशीनों की वृद्धि के कारण उत्पादन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। यह स्तर आर्थिक उद्विकास का अन्तिम चरण है। उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के कारण राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हुई है, निजी सम्पत्ति का महत्त्व भी बढ़ गया। यान्त्रिक शक्ति के विकास के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापार होने लगा है। बड़े-बड़े नगरों के स्थान पर अब औद्योगिक नगरों की बात होने लगी है। कल-कारखानों के द्वारा बड़े स्तर पर माल तैयार किया जा रहा है, और व्यक्ति अधिकाधिक सुखी होता जा रहा है। इस प्रकार आर्थिक जीवन के आधार पर समाज के उद्विकास के उपर्युक्त चरण हैं।

पारिवारिक जीवन में उद्विकास

लेविस मार्गन का मत है कि सभी परिवारों का विकास किन्हीं सुनिश्चित स्तरों से हुआ है। प्रारम्भिक काल से लेकर आधुनिक परिवार के उद्विकास के सम्पूर्ण काल को उसने पाँच भागों में विभक्त किया है :

(1) रक्त-सम्बन्धी परिवार (Consanguine Family)—यह परिवार का सबसे प्रारम्भिक रूप रहा है। एक ही पूर्वज की अनेक सन्तानें एक परिवार में रहती थीं। इस प्रकार के परिवार में एक ही रक्त से सम्बन्धित जैसे, भाई-बहन में वैवाहिक सम्बन्ध होता था। यह परिवार का अविकसित रूप कहा जा सकता है।

(2) संयुक्त अन्तर्विवाही परिवार—यह परिवार के विकास की दूसरी अवस्था है जिसमें एक परिवार के सभी भाइयों का विवाह अन्य परिवार की सभी बहनों के साथ होता था। विवाह के पश्चात् प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष की पत्नी समझी जाती थी। यह भी परिवार का एक अविकसित रूप था।

(3) अकेले युग्मों का विवाह—इस प्रकार के परिवारों में विवाह तो एक स्त्री का एक ही पुरुष के साथ होता था लेकिन दोनों को अधिकार प्राप्त था कि वे बाहर भी यौन-सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। इस स्थिति में किसी बालक का वास्तविक जनक कौन है, इसका पता लगाना कठिन हो जाता था। यह भी परिवार का वह रूप था जिसे अविकसित कहा जा सकता है।

(4) पितृ-सत्तात्मक परिवार (Patriarchal Family)—इन परिवारों में पिता या पुरुष पक्ष की प्रधानता थी। एक पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर

सकता था।

(5) एक-विवाही परिवार (Monogamous Family)—यह परिवार के विकास का अन्तिम रूप है जिसमें एक स्त्री एक पुरुष से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करती है, अथवा एक पुरुष एक स्त्री से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता है। आज के प्रजातान्त्रिक समाजों में साधारणतया परिवार का यही रूप पाया जाता है। अब तो विभिन्न सरकारों ने नियम बना दिये हैं जिनके कारण एक व्यक्ति एक समाज में एक ही पत्नी रख सकता है।

उन समाजों में जहाँ पितृ-सत्तात्मक परिवारों की प्रधानता नहीं थी, मातृ-सत्तात्मक परिवार पाये जाते थे। इस परिवार में स्त्रियों की प्रधानता होती थी। सम्पत्ति के ऊपर लड़के का अधिकार न होकर लड़कियों का अधिकार होता था। विवाह के पश्चात् लड़की लड़के के घर नहीं जाती थी अपितु लड़का ही लड़की के घर जाता था। इस प्रकार पारिवारिक आधार पर समाज का उद्विकास उपर्युक्त प्रकार से हुआ है।

धार्मिक समितियों का उद्विकास

धर्म का समाज से अटूट सम्बन्ध है। धर्म के द्वारा परम्परागत समाजों का नियन्त्रण किया जाता है। अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण की विधियों में धर्म का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मैकाइवर तथा पेज ने धर्म के उद्विकास के बारे में निम्नलिखित मत व्यक्त किया है—

(1) धार्मिक तथा अन्य सांस्कृतिक तत्त्वों का मिश्रण (The fusion of religious and other cultural elements)—धार्मिक संस्थाएँ पहले अलग-अलग न होकर एक ही में मिली हुई थीं। आदिम युग में व्यक्ति सभी घटनाओं के पीछे धर्म को ही कारण मानता था। कूसिन ब्रूहल ने लिखा है कि वस्तुएँ तथा जीव जिन रहस्यात्मक गुणों से सम्पन्न हैं वे आदिम व्यक्ति के आदर्श का अभिन्न अंश हैं। मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है कि 'प्रारम्भ में जीवन के प्रधान अवसरों—लिंग व जन्म, बसन्त तथा फागुन, मृत्यु तथा महामारी, प्रकाश व अन्धकार तथा सत्ता के अधिकार सभी के पीछे धर्म की सत्ता मानी जाती थी। प्राकृतिक नियमों की कार्यशीलता के बारे में आदिम व्यक्ति अनभिज्ञ थे। वे प्राकृतिक तथा जड़ वस्तुओं में अन्तर नहीं रख सकते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिम समाजों में प्रत्येक वस्तु पर विचार धार्मिक पृष्ठभूमि में ही किया जाता था।

(2) इन्द्रजाल तथा जादू (Cults and Magic)—धार्मिक बातों को ही सर्वोपरि बताकर उनसे सामाजिक व्यवहारों को निर्देशित किया जाता था। ऐसा लोगों का मत था कि जादू के द्वारा अनहोनी घटनाओं को भी घटित किया जा सकता है। यही धर्म के उद्विकास की दूसरी अवस्था थी। पुरोहित, वैद्य, कारीगर तथा व्याख्यानकर्त्ता आदि सभी जनसाधारण को धर्म के बारे में भ्रामक बातें बताकर अपनी तरफ आकर्षित कर लेते थे। इस प्रकार इन्द्रजाल की कला का विकास हुआ जो मिथ्या विज्ञान पर आधारित है। लोगों का यह मत था कि जादू से आँधी, तूफान, पानी, आग सभी की उत्पत्ति की जा सकती है।

(3) धार्मिक संस्थाओं का निर्माण (Formation of religious

Institutions)—यह धर्म के विकास का तीसरा स्तर था। जब व्यक्ति जीवन की विपदाओं, दुःखों, अन्याय और हिंसा का समाधान जादू-टोने से न कर सका, तभी धार्मिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। भूत-प्रेत तथा ईश्वर के बीच के अन्तर को नैतिक आदर्शों के आधार पर समझाने का श्रेय इन्ही धार्मिक संस्थाओं को है। समाज की विभिन्न आदर्शात्मक वस्तुओं को ईश्वर का प्रतीक मानकर आराधना की जाती थी। वीर पुरुषों, पितृ गुण को देवताओं की श्रेणी में रखा गया; यहाँ तक की राजाओं को भी ईश्वर की सत्ता मानकर उनकी आराधना की जाती थी। धर्म के द्वारा अब पवित्र (sacred) और अपवित्र (profane) के बीच के अन्तर को स्पष्ट किया जाने लगा। धर्म के आधार पर ही समाज में विभिन्न व्यक्तियों के कार्यों में अन्तर स्पष्ट किया गया।

(4) धार्मिक समितियों का निर्माण (Emergence of religious-associations)—धार्मिक उद्विकास का यह अन्तिम चरण है। अब प्रत्येक समूह में धार्मिक समितियों का प्रादुर्भाव हुआ। मन्दिरों, मस्जिदों, चर्चों आदि का निर्माण हुआ। राजनीतिक व्यवस्था को भी स्थिर बनाने में इन धार्मिक समितियों का हाथ होने लगा। धर्म सामाजिक नियन्त्रण का प्रमुख साधन हो गया। विभिन्न धर्मों में संघर्ष के परिणामस्वरूप अब धर्मों की अलग-अलग सत्ता अधिक प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत होने लगी। अब लोगों को धार्मिक जीवन और नैतिक शिक्षा इन्हीं धार्मिक समितियों द्वारा दी जाने लगी। इस प्रकार धर्म का उद्विकास समाज में हुआ जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्था भी प्रभावित हुई।

समाज के उद्विकास के विभिन्न स्तर

हटन तथा मॉर्गन आदि सामाजिक विचारकों ने समाज के उद्विकास के निम्नलिखित तीन स्तरों का उल्लेख किया है—

(1) जंगली अवस्था (Savage age)

- (अ) जंगली अवस्था का निम्न स्तर;
- (ब) जंगली अवस्था का मध्य स्तर; तथा
- (स) जंगली अवस्था का उच्च स्तर।

(2) बर्बरता की अवस्था (Barbarian age)

- (अ) बर्बरता की निम्न अवस्था;
- (ब) बर्बरता की मध्य अवस्था; तथा
- (स) बर्बरता की उच्च अवस्था।

(3) सभ्यता की अवस्था (Civilisation age)

- (अ) सभ्यता की निम्न अवस्था;
- (ब) सभ्यता की मध्य अवस्था; तथा
- (स) सभ्यता की उच्च अवस्था।

सामाजिक जीवन के उद्विकास का प्रथम स्तर जंगली जीवन था जिसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है—जंगली जीवन का निम्न स्तर, मध्य स्तर, और उच्च स्तर। इस अवस्था में लोग कच्चा मांस तथा कन्द-मूल खाते थे, गुफाओं तथा

वृक्षों के नीचे निवास करते थे। फिर बाद में जब उन्होंने पत्थरों की रगड़ से अग का आविष्कार किया तो मांस को भून कर खाने लगे। जानवरों की खालों के तम्बुओं का निर्माण भी अब किया जाने लगा। लोग झुंडों में रहने लगे और सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार होता था।

सामाजिक जीवन के उद्विकास की दूसरी अवस्था बर्बरता की अवस्था थी जिसे निम्न, मध्य, और उच्च इन तीन भागों में बाँटा गया। पत्थरों के तीखे हथियारों का प्रयोग खूब होने लगा था। अब लोग थोड़ी-बहुत खेती करने लगे थे। सम्पत्ति की भावना का विकास हुआ। लोग व्यापार भी करने लगे थे। पुरुष और स्त्रियाँ संयुक्त रूप से उत्पादन कार्य में भाग लेते थे। श्रम-विभाजन भी शुरू हो गया था। धातुओं का प्रयोग भी शुरू हो गया था।

सामाजिक जीवन के उद्विकास की तीसरी और अन्तिम अवस्था सभ्यता की अवस्था मानी जाती है। इसे भी तीन भागों मे बाँटा जाता है—निम्न, मध्य, और उच्च अवस्था। इस युग की विशेषता धातुयुगीन उपकरणों का परिष्कृत रूप है। अब बड़ी-बड़ी मशीनों के द्वारा उत्पादन का कार्य शुरू हुआ। समाज में श्रम-विभाजन और विशेषीकरण की महत्ता बढ़ी। समाज का व्यवस्थित रूप सामने आया। समाज में सामाजिक स्थायित्व के लिए औपचारिक तथा अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के साधनों का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार आज के इस समाज का उद्विकास हुआ।

हम देखते हैं कि सामाजिक उद्विकास के परिणामस्वरूप कुछ नवीनता उत्पन्न होती है। प्रत्येक नयी अवस्था पर उसके पहले की अवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। लेकिन इस उद्विकास के परिणामस्वरूप समाज आगे ही बढ़ेगा, इसकी निश्चितता के बारे में सब एकमत नहीं हैं। कभी-कभी इस उद्विकास के परिणामस्वरूप समाज उच्च अवस्था को प्राप्त करता है और कभी-कभी वह निम्न अवस्था की ओर भी जा सकता है। मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है कि समाज के उद्विकास का यह आश्वासन नहीं कि समाज आगे ही बढ़ेगा, और वह आदिम व्यवस्था की ओर कभी नहीं लौटेगा। विकास-विरोधी तत्त्व उद्विकास प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं।[1] उद्विकास का रूप और दिशा जो कुछ भी हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उद्विकास के परिणामस्वरूप किसी भी व्यवस्था मे विविधता और जटिलता अवश्य आती है। सामाजिक उद्विकास के लिए बढ़ती हुई आवश्यकताओं और इच्छाओं की महत्ता अधिक है।

समालोचना

सामाजिक उद्विकास की क्रमबद्ध व्याख्या विभिन्न समाजशास्त्रियों ने की है यद्यपि यह बात सही है कि उद्विकास आन्तरिक शक्तियों के कारण होता है, फिर भी इसके लिए कुछ अन्य कारक भी हो सकते हैं, इस पर दृष्टिपात करना चाहिए।

(1) मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है कि जिस प्रकार प्राणियों का उद्विकास होता है, उसी प्रकार सामाजिक उद्विकास भी होता है। लेकिन यह मत ठीक

[1] 'The fact that Society has evolved is, of course, no guarantee that this evolution will proceed further or even that the reverse process of a return to primitivism will not set in. We have pointed out that anti-evolutionary forces always resist the evolutionary trend.' —MacIver and Page, *op. cit.*, 603.

नहीं है। प्राणियों की आन्तरिक शक्ति और समाज की आन्तरिक शक्ति में महान् अन्तर है। सामाजिक उद्विकास के लिए बाह्य कारकों के महत्त्व को टाला नहीं जा सकता, जैसा कि मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है। जैसे-जैसे सभ्यता बढ़ती जा रही है अथवा अन्य शब्दों में, उद्विकास के परिणामस्वरूप उच्च अवस्थाएँ आती जा रही हैं, वैसे-वैसे बाह्य कारकों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। अतः यह कहना उचित नहीं कि समाज का उद्विकास केवल आन्तरिक शक्तियों से ही होता है।

(2) गोल्डेनवाइजर का कहना है कि संस्कृति मे होने वाले प्रसार और परिवर्तन के कारण समाज में परिवर्तन होता है, अतः समाज मे होने वाले संशोधनों को उद्विकासीय सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट नही किया जा सकता।

(3) जिसबर्ग ने लिखा है कि विभिन्न समाजशास्त्रियों का यह मत है कि उद्विकास के परिणामस्वरूप समाज सरल से जटिल होता जा रहा है, ठीक नहीं। उद्विकास केवल जटिलता के लिए होता है, यह कहना उपयुक्त नही।

(4) प्रत्येक प्रकार के समाज का उद्विकास किन्ही निश्चित स्तरों से हुआ है, ऐसा उद्विकासीय सिद्धान्तकारों का मत है। यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो विभिन्न प्रकार के समाजों में कोई भिन्नता नही होनी चाहिए। लेकिन हम देखते हैं कि विभिन्न समाजों में महान् अन्तर है। अतः इस आधार पर भी यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(5) उद्विकास का सिद्धान्त स्वयं एक भ्रामक धारणा है। यदि उचित दशाएँ न प्राप्त हों तो आन्तरिक शक्ति रहते हुए भी परिवर्तन नही हो सकता।

उद्विकास तथा प्रगति में अन्तर

सभी परिवर्तन प्रगतिशील नहीं होते। परिवर्तन के परिणामस्वरूप उद्विकास, प्रगति तथा क्रान्ति सभी होते हैं। उद्विकास तथा प्रगति में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, अतः इनके अन्तरों को स्पष्ट करना आवश्यक है—

उद्विकास	प्रगति
1. उद्विकास इस प्रकार का परिवर्तन है जिसमें किसी भी दशा का बोध हो सकता है। एक जीवधारी, छोटा, मोटा या बड़ा होगा, तब तक तय नही किया जा सकता जब तक कि उसका सम्पूर्ण उद्विकास नहीं हो जाता।	प्रगति भी एक प्रकार के परिवर्तन को व्यक्त करती है, लेकिन यह परिवर्तन किसी एक निश्चित, पूर्व-निर्धारित दिशा में होता है। प्रगति की यह दिशा हमेशा ही निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर होती है।
2. उद्विकास मुख्यतया आन्तरिक शक्ति के कारण होता है। बाह्य शक्ति के प्रभाव का उद्विकास के लिए कम महत्त्व है। यदि बीज को मिट्टी मे डाल दिया गया है तो उसका उद्विकास निश्चित है इस प्रकार अन्य जीवधारियों का भी उद्विकास होता है साधारणतया उद्विकास जैविक परिवर्तनों को स्पष्ट करता है।	प्रगति के लिए बाह्य शक्ति अत्यन्त आवश्यक है बिना बाह्य कारकों की सहायता के किसी भी समाज की प्रगति सम्भव नहीं।

3. उद्विकास का 'नैतिकता' से कोई सम्बन्ध नहीं है। उद्विकास में परिवर्तन किसी भी तरह का हो सकता है। केवल उद्विकास के कारण उस प्राणी के अंग-प्रत्यंग स्पष्ट हो जाते हैं।	प्रगति एक नैतिक धारणा है। क्या प्रगति है और क्या अवनति, इसकी कोई निश्चित धारणा नहीं है। एक ही स्थान पर विभिन्न समयों पर प्रगति की अव धारणा विभिन्न प्रकार की हो सकती है
4. उद्विकास तथा सामाजिक मूल्यों का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है।	प्रगति सामाजिक मूल्यों पर आधारित होती है। किसी समाज के सामाजिक मूल्य जिस वस्तु को अच्छा समझते हैं या जिस व्यवहार को अच्छा समझते हैं उसकी प्राप्ति ही प्रगति है। यही कारण है कि प्रगति की धारणा विभिन्न समाजों में अलग-अलग प्रकार की है।
5. उद्विकास की अवधारणा सार्वभौमिक (universal) है।	प्रगति की धारणा सार्वभौमिक न होकर एक समाज से दूसरे समाज में तथा एक ही समाज के विभिन्न कालों में बदलती रहती है।
6. उद्विकास का क्षेत्र विस्तृत है। इसमें प्राणी की वृद्धि किसी हद तक हो सकती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि आन्तरिक शक्ति का इस उद्विकास में हाथ होता है।	प्रगति का क्षेत्र चूंकि निश्चित होता है, यही कारण है कि यह सीमित होता है।
7. उद्विकास एक व्यक्ति तथा एक जीवधारी का हो सकता है।	प्रगति की माप साधारणतया पूरे समूह को दृष्टि में रखकर की जाती है।
8. उद्विकास की प्रक्रिया धीरे-धीरे कार्यरत रहती है।	प्रगति की चाल को इच्छानुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है।
9. उद्विकास का मनोवैज्ञानिक पहलू से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।	प्रगति का सम्बन्ध व्यक्तियों के मनोवैज्ञानिक पहलू से भी होता है। व्यक्ति को यह अनुभव करना चाहिए कि वह तथा उसका समाज प्रगति कर रहा है।
10. उद्विकास से परिवर्तन के पश्चात् वस्तु की अवस्था सरल से जटिल हो जाती है।	प्रगति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि स्थिति जटिल ही हो। एक ही अवस्था में प्रगति हो सकती है। प्रगति का सम्बन्ध अच्छाई (betterment) से है।

तीसरा अध्याय

सामाजिक प्रगति तथा विकास

समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर कार्यशील है। कुछ परिवर्तन समाज के कल्याण के लिए होते हैं; तथा कुछ परिवर्तन समाज में इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं, जिसे हम विघटन की संज्ञा देते हैं। जब परिवर्तन इच्छित दिशा में होता है जिसे हम कल्याणकारी समझते हैं तो उसे सामाजिक प्रगति कहते हैं। अतः हम देखते हैं कि प्रगति के लिए एक सुनिश्चित लक्ष्य निर्धारित होता है। इस लक्ष्य का निर्धारण सामाजिक मूल्यों के अनुरूप होता है और इसका रूप आदर्शात्मक होता है। किसी निर्धारित लक्ष्य तथा आदर्श की ओर बढ़ने के लिए समाज में जो क्रमिक उन्नति होती है, उसे प्रगति कहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि हम जिस वस्तु या लक्ष्य की प्राप्ति को प्रगति समझें, वही अन्य समाजों के लिए भी प्रगति होगी। एक दिशा में आगे बढ़ने को अगर कोई समाज प्रगति समझता है तो दूसरा समाज उसे अवनति समझ सकता है। प्रगति में सामाजिक परिवर्तन की दिशा का ही बोध नहीं होता, बल्कि उस दिशा की निश्चितता का भी बोध होता है। एक ही समाज में जो सामाजिक परिवर्तन किसी समय में प्रगति का सूचक था, वह अब प्रगति का सूचक नहीं हो सकता। जैसे-जैसे हमारे मूल्यों में परिवर्तन होता जाता है उसी प्रकार प्रगति की अवधारणा भी बदलती जाती है। भारतीय समाज में ही वैदिक काल में उन समूहों को प्रगतिशील माना जाता था जो धार्मिक कृत्यों तथा कर्मकाण्डों में आगे थे। आज यह धारणा बिल्कुल बदली हुई है। आज हम उस समूह को प्रगतिशील मानते हैं जिसमें इन धार्मिक कर्मकाण्डों के बारे में बिल्कुल रुचि न हो। पश्चिमी समाजों में उस व्यक्ति को प्रगतिशील कहा जाता है जो शराब का सेवन करता है, नाचघरों में जाता है, तथा इसी प्रकार के अन्य कार्यों को करता है। भारतीय समाज में शराब पीने वाले व्यक्ति को हम निकृष्ट व्यक्ति मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न समाजों में प्रगति का माप-दण्ड विभिन्न प्रकार का है। यहाँ तक कि एक ही समाज के विभिन्न कालों में प्रगति की अवधारणा बदला करती है। सामाजिक मान्यता प्राप्त सामाजिक मूल्य ही यह तय करेंगे कि प्रगति क्या है और अवनति क्या है। इसके अतिरिक्त, प्रगति की दिशा क्या होगी, इसका निर्धारण भी इन्हीं सामाजिक मूल्यों से होगा।

आज से कुछ वर्ष पहले भारतीय समाज में भौतिक संस्कृति में वृद्धि जैसे, मोटर, रेल, वायुयान, तथा अन्य सुख-सुविधा की वस्तुओं को प्रगति का सूचक इसलिए नहीं माना जाता था क्योंकि इसके कारण व्यक्तियों में भोग-विलास की प्रवृत्ति बढ़ती है, और वे धर्म तथा अध्यात्म के उच्च आदर्शों से दूर हटते जाते हैं। लेकिन आज यह धारणा नहीं है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के विकास ने हमारे

सामाजिक मूल्यों को प्रभावित किया है। इसके परिणामस्वरूप आज हम उन्हीं चीजों को अच्छा समझने लगे हैं जो विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की देन है तथा जिनसे भौतिक संस्कृति में विकास होता है।

सबसे जटिल समस्या मानव मूल्यों के निर्धारण की है। मूल्य प्रमुखतः मानसिक पहलू से सम्बन्धित होते हैं। चूंकि सभी व्यक्तियों की मानसिक भावनाएं एक-जैसी नहीं होतीं, यही कारण है कि हम किसी सर्वमान्य सामाजिक मूल्य का विकास भी नहीं कर पाते। एक समूह किसी एक ढंग से मूल्यांकन करता है, तो दूसरा समूह उसका मूल्यांकन दूसरे ढंग से करता है। जिस जन-समूह के जैसे विश्वास, विचार, आदर्श, आचरण तथा व्यवहार होंगे उसी के अनुसार वे मूल्यांकन कार्य करेंगे। हिन्दू धर्म में हिंसा को स्थान नहीं है। इस्लाम धर्म में बलि देना एक धार्मिक कृत्य है, और जो जितना ही अधिक इस कृत्य में आगे होगा उसे स्वर्ग का द्वार उतनी ही सरलता से खुला मिलेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक जन-समूह के अपने-अपने विचार तथा आदर्श होते हैं, जिनमें विरोधाभास होता है। एक जन-समूह जिस कृत्य या व्यवहार को प्रगति मानता है, दूसरा जन-समूह उसी कृत्य को अवनति मानता है। पश्चिमी देश, जैसे—अमरीका और इंग्लैण्ड, आदि पूंजीवाद को ही सामाजिक प्रगति का चरम बिन्दु मानते हैं जबकि साम्यवादी देश पूंजीवाद को एक हीन, संघर्षपूर्ण तथा समाजविरोधी व्यवस्था मानते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि समाज में कोई ऐसा मापदण्ड नहीं है, जिससे यह निश्चित रूप से कहा जा सके कि कोई समाज प्रगति कर रहा है, अथवा नहीं। कुछ विचारकों का कहना है कि हम उस व्यवस्था को प्रगतिशील व्यवस्था कहेंगे जिसमें व्यक्ति सामाजिक न्याय प्राप्त करता है, और अधिकांश व्यक्ति सुखी है। सभी व्यक्तियों को, अपने भौतिक, आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक विकास करने का उचित अवसर प्राप्त हो। विषमता तथा वर्ग-संघर्ष का अन्त होकर वर्गहीन समाज की स्थापना हो। विज्ञान के आविष्कारों का प्रयोग शान्ति के लिए हो। परमाणु शक्ति का विकास आर्थिक तथा सामाजिक समृद्धता के लिए किया जाय। कुछ विचारकों का यह मत है कि सामाजिक समता और वर्गहीन समाज की धारणा को स्वीकार करना प्रगति के मार्ग में एक बाधा उपस्थित करना है। उन लोगों के अनुसार विशेषीकरण जो आधुनिक समाज की प्रगति का चरम बिन्दु है, उसकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब समाज में श्रम-विभाजन होगा। श्रम-विभाजन के लिए आवश्यक है कि विभिन्न वर्गों को विभिन्न प्रकार का कार्य दिया जाय, और इस प्रकार समाज में विभिन्नीकरण की व्यवस्था को कायम रखा जाय। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रगति के बारे में एक धारणा नहीं पायी जाती है।

प्रगति की परिभाषा

अभी हमने देखा कि जब सामाजिक परिवर्तन किसी निश्चित दिशा में होता है तो उसे हम प्रगति कहते हैं। अब हम यहां कुछ समाजशास्त्रियों के मतों को प्रस्तुत करते हैं—

मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है कि 'प्रगति में सामाजिक परिवर्तन की दिशा का ही बोध नहीं होता, वरन् किसी अन्तिम उद्देश्य की ओर ले जाने वाली दिशा का

भी बोध होता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रगति परिवर्तन के साथ-साथ किसी इच्छित दिशा का भी पथ-प्रदर्शन करती है, और परिवर्तन के साधनों को बाध्य करती है कि वे उसी इच्छित दिशा में ही परिवर्तन के क्रम को जारी रखें। उद्विकास और प्रगति की धारणाएँ अलग-अलग हैं। उद्विकास में भी दिशा का बोध होता है लेकिन उसमें किसी निश्चित दिशा का बोध नहीं होता है, परिवर्तन की गति कुछ भी हो सकती है। लेकिन प्रगति में परिवर्तन के लिए एक निश्चित दिशा का बोध होता है। प्रगति में दिशा का निर्धारण मूल्यांकन पर आधारित है। पिछले दो हजार वर्षों में निरन्तर समाज का उद्विकास हुआ है, लेकिन इसे प्रगति नहीं मान सकते। इसमें से कुछ परिवर्तन प्रगति के लिए रहा होगा तथा कुछ परिवर्तन समाज मे कभी अवनति भी लाया होगा।

ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने लिखा है कि 'प्रगति का अर्थ श्रेष्ठतर परिवर्तन से है, और इसलिए इसमें मूल्य निर्णय का समावेश होता है।'[2] इस परिभाषा से हम देखते हैं कि परिवर्तन की श्रेष्ठता पर बल दिया गया है। मूल्य-निर्धारण के द्वारा ही यह तय किया जाता है कि परिवर्तन श्रेष्ठ है अथवा नहीं। जैसे, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने अपने सामने यह उद्देश्य रखा कि 'समाज मे समाजवादी व्यवस्था' कायम की जायेगी। अब यदि समाज इस दिशा में बढ़ता है जिससे कि वह समाजवादी समाज की स्थापना कर सके, तो हम कहेंगे कि समाज में प्रगति हो रही है।

हॉबहाउस के अनुसार, 'सामाजिक प्रगति से तात्पर्य सामाजिक जीवन में उन गुणों की वृद्धि से है जिन्हें मनुष्य मूल्यों अथवा विचारयुक्त मूल्यों से जोड़ सकें।'[3] इस प्रकार इनके अनुसार प्रगति से तात्पर्य सामाजिक गुणों में वृद्धि से है।

लम्ले के अनुसार, 'प्रगति परिवर्तन है, लेकिन यह परिवर्तन किसी एक इच्छित दिशा मे होने वाला परिवर्तन है, किसी भी दिशा में होने वाला परिवर्तन नहीं।'[4] इस परिभाषा में मुख्य रूप से दिशा की महत्ता पर बल दिया गया है। परिवर्तन का रुख किसी इधर-उधर की तरफ न होकर निश्चित दिशा में ही होना चाहिए। लेस्टर वार्ड ने कहा है कि 'प्रगति वह धारणा है जो मानवीय प्रसन्नता में वृद्धि करती है।'

जिन्सबर्ग के अनुसार, 'प्रगति का तात्पर्य उस विकास तथा वृद्धि से है जिसका निर्धारण मूल्यों से होता है।'[5] जिसबर्ट ने लिखा है कि प्रगति दो तत्त्वों पर आधारित है—प्रथम, साध्य की प्रकृति; और द्वितीय, समाज तथा उस साध्य के बीच की दूरी।

उपर्युक्त मतों को देखने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रगति की धारणा सामाजिक मूल्यों पर आधारित है। दो समाजों में कौन-सा समाज प्रगति

[1] 'When we speak of progress we imply not merely direction but direction toward some final goal, some destination determined ideally, not simply by the objective consideration of the forces at work.'

[2] 'Progress means change for the better and hence must imply a value judgment.'

[3] 'By social progress (I mean) the growth of social life in respect of those qualities to which human beings can attach or can rationally attach value.' —*Social Evolution and Political Theory*, 8.

[4] 'It is a change; but it changes in a desired approved direction, not in any direction.' —*Principles of Sociology*, 387.

[5] 'A development or evolution in a direction which satisfies rational criteria of value.' —*The Idea of Progress*, 47.

कर रहा या उनमें से कौन अधिक प्रगति कर रहा है, यह उन समाजों के इतिहास संस्थाओं तथा समाजों के मनोवैज्ञानिक पहलुओं के अध्ययन के पश्चात् तय किया जा सकता है। गाँव का एक परम्परावादी व्यक्ति समाज के पहले की सामाजिक व्यवस्था को श्रेयस्कर मानता है, जबकि आधुनिक नगरों का व्यक्ति उसे निरर्थक कहकर टाल देता है, और आधुनिक सामाजिक व्यवस्था को ही श्रेयस्कर समझता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल्यों का प्रमाणिक माप नहीं है। किसी भी समाज के मूल्यों का निर्धारण उसकी संस्कृति से होता है। इसके अतिरिक्त मूल्यों के निर्धारण में व्यक्तियों का वैयक्तिक निर्णय भी प्रमुख स्थान रखता है। भारतवर्ष में ही महात्मा गांधी तथा उनके समर्थक अहिंसा को उचित मानते थे जबकि सुभाषचन्द्र बोस हिंसा को भी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उचित मानते थे। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि एक ही समाज में विभिन्न व्यक्तियों तथा विभिन्न समूहों के मूल्य एक जैसे होंगे।

स्थान तथा समय के साथ-साथ इन मूल्यों में परिवर्तन भी स्वाभाविक है। वैसे प्रगति की धारणा प्रत्येक समाज में प्रचलित रही है प्राचीन काल में भारत में प्रगति का अर्थ व्यक्तियों के आध्यात्मिक तथा नैतिक पहलू के विकास से था। प्लेटो तथा अरस्तू प्रगति से तात्पर्य समाज की उस व्यवस्था से मानते हैं जिसमें प्रत्येक संस्था मानव जीवन के प्रत्येक पहलू के विकास के लिए संलग्न है। सभी व्यक्ति तथा समाज की सभी संस्थाएँ अच्छे सामाजिक जीवन के लिए प्रयत्नशील थीं। आजकल आधुनिक समाजों में प्रगति से तात्पर्य संस्कृति के दोनों पहलुओं भौतिक तथा अभौतिक, में समुचित तथा समन्वयात्मक विकास से है।

सामाजिक प्रगति की विशेषताएँ

विभिन्न समाजशास्त्रियों के मतों के अनुसार जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, सामाजिक प्रगति की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(1) **सामाजिक प्रगति मूल्यों पर आधारित है**—विभिन्न समाजों में विभिन्न प्रकार के सामाजिक मूल्य होते है यही कारण है कि सामाजिक प्राप्ति का स्वरूप भी बदला करता है।

(2) **प्रगति इच्छित उद्विकास है**—प्रगति से तात्पर्य ऐसे परिवर्तन से है जो इच्छित दिशा में होता है। उद्विकास के अन्तर्गत भी परिवर्तन होता रहता है, उसमें दिशा भी होती है लेकिन यह दिशा किसी निश्चित उद्देश्य की तरफ नहीं होती है। प्रगति में परिवर्तन की दिशा निश्चित तथा पूर्वनिर्धारित होती है।

(3) **प्रगति की अवधारणा तुलनात्मक है**—जब हम एक दी हुई अवस्था से अन्य विकसित अवस्था को प्राप्त करते हैं, तो उसे प्रगति कहते हैं। प्रगति की धारणा हमेशा ही तुलनात्मक होती है। हम एक समाज से दूसरे समाज की तुलना करके यह निर्धारित करते हैं कि कौनसा समाज अधिक प्रगतिशील है। किसी-किसी समाज में अभौतिक संस्कृति की प्रधानता होती है तो किसी-किसी समाज में भौतिक संस्कृति की। इन विभिन्न संस्कृतियो के अपने-अपने मापदण्ड हैं जिनके आधार पर प्रगति को व्यक्त किया जाता है।

(4) **प्रगति सामूहिक जीवन को व्यक्त करती है**—इसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष के विकास से नहीं है, बल्कि परिवर्तन इस प्रकार का हो जिससे कि सामूहिक प्रगति हो। समाज के अधिकांश व्यक्ति इच्छित उद्देश्य की प्राप्ति कर सकें,

तो हम कहेंगे कि प्रगति हो रही है।

(5) प्रगति व्यक्तियों के प्रयत्नों पर आश्रित है—प्रगति अपने आप नहीं हो जाती बल्कि समाज के सभी व्यक्ति जब इच्छित लक्ष्य की ओर साथ-साथ प्रयत्न करते हैं तभी सामाजिक प्रगति सम्भव हो पाती है।

(6) प्रगति मानव समाज तक ही सीमित है—चूँकि प्रगति का निर्धारण मूल्यों द्वारा होता है और ये मूल्य केवल मानव समाज में ही पाये जाते हैं। यही कारण है कि प्रगति की अवधारणा भी केवल मानव तक ही सीमित है। अन्य जीवधारियों के कोई उद्देश्य नहीं होते जिनके लिए वे प्रयत्नशील रहते हों।

(7) प्रगति दो तथ्यों पर आधारित है—प्रथम, साध्य की प्रकृति; और द्वितीय, उसके तथा प्रस्तुत अवस्था के बीच की दूरी।

मानव इतिहास में प्रगति का स्थान

विकासवादी समाजशास्त्रियों जैसे, कोम्ट, स्पेन्सर तथा वार्ड आदि ने अपने सिद्धान्तों में प्रगति की बात कही है। कोम्ट का यह मत था कि सामाजिक गति-विज्ञान जिस वस्तु का अध्ययन करता है, उसमें प्रगति का विचार सन्निहित होता है। कोम्ट के अनुसार, बौद्धिक तथा नैतिक गुणों का विकास प्रगति का मूल मन्त्र है। जब एक ही अवस्था बहुत दिनों तक बनी रहती है जिसमें अधिकांश लोग निष्क्रिय होते हैं, और इस व्यवस्था में ऊब कर जब एक प्रतिक्रिया होती है तो उसके परिणाम स्वरूप प्रगति होती है। मनुष्य की भौतिक अवस्था में विकास मात्र से ही हम प्रगति के बारे मे निर्णय नही ले सकते। मानव का बौद्धिक तथा नैतिक विकास प्रगति के लिए आवश्यक है। प्रगति केवल व्यक्तिगत हित या स्वार्थ को ही ध्यान में नही रखती, बल्कि इसके अन्तर्गत समाज के हित का भी ध्यान रखा जाता है। जब तक पदार्थवाद अहंवाद पर विजय प्राप्त नहीं कर लेता तब तक प्रगति के बारे में सोचा नही जा सकता। कोम्ट इस विचार को मानते थे कि प्रगति अवश्यम्भावी है। मानव प्रगति सर्वोपरि है, इसमें मनुष्य केवल साधनमात्र है।" जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर ग्रहों की परिक्रमा पर प्रतिबन्ध नहीं है, उसी प्रकार प्रगति एक ऐसा स्रोत है जिसका सम्बन्ध मनुष्य से तो है परन्तु फिर भी वह उनके नियन्त्रण के बाहर है। लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नही कि बिना मानव प्रयत्न तथा इच्छा के भी प्रगति सम्भव है।

कौन सी वस्तु इच्छित या वांछित है, इसी का सम्बन्ध प्रगति से है। इस प्रकार की मनोवृत्ति की कभी भी कमी नहीं रही है। हम अपने प्रत्येक कार्य के पीछे कल्याण की भावना को पाते हैं। बिना इसके कोई भी व्यक्ति जीवित नही रह सकता। मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है कि 'जीने का अर्थ कार्य करना है, कार्य करना वरण है और वरण का अर्थ मूल्यांकन करना है। अतएव मानव प्राणी होने के कारण हम प्रगति की धारणा से अलग नहीं रह सकते; यद्यपि हमे अधिकार है कि प्रगति की धारणा को स्वीकार न करें।' सामाजिक प्रगति की धारणा विभिन्न समाजो के प्रत्येक काल में रही है। लेकिन कुछ लोग इसे आधुनिक समय की देन मानते है। वास्तविकता तो यह है कि प्रगति की अवधारणा भी उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव-जीवन। हाँ, यह बात अवश्य है कि जब हम प्रगति या अवनति की बात करते हैं, तो उसकी इस काल से तुलना करते है। केवल आधुनिकता को ही

प्रगति का अन्तिम माप नहीं माना जा सकता। जो रूढ़िवादी हैं वे आधुनिकता में प्रगति नहीं मानते, और जो प्रगतिशील हैं वे परम्परागत विचारों को ठीक नहीं मानते।

चूंकि प्रगति के बारे में कोई स्पष्ट धारणा नहीं है अतः यह विचार उठता है कि आखिर समाजशास्त्र में इस पर विचार होना चाहिए अथवा नहीं। वैज्ञानिक अध्ययन के लिए आवश्यक है कि मूल्यांकन अध्ययन (value judgement) से दूर रहा जाय, जबकि प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ मूल्यांकन किया जाय। सही बात तो यह है कि बिना मूल्यांकन के प्रगति की अवधारणा पर विचार नहीं किया जा सकता। मैक्स वेबर जैसे विचारकों का मत था कि समाजशास्त्र को अपने अध्ययन के अन्तर्गत मूल्यों को नहीं आने देना चाहिए। फिर भी चूंकि मानव मूल्य तथ्य हैं और इन्हीं सामाजिक तथ्यों का अध्ययन समाजशास्त्र में होता है अतः मूल्यों को भी पृथक् नहीं किया जा सकता। केवल इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे मूल्य हमारे अन्य अध्ययनों को अनायास ही प्रभावित न करें।

प्रगति के प्रकार

उपर्युक्त परिभाषाओं में स्पष्ट किया गया है कि प्रगति वह परिवर्तन है जिससे इच्छित उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव हो पाती है। क्या यह इच्छित उद्देश्य कोई ऐसी स्थिति या वस्तु होती जिसका अनुभव समाज के लोगों ने पहले कभी नहीं किया? अथवा यह अच्छी कही जाने वाली परम्परागत स्थितियों तथा वस्तुओं की प्राप्तिमात्र है? इन शंकाओं के समाधान के लिए हम प्रगति के प्रकार पर विचार करते हैं।

लेसली स्क्लेयर ने लिखा है, 'प्रगति स्थायी अथवा अस्थायी वह स्थिति है जहाँ सामाजिक क्रिया न्यूनाधिक अंशों में मानवीय समस्याओं का समाधान करने में समर्थ होती है।'[1] मानवीय समस्याओं का समाधान या तो उस अवस्था की कमियों को दूर करने से होगा जिसके कारण समस्या अवतरित हुई है अथवा किसी ऐसी परिस्थिति को जन्म देने से जो वर्तमान परिस्थिति से बहुत श्रेष्ठ हो।

प्रगति जो समाज के लिए सदैव उचित बतलायी जाती है—उसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) नवीनीकृत प्रगति (Innovational Progress) इसके अन्तर्गत प्रगति के उन तत्वों को सम्मिलित किया जाता है जो समाज के लिए नये हैं। साधारणतया विकसित राष्ट्र ऐसे ही तत्वों के माध्यम से अपने समाज में प्रगति करते हैं। इस प्रकार की प्रगति से तात्पर्य समाज में उन नये विचारों, प्रक्रियाओं तथा वस्तुओं के प्रतिस्थापन से है जिनका समाज पर अधिकतम प्रभाव पड़ रहा हो। साधारणतया ये विचार, प्रक्रियाएँ तथा वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनकी जानकारी समाज को इसके पहले नहीं रहती है। इसलिए कुछ विचारकों ने इसे 'खोज' या 'ईजाद' से भी सम्बोधित किया। अब 'स्थिर' तथा 'परम्परागत' देश भी इस प्रकार से प्रगति के लिए प्रयत्नशील हैं। भारतवर्ष में नियोजन के माध्यम से जिस प्रगति की कल्पना की जा रही है उसे इसी प्रकार में रखा जा सकता है, क्योंकि नियोजन उन तत्वों के माध्यम

[1] 'Progress in the end point, temporary or permanent, of any social action that leads from a less to a more satisfactory solution of the problems of man in society.' —Leslie Sklair, *The Sociology of Progress*, xiv.

से इच्छित परिवर्तन कर रहा है जिसे पहले यहाँ या तो जाना नहीं जाता था या उसे लोग स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते थे।

(2) व्यवहारगत प्रगति (Non-innovational Progress)—प्रगति के इस प्रकार के अन्तर्गत साधारणतया उन तत्त्वों को सम्मिलित किया जाता है जिसे लोग पहले से जानते हैं और जिसका मानव समाज पर प्रभावकारी प्रभाव पड़ रहा हो। साधारणतया परम्परागत तथा स्थिर समाजों में जो प्रगति के कार्य-क्रम चलते हैं उन्हें इसी प्रकार के अन्तर्गत रखा जाता है। व्यवहारगत प्रगति उस प्रगति को कहते हैं जो वर्तमान वस्तुओं, विचारों अथवा प्रक्रियाओं के प्रभाव के कारण प्राप्त होता है। विचार तथा प्रक्रियाएँ यद्यपि पुरानी होती हैं फिर भी उनका प्रभाव समाज पर प्रभावकारी पड़ता है। कभी-कभी ऐसा देखने को मिलता है कि जिस उद्देश्य की पूर्ति नवीनीकृत प्रगति से नहीं हो पाती उसे भी इसी प्रकार की प्रगति के तत्त्वों से प्राप्त किया जाता है।

सुधारात्मक तथा क्रान्तिकारी प्रगति

सामाजिक व्यवस्था में सुधारमात्र के बाद जो प्रगति प्राप्त होती है उसे सुधारात्मक प्रगति तथा सामाजिक व्यवस्था में मूलभूत या क्रान्तिकारी परिवर्तन के बाद जो प्रगति प्राप्त होती है उसे क्रान्तिकारी प्रगति कहते हैं। दोनों ही प्रकारों के दो अग्रणी विचारकों अगस्त कोम्ट तथा कार्ल मार्क्स के विचारों का हम यहाँ संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे। कोम्ट ने जो प्रगति की अवधारणा व्यक्त की है उसमें उन्होंने सामाजिक व्यवस्था में सुधार पर बल दिया है जबकि मार्क्स उस सामाजिक व्यवस्था को समूल रूप से उखाड़ फेंकने पर विशेष बल देते हैं।

सुधारात्मक प्रगति को व्यवस्था द्वारा प्रगति (Progress through order) और क्रान्तिकारी प्रगति को क्रान्ति के द्वारा प्रगति (Progress through revolution) भी कहा जाता है।

सुधारात्मक प्रगति (अगस्त कोम्ट)—कोम्ट की प्रगति सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्यों पर आश्रित होते हुए भी एक नयी व्यवस्था को प्रदान करने में समर्थ है। इसका यह तात्पर्य कभी नहीं कि इस नई अवस्था तथा पुरानी व्यवस्था में कोई सम्बन्ध नहीं होगा बल्कि इसके विपरीत दोनों आपस में सहसम्बन्धित होंगे। नयी व्यवस्था, जिसको प्रगतिशील व्यवस्था कहा गया है, की प्राप्ति पुरानी व्यवस्था में धीरे-धीरे परिवर्तन तथा संशोधन के द्वारा सम्भव होती है। यह परिवर्तन अथवा संशोधन एक इच्छित दिशा में होता है। कोम्ट द्वारा वर्णित औद्योगिक समाज की स्थिति ही प्रगतिशील समाज है जिसे प्राप्त करने के लिए पुरानी व्यवस्था अनिवार्य है। कोम्ट ने समाज के विकास के तीन स्तर धार्मिक (theological), तात्त्विक (metaphysical) तथा वैज्ञानिक (positive) का उल्लेख किया है। औद्योगिक समाज वैज्ञानिक स्तर पर सम्भव है और वही अवस्था किसी समाज के लिए प्रगति का सूचक होगा। कोम्ट के अनुसार भौतिक उद्देश्यों की पूर्तिमात्र ही प्रगति का द्योतक नहीं हो सकता। उनके अनुसार प्रेमभाव या सौहार्द (affection), विचार-परिवर्तन (feeling) तथा नैतिकता का सम्बन्ध प्रगति से अधिक है। प्रगति के लिए स्वतन्त्रता (liberty) तथा मानवीय शक्ति (human powers) में विकास आवश्यक है। कोम्ट का मत है कि जब प्रगतिशील सामाजिक व्यवस्था (वैज्ञानिक स्तर या

औद्योगिक समाज) प्राप्त हो जाती है तब सिद्धान्त (theory) तथा व्यवहार (practice) दोनों ही विकास करते हैं। कोम्ट ने दो प्रकार की प्रगति का उल्लेख करते हुए दोनों को समाज के लिए आवश्यक बतलाया है। कोम्ट द्वारा वर्णित प्रगति के प्रकार निम्नलिखित हैं—

(1) नैतिक प्रगति (moral progress)

(2) भौतिक प्रगति (material progress)

प्रगति के दोनों प्रकार आपस में सहसम्बन्धित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोम्ट सुधारात्मक प्रगति को उचित बतलाते हैं जिसमें व्यवस्था में सुधार द्वारा प्रगति की बात कही गयी है।

क्रान्तिकारी प्रगति (कार्ल मार्क्स)—मार्क्स क्रान्ति के माध्यम से सामाजिक प्रगति की बात को स्वीकार करते हैं। यह क्रान्ति समाज में उस वर्ग द्वारा की जायेगी जो शोषित हैं। वर्गविहीन समाज की स्थापना ही वास्तविक सामाजिक प्रगति की दशा होगी जिसे साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था में देखा जा सकता है। यह वह व्यवस्था होगी जिसमें सभी लोग खुशहाल होंगे तथा सभी को उनकी योग्यता तथा अर्जित गुणों के आधार पर ही 'सामाजिक प्रस्थिति' प्राप्त होगी। मार्क्स का कथन है कि समाज वर्ग-संघर्षों का इतिहास है जो प्रगति के लिए अनवरत चला करता है। एक सामाजिक व्यवस्था अधिक दिनों तक इसलिए नहीं चल पाती क्योंकि उसमें कुछ मूलभूत बुराइयाँ आ जाती हैं। इन्हीं बुराइयों को दूर करने के लिए नयी व्यवस्था निर्मित होती है जिसके परिणामस्वरूप पहले की सामाजिक व्यवस्था स्वतः समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार से कोम्ट 'वैज्ञानिक स्तर' अथवा औद्योगिक समाज को सामाजिक प्रगति का लक्षण मानते है उसी प्रकार मार्क्स 'साम्यवादी समाज' को प्रगति का अन्तिम छोर मानते हैं। इस व्यवस्था के निर्माण का प्रमुख कारण पूँजीवाद की बुराइयाँ हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजीपति श्रमिकों का शोषण करता है यही कारण है कि वह निरन्तर धनी होता जाता है जबकि श्रमिक इसी अनुपात में गरीब होता जाता है। इस विषम परिस्थिति का अन्त 'वर्ग-संघर्ष' तथा क्रान्ति से सम्भव हो सकेगा जिसमें 'पूँजीपति वर्ग' का विनाश होगा और श्रमिक स्वयं विजेता के रूप में एक नयी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करेंगे जिसे प्रगतिशील व्यवस्था कहा जायेगा। यही वह व्यवस्था है जहाँ प्रत्येक समाज को अन्त में पहुँचना होता है। इस प्रकार के प्रगतिशील समाज की सबसे मूलभूत विशेषता यह है कि यहाँ सबको सामाजिक न्याय मिल पाता है। मार्क्स का मत था कि क्रान्ति चाहे उग्र हो अथवा शान्तिमय सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है क्योंकि तभी सामाजिक व्यवस्था को मूलभूत रूप से बदला जा सकता है।

सामाजिक प्रगति के मापदण्ड

यदि सामाजिक प्रगति के लक्षण और गुण स्थिर नहीं हैं तो उनका मापदण्ड किस प्रकार निर्धारित किया जाय, यह एक प्रमुख समस्या समाजशास्त्रियों के सामने है। कुछ विचारकों ने समाज के अधिकतम कल्याण को इसका प्रमुख लक्षण माना है। कुछ विचारक अधिकतम लोगों की अधिकतम भलाई, उच्च जीवन स्तर, अधिकतम आध्यात्मिक तथा नैतिक उन्नति को मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भौतिकवादी भौतिक गुण-समृद्धि को ही प्रगति का एकमात्र मापदण्ड मानते हैं, जबकि अ

लोग आध्यात्मिक गुणों में वृद्धि को प्रगति का सर्वस्व मानते हैं। साधारणतया निम्नलिखित कारकों की उपस्थिति समाज की प्रगति का द्योतक है—

(1) अध्यात्मिक तथा नैतिक विकास;
(2) आर्थिक कल्याण में वृद्धि;
(3) अधिकतम लोगों की भलाई; तथा
(4) सुख-समृद्धि में वृद्धि।

बोगार्डस ने प्रगति के निम्नलिखित चौदह मापदण्डों का उल्लेख किया है—

(1) प्राकृतिक साधनों का सार्वजनिक कल्याण के लिए प्रयोग;
(2) व्यक्तियों की शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता;
(3) स्वस्थ वातावरण की प्रचुरता;
(4) मनोरंजन के लिए उचित साधनों की वृद्धि;
(5) पारिवारिक संगठन में वृद्धि;
(6) व्यक्तियों के विकास के लिए पर्याप्त सुअवसर;
(7) व्यापार तथा उद्योग में जनता के अधिकारों में वृद्धि;
(8) दुर्घटनाओं, बीमारियों, बेकारी तथा मृत्यु के विरुद्ध सामाजिक बीमे की व्यवस्था;
(9) समाज के अधिकांश सदस्यों के जीवन-स्तर में विकास;
(10) सरकार और जनता के बीच परस्पर सहयोग;
(11) ललित कलाओं का प्रसार;
(12) मनुष्य के धार्मिक तथा आध्यात्मिक पक्षों का विकास;
(13) व्यावसायिक तथा कल्याणकारी शिक्षा का फैलाव; तथा
(14) सहयोगात्मक में जीवन में वृद्धि।

ए० जे० टॉड के अनुसार सम्पत्ति, स्वास्थ्य, जनसंख्या, सामाजिक स्थिरता तथा अवसरों की अधिकता के आधार पर सामाजिक प्रगति को नापा जा सकता है। हॉबहाउस ने किसी भी सामाजिक प्रगति के लिए कार्यकुशलता, जनसंख्या, स्वतन्त्रता तथा पारस्परिक सेवा को आवश्यक कसौटी माना है।

आधुनिक समाज के प्रगति के मापदण्ड निम्नलिखित तत्त्व हो सकते हैं—

(1) समाज में सभी व्यक्ति स्वतन्त्र हों और उन्हे यह आश्वासन मिलना चाहिए कि वे प्रत्येक उचित कार्य कर सकते हैं।
(2) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा समाज की स्वत: प्रभुसत्ता होनी चाहिए।
(3) भौतिक संस्कृति में समुचित विकास जिससे कि प्राकृतिक पर्यावरण के क्रूर प्रभावों से बचकर उस पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सके।
(4) प्रगति को एक बाध्यतामूलक दशा न बताकर, लोगों में यह विचार जागृत करना चाहिए कि प्रगति सम्भव है, और इसमे व्यक्तियों का सहयोग आवश्यक है।
(5) जनसाधारण के लिए अधिकाधिक सुख-सुविधाओं की वृद्धि, सभी के विकास के लिए उचित अवसर।
(6) सामाजिक व्यवस्था से अन्याय, शोषण तथा विषमता का लोप हो; और सामाजिक सुरक्षा का सर्वोत्तम प्रयत्न होना चाहिए।
(7) व्यक्तियों के नैतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक पहलुओं का समुचित

विकास होना चाहिए।

(8) समाज-विरोधी प्रवृत्तियों का नाश होना चाहिए।

(9) एक वर्गहीन सुदृढ़ समाज की स्थापना होनी चाहिए।

(10) विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के आविष्कारों का उपयोग शान्ति के लिए होना चाहिए।

(11) रोजगार के पर्याप्त अवसर प्राप्त हों ताकि सामाजिक दरिद्रता को दूर किया जा सके।

(12) समाज-शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

प्रगति की सहायक दशाएँ

सामाजिक प्रगति के लिए निम्नलिखित दशाएँ सहायक हो सकती हैं—

(1) यदि सभी मनुष्य मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रगति के प्रति जागरूक हैं तो सामाजिक प्रगति तीव्र गति से होगी। उनके अन्दर यह विश्वास होना चाहिए कि वे प्रगति कर सकते हैं।

(2) कुछ विचारकों का यह कहना है कि जनसंख्या प्रगति के लिए सबसे मूलभूत तत्त्व है। यदि व्यक्ति मानसिक तथा शारीरिक दृष्टिकोण से कुशल हैं तो वह समाज अवश्य प्रगति करेगा। इसके अतिरिक्त, जनसंख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण होना चाहिए ताकि समाज के आवश्यक साधन उनकी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। यदि जनसंख्या सीमित है और उसकी आवश्यकताएँ पूरी होती जा रही हैं तो वह समाज अवश्य ही प्रगति करेगा।

(3) भौतिक समृद्धता यदि समाज में है तो वहाँ भी सामाजिक प्रगति सम्भव है। भौतिक साधनों के अभाव में सामाजिक प्रगति के बारे में सोचा नहीं जा सकता।

(4) यदि सभी के सभी व्यक्तियों को विकास के उचित तथा समान अवसर मिले हैं, तो वह समाज अवश्य ही प्रगति करेगा। जिस समाज में व्यक्तियों को समान अवसर प्राप्त नहीं होते वह समाज प्रगति नहीं कर पाता; क्योंकि वहाँ पर असमान बँटवारा है, और विकास के अवसर कुछ ही लोगों को प्राप्त होते हैं। अंग्रेजों के शासन-काल में भारत में प्रगति इसलिए नहीं हो पायी क्योंकि विकास का समुचित अवसर सभी व्यक्तियों को नहीं मिला था। स्वतन्त्रता के बाद जो हम प्रगति कर रहे हैं, उसका प्रमुख कारण यही है कि सभी लोगों को विकास के समान अवसर प्राप्त हैं।

(5) किसी भी समाज की प्रगति में वहाँ के प्राकृतिक पर्यावरण का प्रमुख हाथ होता है। भौगोलिक पर्यावरण या दशाएँ जिस प्रकार की होंगी, समाज की प्रगति भी उसी प्रकार की होगी। यदि भौगोलिक दशाएँ क्रूर हैं तो समाज प्रगति नहीं कर सकता। टुण्ड्रा तथा साइबेरिया के ठण्डे प्रदेशों तथा रेगिस्तानों में मैदानी इलाकों की तुलना में प्रगति कम होती है। यदि जलवायु ऐसी है जिसमें व्यक्ति अधिक काम कर सकता है तो निश्चय ही आर्थिक उत्पादन में वृद्धि होगी और समाज प्रगति करेगा।

(6) समाज की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ के नागरिकों को एक 'न्यूनतम जीवन स्तर' प्रदान किया जाय। किसी भी समाज की समृद्धता वहाँ के श्रमिकों की सामाजिक स्थिति से निर्धारित की जाती है। यदि उस समाज के

साधारण व्यक्ति एक न्यूनतम जीवन-स्तर व्यतीत कर रहे हैं, तो निश्चय ही वह समाज प्रगति करेगा।

(7) आज का व्यक्ति भौतिकवादी होता जा रहा है। हमारे सामाजिक मूल्य भी भौतिक समृद्धता को ऊँची दृष्टि से देखते हैं। अतः जिस समाज में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का विकास जितना ही तेज होगा, वह समाज उतनी ही तेजी से विकास करेगा। जिस समाज में आर्थिक व्यवस्था जिस प्रकार होगी उसमें उसी के अनुसार विकास के तत्त्व प्रगति के लिए आवश्यक हैं। जिस समाज में विकासकारी तत्त्व जितने ही अधिक होंगे, वह समाज उतना ही अधिक प्रगति करेगा।

(8) राजनीतिक पहलू में स्थिरता भी सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक दशा है। जिस समाज में राजनीतिक स्थिरता नहीं है, आये दिन सरकारें बदलती हैं, वह समाज प्रगति नहीं कर सकता। जिस समाज में जितने ही बड़े राजनीतिक व्यक्ति या नेता होंगे, उस समाज में प्रगति का मार्ग उतना ही सरल होगा। यदि नेतृत्व योग्य नहीं है तो सभी साधन रहते हुए भी वह समाज प्रगति नहीं कर सकता।

(9) समाज में शिक्षित व्यक्तियों की संख्या और उसकी गति में सीधा सम्बन्ध है। यही कारण है कि आज प्रत्येक समाज मुफ्त प्रारम्भिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, स्त्री-शिक्षा तथा पेशेगत शिक्षा पर बल दे रहा है ताकि सामाजिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो सके।

क्या सामाजिक प्रगति एक वैज्ञानिक अवधारणा है?

समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान कहा जाता है। सामाजिक प्रगति का अध्ययन भी समाजशास्त्र में होता है जो समाज से सम्बन्धित है। यही कारण है कि प्रगति की अवधारणा भी अनिवार्य रूप से वैज्ञानिक मानी जाती है। लेकिन वास्तविक स्थिति कुछ और है। प्रगति से तात्पर्य जीवन के गुणों में उस वृद्धि से है जिसे लोग मूल्यों से आंकते हैं। प्रगति एक ऐसा इच्छित परिवर्तन है जिसका निर्धारण सामाजिक मूल्यों से होता है। सामाजिक मूल्य स्वयं परिवर्तित होते रहते हैं यही कारण है कि सामाजिक प्रगति की अवधारणा भी बदलती रहती है। मूल्य यह तय करते हैं कि कौन सी चीज या किस प्रकार का व्यवहार अच्छा है और कौन सा व्यवहार खराब है। विज्ञान की यह विशेषता है कि वह वास्तविकता का वर्णन करता है, उसके अच्छे या बुरे होने से उसका सम्बन्ध नहीं होता। चूँकि सामाजिक प्रगति अच्छे परिवर्तन से सम्बन्धित है और बुरे परिवर्तन से दूर रहने का उपाय भी बताती है यही कारण है कि कुछ विचारक सामाजिक प्रगति को एक वैज्ञानिक अवधारणा नहीं मानते। नैतिक तटस्थता वैज्ञानिकता के लिए आवश्यक है जिसे सामाजिक प्रगति के अन्तर्गत कायम नहीं रखा जा सकता। यह भी एक कारण है जिससे कि सामाजिक प्रगति एक वैज्ञानिक अवधारणा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकी है। मूल्य का सम्बन्ध नैतिकता से अधिक है, जो अमूर्त अवधारणा है, और चूँकि प्रगति मूल्य पर आधारित है इसलिए अमूर्त अवधारणा से सम्बन्धित होने के कारण भी उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

कुछ विचारक जो प्रगति को वैज्ञानिक कहने के पक्ष में हैं उनका मत है कि मूल्य तथा नीति (ethics) आचार सभी सामाजिक तथ्य हैं और उनकी भी वही विशेषता है जो वैज्ञानिक तथ्यों की होती है। चूँकि सामाजिक प्रगति

तथ्यों पर आधारित है जिनकी विशेषता वैज्ञानिक तथ्यों जैसी है अतः सामाजिक प्रगति को एक वैज्ञानिक अवधारणा कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ विचारक जो सामाजिक प्रगति को एक वैज्ञानिक अवधारणा मानते हैं उनका विचार है कि चूंकि प्रगति का मापदण्ड निश्चित (वैज्ञानिक तथ्यों का मापदण्ड भी निश्चित होता है) अतः उसे वैज्ञानिक अवधारणा मानना चाहिए।

परिस्थिति जटिल प्रतीत होती है क्योंकि एक दृष्टिकोण सामाजिक प्रगति को वैज्ञानिक अवधारणा के रूप में स्वीकार करता है और दूसरा उसको वैज्ञानिक अवधारणा की मान्यता देने के लिए तैयार नहीं। ऐसी स्थिति में समन्वयात्मक विचार अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है जिसमें कहा जा सकता है कि यद्यपि पूरी तरह से सामाजिक प्रगति को वैज्ञानिक अवधारणा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता फिर भी उसे अवैज्ञानिक भी नहीं कहा जा सकता। जो तत्त्व वैज्ञानिकता का ह्रास करते हैं, जैसे नीति, आचार, मूल्य आदि; यदि उनका प्रयोग संभल कर और परिष्कृत ढंग से किया जाये तो कोई कारण नहीं कि सामाजिक प्रगति वैज्ञानिक अवधारणा के रूप में प्रतिष्ठित न हो जाये। एक अन्य विकल्प इस कार्य के लिए यह भी हो सकता है कि यदि सामाजिक प्रगति को वैज्ञानिक अवधारणा के रूप में प्रतिष्ठित होना है, तो उसे अपना उद्देश्य (परिवर्तन की दिशा) निश्चित करना होगा। अभी तक स्थिति यह रही है कि कुछ समाज नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास को सामाजिक प्रगति का उद्देश्य मानते रहे हैं जबकि अन्य भौतिक विकास को। जैसे भारतीय समाज में नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास अधिक प्रमुख है जबकि पश्चिमी समाजों में पदार्थवाद या भौतिकवाद ही प्रमुख स्थान धारण करता रहा है। ऐसी स्थिति में सामाजिक प्रगति के लिए कोई सार्वभौमिक आधार आवश्यक होता है। अतः उद्देश्य निश्चित करने के लिए भौतिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्यों में समन्वय आवश्यक है। यही कारण है कि भारतीय समाज मे सामाजिक प्रगति के उद्देश्यों में अब इन दोनों तत्त्वों मे समन्वय आसानी से देखा जा सकता है।

क्या भारतीय समाज प्रगति कर रहा है?

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने सामाजिक प्रगति को प्राप्त करने का भरपूर प्रयास किया है। प्रगति के उद्देश्य क्या हों? इसके लिए जहां भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों तत्त्वों के समन्वय को उचित बतलाते हुए स्वीकार किया गया है। नियतिवादी साहित्य का प्रभाव भारतीय समाज पर इतना अधिक पड़ा कि लोग भौतिकता से दूर होते चले गये। उसके समर्थन में यह तर्क दिया जाता था कि भारतीय समाज सदियों से अध्यात्मवाद की ओर उन्मुख रहा है और भौतिकता से दूर। यहां अर्थ को कभी भी महत्त्व नहीं दिया गया। कर्म के सिद्धान्त में भी भाग्य को महत्त्वपूर्ण बतलाया गया, यह कहते हुए कि कर्त्ता, उद्देश्य, साधन, परिस्थिति सभी के होते हुए भी कर्म पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि भाग्य अनुकूल नहीं होगा। लेकिन ये सभी विचार भ्रामक रहे हैं। यहाँ शुरू से ही भौतिकवाद को महत्त्वपूर्ण माना गया है जिसकी पुष्टि अपने यहाँ के 'पुरुषार्थ' करेंगे। चार पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) सभी सामाजिक प्राणियों के लिए उचित

या आवश्यक बतलाये गये। अर्थ को अन्य तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति का साधन भी कहा गया। फिर यह कहना कि आर्थिक विकास प्रमुख भारतीय उद्देश्य नहीं रहा है, ठीक नहीं। स्थिति का पुनर्मूल्यांकन करने के बाद भारतीय समाज ने अब इसी कारणवश भौतिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्यों के समन्वित रूप को सामाजिक प्रगति की कसौटी माना है।

'समाजवादी समाज की स्थापना' जिसके अन्तर्गत नैतिक तथा भौतिक विकास पर समन्वित ध्यान दिया गया है, स्वतन्त्र भारत के प्रगति की रीढ़ है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक तथा आर्थिक विकास आवश्यक बतलाते हुए उसे पूरा करने के लिए नियोजन का कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया। एक अन्य आधार जो सामाजिक न्याय के लिए उचित बतलाया गया वह था 'शक्ति का विकेन्द्रीकरण' जिसे प्रजातान्त्रिक सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था द्वारा पूरा करने का संकल्प लिया गया। प्रजातन्त्र और नियोजन क्या दोनों साथ-साथ चल सकते हैं ? नियोजन की सफलता के लिए एक केन्द्रीय शक्तिशाली संगठन आवश्यक है जिसे प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के अन्तर्गत उचित ढंग से निर्मित नहीं किया जा सकता। यही कारण था कि अधिकांश विचारक यह मत व्यक्त करने लगे थे कि सामाजिक प्रगति यहाँ नियोजन के माध्यम से सम्भव नहीं। लेकिन परिणाम कुछ और ही निकल रहा है। जो आर्थिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य सामाजिक प्रगति के लिये रखे गये थे नियोजन के माध्यम से हम उन्हें पूरा कर रहे हैं। आर्थिक उद्देश्य की पूर्ति को प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। औसत आयु में वृद्धि हुई है। पहले (1947) यहाँ औसत आयु लगभग 28 वर्ष थी आज वह 54 वर्ष हो गयी है। पहले औद्योगिक विकास के नाम पर कुटीर उद्योग-धन्धे थे आज हम बड़े-बड़े उद्योगों का निर्माण करके छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों को स्वतः जन्म दे रहे हैं। रूरकेला, भिलाई, दुर्गापुर आदि के इस्पात-कारखाने इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। भाखड़ा, नांगल आदि बाँधों के द्वारा अब सिंचाई के लिए पानी की व्यवस्था के अतिरिक्त बिजली भी उत्पन्न की जा रही है जिससे अनेक उद्योग चलाये जा रहे हैं। परमाणु शक्ति का उत्पादन परमाणु भट्टी केन्द्रों (ट्रॉम्बे, कोलाबा) पर किया जा रहा है ताकि कृत्रिम शक्ति के अभाव में कोई भी उत्पादन कार्य रुकने न पाये। पिछले पच्चीस वर्षों में खाद्यान्नों में दुगुनी वृद्धि हुई है, अब हम आवश्यकता की लगभग सभी चीजें स्वयं निर्मित करने लगे हैं। ग्रामीण समुदायों के विकास के लिए सामुदायिक कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं जिनके द्वारा ग्रामवासियों के आर्थिक पहलू में उल्लेखनीय विकास हुआ है। अब वे खाद, सिंचाई के साधन, उन्नत बीज आदि का अधिक मात्रा में प्रयोग करके उत्पादन को तेजी के साथ बढ़ा रहे हैं। अब प्रकृति पर आश्रित रहने की भावना भी उनमे क्षीण होती जा रही है जो वैज्ञानिक तथा तार्किक दृष्टिकोण के लिए आवश्यक है। गाँवों में भी बिजली और पानी की व्यवस्था सुलभ की जा रही है। यातायात तथा संचार के साधनों के द्वारा अब सभी गाँव अपने आस-पास के नगरों से सम्बद्ध हो गये हैं जिसके परिणामस्वरूप गाँव के लोगों का रहन-सहन परिवर्तित हो रहा है। इस आर्थिक पहलू में प्रगति के साथ-साथ नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति भी कम उल्लेखनीय नहीं है। अब प्राइमरी शिक्षा निःशुल्क है। कहीं-कहीं तो सेकेण्ड्री शिक्षा भी निःशुल्क हो गयी है। प्रौढ़-शिक्षा का प्रबन्ध अलग से किया गया है। श्रमिकों को व्यावसायिक तथा सामान्य शिक्षा देने की

अलग व्यवस्था है। लड़कियों की शिक्षा कई राज्यों में स्नातकोत्तर स्तर तक मुफ्त है जबकि लगभग सभी राज्य स्नातक स्तर तक ऐसे महाविद्यालयों का अनुदान देते हैं। इस स्थिति के कारण अब अधिकांश बालिकाएँ शिक्षित हो रही हैं। इन उपलब्धियों के आधार पर निःसन्देह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सामाजिक प्रगति के जो लक्ष्य रखे गये हैं वे पूरे किये गये हैं।

विकास (Development)

उद्विकास तथा प्रगति की भाँति विकास भी एक सामाजिक प्रक्रिया है। विकास का प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाज के आर्थिक पहलू से होता है। समाजशास्त्रियों का यह मत है कि विभिन्न सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति तभी हो सकती है जब समाज का आर्थिक विकास होगा। विकास वह परिवर्तन है जिसके द्वारा उन तत्वों को प्रकाश में लाया जाता है जिसकी समाज को आवश्यकता है। विकास के अन्तर्गत परिवर्तन की निरन्तरता के साथ-साथ एक दिशा का भी बोध आवश्यक है। यह दिशा यद्यपि पूर्व निश्चित नहीं होती है फिर भी इसका सुझाव प्रगतिमय होता है। वास्तव में सामाजिक विकास की आवश्यकता सामाजिक प्रगति की प्राप्ति के लिए होती है। उदाहरणार्थ—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद समाज का अन्तिम उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना रखा गया। यदि हम इसे प्राप्त कर लेते हैं तो हम कहेंगे कि हमने प्रगति की है। लेकिन यदि हम उसे प्राप्त नहीं कर सके फिर भी उसी उद्देश्य की ओर बढ़ते रहे तो उसे सामाजिक विकास कहा जायेगा। ग्रामीण समुदाय में समूल परिवर्तन के लिए विभिन्न विकास के कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं जैसे, सामुदायिक विकास कार्यक्रम। इस विकास कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामवासियों का बहुमुखी विकास करना है, जिसमें उनका आर्थिक और आध्यात्मिक विकास अत्यन्त प्रमुख है।

परिभाषा के रूप में कहा जा सकता है कि विकास वह परिवर्तन है जिसमें कोई समाज सामाजिक प्रगति को प्राप्त करने में सफल हो पाता है। अतः कहा जा सकता है कि विकास सामाजिक प्रगति का एक साधन भी है।

पॉनसियन ने लिखा है कि 'विकास संकुचित अर्थ में परिवर्तन है। यह वृद्धि (growth) से सम्बन्धित है जो पहले से ही किसी वस्तु में गुप्त अवस्था में विद्यमान है।'[1]

इसी विचारक ने विकास का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि विकास का सम्बन्ध सांस्कृतिक संस्थाओं में वृद्धि से है न कि इनके आविष्कार से।[2]

विकास के मापदण्ड

वे कौन से आधार हैं जिनसे कहा जा सके कि कोई समाज विकास कर रहा है अथवा नहीं। हॉबहाउस ने अपनी पुस्तक 'सोशल डेवलपमेंट' में विकास के चार मापदण्डों का उल्लेख किया है जो अग्रलिखित हैं :

[1] 'Development has a more narrow meaning than social change. It designates the growth, or the unfolding of energies and potentialities already latently present.' —Ponsion, *National Development*, 12.

[2] 'Development should be merely the growth of existing cultural institutions and should not be introduction of new ones.' —*Ibid*.

(1) मात्रा में वृद्धि,
(2) कार्यक्षमता में वृद्धि,
(3) आपसी सहयोग,
(4) मानवीय स्वतन्त्रता ।

विकास के प्रकार

विकास कई प्रकार के होते हैं जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(1) आर्थिक विकास—आर्थिक विकास से तात्पर्य नये आर्थिक व्यवस्था के निर्माण से है जिसमें अधिक उत्पादन सम्भव हो सके और इस प्रकार आय में बढ़ोत्तरी हो सके। इसके अन्तर्गत उस औपचारिक ढाँचे का निर्माण सम्भव हो पाता है जो प्रत्येक दृष्टिकोण से तार्किक होता है। आर्थिक विकास में नैतिकता का भी पुट मिलता है और इसी कारणवश सभी लोगों का कल्याण सम्भव हो पाता है।

(2) राजनीतिक विकास—राष्ट्र-कल्याण के लिए राजनीतिक विकास आवश्यक है। विशेषकर वे राष्ट्र जो द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद स्वतन्त्र हुए हैं, राजनीतिक विकास में संलग्न हैं। राजनीतिक स्थिरता सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है। यह स्थिरता राजनीतिक विकास पर आश्रित है।

(3) सामाजिक विकास—शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास तथा अन्य ऐसी ही आवश्यकताओं को पूरा करके सामाजिक विकास का कार्यक्रम पूरा किया जाता है। सामाजिक विकास के अन्तर्गत उन सभी पहलुओं को सम्मिलित किया जाता है जिसका सम्बन्ध समाज से है।

भारतवर्ष में इन विभिन्न विकास के प्रकारों को नियोजन के माध्यम से पूरा किया जा रहा है।

चौथा अध्याय

सामाजिक आन्दोलन

प्रत्येक समाज में सामाजिक आन्दोलन की अवधारणा बलवती होती जा रही है। विकसित तथा विकासशील दोनों ही प्रकार के समाज सदियों से सामाजिक आन्दोलन के प्रभावों से प्रभावित होते आ रहे हैं। भारतवर्ष में सामाजिक आन्दोलन वर्तमान बीसवीं शताब्दी में, विशेषकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अधिक सबल हुआ है। आज इस आन्दोलन के अन्तर्गत पिछड़े वर्ग का सुधार, स्त्री-शिक्षा, उद्योग-प्रबन्ध में श्रमिकों का भाग लेना, छात्र आन्दोलन तथा 'गरीबी हटाओ' आदि कुछ ऐसे कार्यक्रम हैं जो अनायास ही सभी का ध्यान केन्द्रित कर लेते हैं। सामाजिक आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था में उन संशोधनों को करने से है जो वर्तमान आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक प्रतीत होती है। विकासशील देशों में ऐसे संशोधन इसलिए और भी आवश्यक हो जाते हैं क्योंकि उनके अभाव में समाजवादी तथा प्रगतिशील उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव नहीं। सामाजिक आन्दोलन का जो भी कारण हो लेकिन उसका प्रभाव अधिकांशतया सार्वभौमिक ही होता है।

परिभाषा

सामाजिक आन्दोलन जैसा कि नाम से स्पष्ट है एक ऐसा सामूहिक प्रयत्न है जिससे एक नयी सामाजिक व्यवस्था, जिसे वांछनीय व्यवस्था भी कहा जा सकता है, जन्म लेती है। अब हम यहाँ कुछ प्रमुख विचारकों का मत इस सन्दर्भ में प्रस्तुत करेंगे।

हर्बर्ट ब्लूमर के अनुसार, 'सामाजिक आन्दोलन एक ऐसा सामूहिक प्रयत्न है जिससे जीवन की एक नयी व्यवस्था निर्मित होती है।'

उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण करने पर विदित होता है सामाजिक आन्दोलन एक ऐसा समन्वित व्यवहार है जिससे वांछनीय सामाजिक परिवर्तन प्रायः निश्चित हो जाता है। परिवर्तन एक अनिवार्य विशेषता है जो न्यूनाधिक अंशों में सभी समाजों में पायी जाती है—सामाजिक आन्दोलन इसी प्रक्रिया को एक निश्चित मोड़ देता है। किंग ने सामाजिक आन्दोलन को नये ढंग से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार, 'सामाजिक आन्दोलन एक ऐसा सामूहिक प्रयत्न है जिसमें व्यवस्थित प्रयत्न द्वारा विचारों, व्यवहारों तथा सामाजिक सम्बन्धों में उचित परिवर्तन सम्भव हो पाता है।'[1]

टॉच ने मनोवैज्ञानिक कारक को सामाजिक आन्दोलन के लिए अधिक आवश्यक माना है। उनका विचार है कि सामाजिक आन्दोलन 'अधिकांश व्यक्तियों

[1] 'A group venture...to inaugurate changes in thought, behaviour and ocial relationship.'

द्वारा वह प्रयत्न है जिससे कि वे अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा सामान्य समस्याओं का समाधान कर सकें।[1] इस परिभाषा में जिस नयी चीज पर बल दिया गया है वह है सामाजिक आन्दोलन का केन्द्र-विन्दु। टॉच के अनुसार, सामाजिक आन्दोलन के प्रारम्भ के लिए किसी ऐसी समस्या का होना आवश्यक है जिससे अधिकांश लोग प्रभावित हो रहे हों।

टर्नर तथा किलन ने अपनी परिभाषा में लिखा है कि सामाजिक आन्दोलन सदैव सामाजिक परिवर्तन को ही जन्म नही देता अपितु उन परिवर्तनों का विरोध भी करता है जो समाज के लिए आवश्यक नही हैं। इन विचारकों के अनुसार सामाजिक आन्दोलन एक ऐसा सामूहिक प्रयत्न है जिससे वांछित सामाजिक परिवर्तन को प्रेरणा तथा अवाछनीय परिवर्तन का विरोध किया जाता है।

कैमरन ने लिखा है कि सामाजिक आन्दोलन के लिए अधिकांश व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। उसके अनुसार, जब ये लोग अपने प्रयत्नों द्वारा संस्कृति के किसी भाग अथवा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाते हैं तो सामाजिक आन्दोलन का प्रादुर्भाव होता है। उस परिभाषा में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि सामाजिक आन्दोलन आवश्यक रूप से सास्कृतिक परिवर्तन है जो वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के लिए दृढ़ संकल्प है।

मैकलालिन ने सामाजिक आन्दोलन को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'आन्दोलन साधारणतया सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करता है क्योंकि इसके कुछ निश्चित लक्ष्य होते हैं।'[2]

एक अन्य स्थान पर इसी विचारक ने सामाजिक आन्दोलन की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'सामाजिक आन्दोलन एक ऐसा सामूहिक प्रयास है जिससे कि जीवन की नयी व्यवस्था का श्रीगणेश सम्भव हो पाता है।'[3]

अत: स्पष्ट हुआ कि सामाजिक आन्दोलन एक ऐसा सामूहिक प्रयास है जिससे एक नयी सामाजिक व्यवस्था अवतरित होती है। यह प्रयास अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन कुछ भी हो सकता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन से पता चलता है कि सामाजिक आन्दोलन की अन्तर्निहित विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) एक प्रकार का मूल्य (Shared Value System)—सामाजिक आन्दोलन में भाग लेने वाले सदस्यों में सामान्य मूल्यों के प्रति श्रद्धा होती है। सभी सदस्यों का व्यवहार एक मूल्य से निर्देशित होता है।

(2) सामुदायिक भावना (Community Sense)—ऐसा लगता है कि सामाजिक आन्दोलन के सभी सदस्य एक ही समुदाय के सदस्य हैं। ऐसा इसलिए लगता है क्योंकि सभी सदस्य एक जैसे सोचते तथा व्यवहार करते हैं। सदस्यों की यह विशेषता सामुदायिक भावना जैसी दृष्टिगत होती है।

(3) क्रियात्मक प्रतिमान (Norms for Action)—किस परिस्थिति में किस

[1] '...an effort by a large number of people to solve collectively a problem they feel they have in common.'

[2] '...the movement usually seeks to influence the social order and is oriented towards definite goals.'

[3] 'Social movements can be viewed as collective enterprises to establish a new order of life.'

प्रकार का व्यवहार किया जाय इसके लिए भी सदस्य पहले से तैयार होते हैं। सामाजिक आन्दोलन के सदस्यों का व्यवहार जिन नियमों द्वारा संचालित होता है वे पूर्व निर्मित तथा व्यवस्थित होते हैं।

(4) संगठनात्मक ढाँचा (Organisational Structure)—सदस्यों का व्यवहार इस प्रकार का होता है कि वे अपने को व्यवस्थित कर निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति कर सकें।

सामाजिक आन्दोलन की महत्ता

किसी भी सामाजिक आन्दोलन की महत्ता का पता उसके परिवर्तनकारी प्रभाव से लगाया जाता है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि सामाजिक आन्दोलन का महत्त्व सामाजिक परिवर्तन की दर तथा गति से जुड़ा हुआ है। यदि किसी समाज में परिवर्तन सामाजिक आन्दोलन के कारण हुआ हो तभी सामाजिक आन्दोलन को सार्थक कहा जायेगा अन्यथा इसकी महत्ता के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आन्दोलन का रूप व्यक्तियों की इच्छा तथा उनकी अभिलाषा पर निर्भर करता है कि आखिर वे किस प्रकार के सामाजिक ढाँचे का निर्माण करना चाहते हैं। कुछ सामाजिक आन्दोलन चरम सफलता को प्राप्त करते हैं जबकि कुछ थोड़े समय बाद ही बिना उद्देश्य को प्राप्त किये समाप्त हो जाते हैं। इसका कारण आन्दोलन की विचारधारा (ideology) की अच्छाई और कमी कहा जा सकता है। यदि विचारधारा युग की आवश्यकता के अनुरूप है तो निःसन्देह उससे वांछित सामाजिक परिवर्तन की आशा बढ़ जाती है। मैनहीम ने लिखा है कि प्रत्येक पीढ़ी द्वारा शुरू किया गया आन्दोलन अपने पहले की पीढ़ी से भिन्न हुआ करता है। नयी पीढ़ी के सदस्य सामाजिक विरासत (social heritage) के तत्त्वों का पुनर्मूल्यांकन कर उसके अनुरूप व्यवहार करने को तैयार होते हैं। यही पुनर्मूल्यांकन की प्रक्रिया सामाजिक आन्दोलन के लिए बाध्य करती है जिसके कारण सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन होता है। सामाजिक आन्दोलन के पीछे अधिकांशतया कम उम्र के लोग हुआ करते हैं। मूर ने लिखा है कि समय-समय पर एक ऐसी पीढ़ी अवतरित होती है जिसका विचार तथा दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा भिन्न हुआ करता है। भविष्य के बारे में उनका व्यवहार आदर्शात्मक होगा, इस प्रकार का आशावादी विचार लेकर वे आगे बढ़ते हैं। वास्तव में कोई समाज तब तक अपनी मान्यता का विकास नहीं कर सकता जब तक कि वह अपने सदस्यों के व्यवहारों को निर्देशित करने के लिए एक उच्च कोटि का आदर्श नहीं रख लेता। सामाजिक आन्दोलन का वास्तविक प्रभाव समाज पर क्या पड़ा है इसका निर्धारण इस बात से लगाया जाता है कि सामाजिक संस्थाएँ किन अंशों में इस आन्दोलन से प्रभावित हुई हैं।

सामाजिक आन्दोलन की विशेषताएँ

सामाजिक आन्दोलन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) संगठनात्मक स्वरूप—(Organisational Form)—प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन का एक संगठन तथा उसका एक स्वरूप होता है। उद्देश्य-प्राप्ति के लिए संगठन की सुदृढ़ता आवश्यक है। चूँकि प्रत्येक सामाजिक आन्दोलन को अन्तिम रूप से अपने नियत उद्देश्य को प्राप्त करना होता है, यही कारण है कि सामाजिक

आन्दोलन एक व्यवस्थित संगठन को धारण करता है। संगठन की प्रमुख व्यवस्था यह भी है कि ढाँचा ठीक प्रकार से अपना कार्य प्रारम्भ करता है। अतः सामाजिक आन्दोलन के लिए प्रयत्नशील सभी लोग अपने लक्ष्य के अनुरूप व्यवहार करना प्रारम्भ करते हैं।

(2) प्रथा तथा परम्परा (Body of Customs and Traditions)—लोगों का व्यवहार किस प्रकार का हो, इसका निर्धारण उस समाज की प्रथा तथा परम्परा द्वारा होता है। यद्यपि प्रथा तथा परम्परा को हम सदैव समाज के लिए उचित नहीं मानते फिर भी सामाजिक आन्दोलन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसे कार्यरूप देने के लिए किसी प्रथा तथा परम्परा का समर्थन प्राप्त हो। प्रथा व्यवहार करने का एक ढंग होती है, परम्परा इसी व्यवहार की पुनरावृत्ति से सम्बन्धित होती है। सामाजिक आन्दोलन जब किसी ऐसे सामाजिक परिवर्तन का विरोध करता है जिसे समाज उचित नहीं मानता तो उस समय उसे प्रथा तथा परम्परा से सहायता प्राप्त होती है। किसी नये प्रकार के सामाजिक परिवर्तन को अप्रसारित करने में भी इन प्रथाओं तथा परम्पराओं का योगदान होता है।

(3) नेतृत्व (Leadership)—सामाजिक आन्दोलन की एक अन्य विशेषता यह भी है कि इसमें एक नेतृत्व पाया जाता है। सभी सदस्य नेता की आज्ञा का पालन करते हैं। यह नेतृत्व इसलिए और भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि अच्छे नेतृत्व के अभाव में उद्देश्य-प्राप्ति सदैव सम्भव नहीं। नेतृत्व यदि समयानुकूल है तो निःसन्देह सामाजिक आन्दोलन सफल होता है।

(4) श्रम-विभाजन (Division of Labour)—सामाजिक आन्दोलन में भाग लेने वाले सदस्यों के बीच एक व्यवस्थित श्रम-विभाजन पाया जाता है। श्रम-विभाजन से तात्पर्य कार्यों के उस बँटवारे से है जिससे कि कोई भी कार्य अधूरा तथा अछूता न रह जाय। श्रम-विभाजन यदि उचित है तभी विशेषीकरण की प्राप्ति और इस प्रकार प्रत्येक अंश की सफलता सम्भव हो पाती है। श्रम-विभाजन सामाजिक आन्दोलन की रीढ़ है। जिसके अभाव में सभी उद्देश्य पूरे नहीं किये जा सकते।

(5) सामाजिक नियम तथा सामाजिक मूल्य (Social Rules and Social Values)—सामाजिक आन्दोलन उन नियमों पर आश्रित होता है जिसका समर्थन सामाजिक मूल्य करते हैं। सामाजिक मूल्य चूँकि बदलते रहते हैं यही कारण है कि सामाजिक नियमों में भी संशोधन होता रहता है। आन्दोलन से सम्बन्धित सदस्यों का व्यवहार इन्हीं नियमों से नियन्त्रित होता है।

(6) दृढ़ता तथा निरन्तरता (Solidified and Persistent)—प्रारम्भ में सामाजिक आन्दोलन अधिक संगठित नहीं होता, क्योंकि प्रारम्भ में आन्दोलन सदस्यों के भावात्मक व्यवहार से ओत-प्रोत होता है। यह भावात्मक व्यवहार अधिक स्थिर नहीं होते। लेकिन धीरे-धीरे जैसे समय बीतता जाता है यह व्यवहार तार्किक होता जाता है जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक आन्दोलन एक दृढ़ स्वरूप को धारण करता है।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि सामाजिक आन्दोलन का एक संगठन, एक संस्कृति तथा जीवन की एक निश्चित गतिविधि होती है।

सामाजिक आन्दोलन के स्तर

विभिन्न विचारकों ने सामाजिक आन्दोलन के विभिन्न स्तरों का उल्लेख किया है।

डाउसन तथा गेटीस ने सामाजिक आन्दोलन के निम्नलिखित चार स्तरों का उल्लेख किया है—

(1) सामाजिक अशान्ति का स्तर (Social unrest);
(2) मान्य धारणा का स्तर (Popular excitement),
(3) औपचारीकरण स्तर (Stage of formalisation), तथा
(4) सांस्थानिक स्तर (Institutionalisation stage)।

पहले स्तर में सामाजिक अशान्ति के कारण लोग यह निश्चित नहीं कर पाते कि उन्हें वास्तव में क्या करना चाहिए। अधिकांश लोग अनिश्चित तथा असामान्य सामाजिक सांस्कृतिक पर्यावरण को पाकर बेचैनी तथा घुटन का अनुभव करते हैं। वे उस परिस्थिति में किसी भी सुझाव तथा आग्रह को मानने के लिए तैयार नहीं होते। यही कारण है कि सामाजिक आन्दोलन के प्रथम चरण में आन्दोलनकर्ता किसी भी प्रकार का व्यवहार कर बैठता है। सामाजिक आन्दोलन के द्वितीय स्तर का स्वरूप कुछ स्पष्ट हो जाता है। यहाँ लोगों का व्यवहार अधिकांशतया किन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए होता है, भले ही ये उद्देश्य अधिक स्पष्ट न हों। इस स्तर पर लोग यह तय कर पाते हैं कि सामाजिक परिवर्तन की दिशा क्या हो तथा उसके लिए किन कारकों का प्रयोग किया जाय। इस प्रकार इस स्तर पर आते-आते आन्दोलन का उद्देश्य न्यूनाधिक अंशों में स्पष्ट हो जाता है। इस स्तर की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यहाँ सामाजिक आन्दोलन का नेता, देवदूत अथवा सामाजिक सुधारक के रूप में जाना जाता है। तीसरे स्तर पर आन्दोलन के नियम अधिक व्यवस्थित तथा औपचारिक रूप धारण कर लेते है। यहाँ नेता राष्ट्रनायक का रूप धारण कर लेता है, जिसका प्रत्येक व्यवहार सामाजिक नीति तथा राष्ट्रीय कूटनीति पर आधारित होता है। सामाजिक आन्दोलन के चौथे और अन्तिम स्तर पर इसका एक निश्चित ढाँचा तय हो जाता है, आन्दोलन का उद्देश्य सर्वाधिक स्पष्ट होता है। कुछ निश्चित लोग नियमों के आधार पर उद्देश्य-पूर्ति के लिए तत्पर रहते हैं और इस स्तर पर नेता एक प्रशासक के रूप में कार्य करता है।

इन स्तरों के अतिरिक्त कुछ प्रमुख साधन हैं जो सामाजिक आन्दोलन के निर्माण में योगदान देते हैं। उन्हे सामाजिक आन्दोलन की यान्त्रिकी (Mechanisms) से भी सम्बोधित किया जाता है।

सामाजिक आन्दोलन की यान्त्रिकी

विभिन्न विचारकों ने सामाजिक आन्दोलन की यान्त्रिकी के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार का मत दिया है। अधिकांश विचारकों के मतों के आधार पर सामाजिक आन्दोलन की यान्त्रिकी (mechanisms of social movement) के रूप में निम्नलिखित पाँच कारकों को रखा जा सकता है :

(1) उग्रात्मक कार्यविधि (Agitation)—सामाजिक आन्दोलन की सबसे प्रमुख विशेषता इसकी उग्रात्मक कार्यविधि है। यही कारण है कि उग्रात्मक कार्यविधि की महत्ता बढ़ जाती है। यद्यपि सामाजिक आन्दोलन के अन्तिम चरण में पहुँचकर उग्रात्मक कार्यविधि गौण हो जाती है फिर भी सामाजिक आन्दोलन को प्रारम्भ करने के लिए यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसी तत्त्व के परिणामस्वरूप अधिकांश लोग साथ-साथ होकर सामाजिक आन्दोलन को आगे बढ़ाते हैं। अधिकांश

व्यक्तियों में नयी भावना तथा नये उद्देश्य के प्रति जागरूकता इसी कारक के कारण सम्भव हो पाती है। लोग अपने परम्परागत व्यवहार तथा विचार में आवश्यक परिवर्तन करें, इसके लिए भी यह कारक अधिक प्रभावकारी सिद्ध हो पाता है।

उग्रात्मक कार्यविधि सामाजिक आन्दोलन को आवश्यक रूप से आगे तभी बढ़ा सकती है जबकि उसमें निम्नलिखित चीजें सम्मिलित होंगी—

(1) यह लोगों का ध्यान अवश्य केन्द्रित करने की क्षमता रखती हो।

(2) यह लोगों को उत्तेजित तथा उनमें जोश भरने की क्षमता रखती हो।

(3) यह लोगों के मार्गदर्शन के योग्य हो। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि इसमें अच्छे विचार, सुझाव, आवश्यक समालोचना तथा उचित वादों (promises) को सम्मिलित किया जायेगा।

उग्रात्मक कार्यविधि (agitation) दो प्रकार की स्थितियों में जन्म लेती है : प्रथम—एक ऐसी स्थिति जिसमें शोषण, अन्याय तथा भेदभाव अधिक हो और जहाँ इन परिस्थितियों में लोग बहुत दिनों से रहते आ रहे हों। उग्रात्मक कार्यविधि के द्वारा ऐसे लोगो को प्रेरित किया जाता है कि वे इस विषम परिस्थिति से निकलने के लिए आन्दोलन करें। दूसरी स्थिति यह है जहाँ लोग इस परिस्थिति से पहले से अवगत होते हैं—उनमें असन्तोष की भावना पहले से व्याप्त होती है लेकिन अभी तक वे कुछ इसलिए नहीं कर पाये थे, क्योंकि वे स्वयं, यह समझने में असमर्थ थे कि उन्हें क्या करना चाहिये। इस प्रकार की स्थिति में लोगों का व्यवहार क्या हो, इसका उत्तर भी उग्रात्मक कार्यविधि से प्राप्त होता है।

इन स्थितियों में उग्रात्मक कार्यविधि में भाग लेने वालों को भी दो भागों मे बाँटा जा सकता है : प्रथम, ऐसे लोग जो स्वयं अधिक तेज, शोषण का प्रतिरोध करने वाले तथा हिंसात्मक कार्य को उचित ठहराने वाले होते हैं। ऐसे लोग अपनी मेहनत से अधिकाधिक व्यक्तियों को आकर्षित कर लेते हैं, तथा उन परिस्थितियों में अधिक सफलता प्राप्त कर पाते हैं जहाँ असन्तोष और शोषण अधिक हैं। दूसरे प्रकार के उग्रात्मक कार्यविधि करने वाले वे लोग हैं जो अपेक्षाकृत शान्त स्वभाव के होते हैं और वे वाणी तथा आदर्शात्मक कार्यक्रमों द्वारा लोगों को आकर्षित करते है। अपने विचारों को कार्यरूप देने मे ये ऐसा अधिक प्रयत्न नहीं करते, अपितु लोगों को उन शोषणों तथा अन्यायों के प्रति जागरूक करते हैं जो उस समाज में विद्यमान हैं।

उग्रात्मक कार्यविधि का मुख्य उद्देश्य लोगों में उस नयी भावना को जागृत कर कार्यरूप देना है ताकि एक नयी सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया जा सके और पुरानी सामाजिक व्यवस्था जो शोषण तथा अन्याय पर केन्द्रित थी, उसका अन्त हो सके। उग्रात्मक कार्यविधि का स्वरूप सार्वभौमिक न होकर विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार का हुआ करता है।

(2) सहभावना का विकास (Development of Team-spirit)—उग्रात्मक कार्यविधि जिसका वर्णन हमने ऊपर किया है केवल आन्दोलन में भाग लेने के लिए लोगों को प्रेरित करती है। लोग अपने उद्देश्य को आसानी से प्राप्त कर सकते है अथवा नहीं, यह सहभावना पर आधारित होता है। सहभावना का निर्माण सामाजिक आन्दोलन को सामने रखकर किया जाता है जिसके कारण सभी लोग आपस में एक दूसरे से सम्बन्धित जान पड़ते हैं। बढ़ती हुई निकटता तथा आत्मीयता के कारण लोग आपस में एक दूसरे के अनुभव का लाभ उठा पाते हैं। सभी साथ हैं, इस भावना के

कारण कठिन से कठिन कार्य को सोग करने में समर्थ हो पाते हैं । इसी सहभावना के विकास के कारण व्यक्ति अपने तथा दूसरों के सामर्थ्य पर गौर कर सामूहिक प्रयत्न द्वारा किसी भी कार्य को पूरा करने का इरादा रख पाता है ।

सहभावना के विकास के लिए निम्नलिखित तीन दशाएँ आवश्यक हैं—

(अ) अन्तः तथा बाह्य समूह का आपसी सम्बन्ध (In group-out group Relation)—अन्तः समूह के सदस्य बाह्य समूह के सदस्यों को अपना विरोधी तथा शोषणकर्त्ता मानते हैं । उसी प्रकार की धारणा बाह्य समूह की अन्तः समूह के प्रति होती है । ऐसी स्थिति में दोनों समूह के सदस्य अपने को अधिक योग्य तथा न्यायप्रिय मानते हुए संगठित होते हैं और यही कारण है कि दोनो समूह के सदस्यो में आपसी सहभावना का विकास तेजी से होता है । सामाजिक आन्दोलन मे सहभावना के विकास के लिए यही आरोप अधिक लाभकारी सिद्ध हो पाता है कि एक समूह अन्य समूह का शोषण कर रहा है । अतः उसके विरुद्ध कार्यवाही के लिए दूसरे समूह को अधिक से अधिक सहयोग करना चाहिए ।

(आ) अनौपचारिक मैत्रीभाव का निर्माण (Formation of informal fellowship)—सहभावना-निर्माण के लिए मित्रता के आधार पर अनौपचारिक सम्बन्ध आवश्यक है । अनौपचारिक सम्बन्ध के कारण सामाजिक आन्दोलन मे भाग लेने वाले सदस्य आपस मे एक दूसरे को समझकर मानवीय आधार पर अपने सम्बन्धों को अधिक दृढ़ कर पाते हैं । यही कारण है कि आवश्यकता पड़ने पर वे एक दूसरे के कार्यों को कर पाते है तथा दूसरों की मनोवृत्ति, मूल्य और जीवन-दर्शन को अपनाकर आपसी दूरी को नही के बराबर कर देते हैं । यह दशा सामाजिक संगठन की दृढ़ता में निःसन्देह वृद्धि करती है ।

(इ) औपचारिक उत्सवात्मक व्यवहार (Formal ceremonial behaviour)—औपचारिक संगठित व्यवहार, जैसे रैली, प्रदर्शन, मीटिंग, परेड आदि सामाजिक आन्दोलन के लिए आवश्यक है । इन कृत्यो के कारण सहभावना भी विकसित होती है । किस प्रकार का वस्त्र धारण किया जाये, नारा क्या लगाया जाये, गाना, कविता, शेर क्या गाया जाये आदि चीजों के द्वारा भी सहभावना को विकसित किया जाता है ।

(3) हौसले का विकास (Development of Morale)—हौसला आत्मबल पर आश्रित है । हौसले के अभाव में साधन होते हुए भी लक्ष्य की पूर्ति सम्भव नही । समूह का विचार क्या है, यह हौसले के रूप को प्रभावित करता है । हौसले का विकास तभी हो सकता है, जब लोगों को यह अन्तिम रूप से पता चल जाये कि उनका लक्ष्य सही है तथा उनका निर्देशन ठीक हो रहा है । जिसके विरुद्ध आन्दोलन हो रहा है वह अनुचित, क्रूर तथा ऐसे लोग है जिन्हें आन्दोलनकारी असामाजिक कह सकते हैं । यह स्थिति भी हौसले की बढ़ोत्तरी करती है । धार्मिक उपदेश, सामाजिक सुधार तथा पवित्र ग्रन्थ भी हौसले मे वृद्धि करते है ।

(4) एक सामूहिक विचारधारा का निर्माण (Development of Group Ideology)—बिना किसी सामूहिक विचारधारा के सामाजिक आन्दोलन आगे नही बढ़ सकता । एक निश्चित वैचारिकी आन्दोलन की निरन्तरता के लिए आवश्यक है । यह विचारधारा निश्चित सिद्धान्त, मान्य विश्वास तथा किन्ही मान्यताओं पर आधारित होना चाहिए । ऐसी विचारधारा के निर्माण के समय अग्रलिखित तथ्यों की जानकारी आवश्यक है—

(अ) आन्दोलन का उद्देश्य क्या है ?

(ब) उद्देश्य निश्चित करने का कारण, उन सभी आलोचनाओं तथा कमियों का प्रदर्शन जो आन्दोलन का कारण हैं।

(स) आन्दोलन के पक्ष के सभी तर्क जो आन्दोलन की सार्थकता को प्रमाणित कर सकें।

(द) वे मूल्य, विश्वास तथा सिद्धान्त जिन पर आन्दोलन केन्द्रित है।

इसी सामूहिक विचारधारा के आधार पर सामाजिक आन्दोलन की (i) दिशा, (ii) औचित्य, (iii) अस्त्र-शस्त्र, (iv) आशा, तथा (v) आकांक्षा आदि तय होती हैं।

(5) कार्यात्मक कूटनीति का निर्माण (Role of Operative Tactics)—सामाजिक आन्दोलन की यान्त्रिकी के रूप में कूटनीति की महत्ता भी अधिक है। यह कूटनीति उद्देश्य प्राप्ति के लिए आवश्यक होती है तथा आन्दोलन की सामाजिक पृष्ठभूमि पर आधारित होती है। कार्यात्मक कूटनीति सदैव सामाजिक तथा उद्देश्य के अनुरूप हुआ करती है।

सामाजिक आन्दोलन के प्रकार

सामाजिक आन्दोलन जो शोषण तथा अन्याय के विरुद्ध अथवा किसी नयी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए होता है उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है—प्रथम, सामान्य सामाजिक आन्दोलन और द्वितीय, विशिष्ट सामाजिक आन्दोलन। विशिष्ट सामाजिक आन्दोलन को पुनः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, क्रांतिकारी सामाजिक आन्दोलन और दूसरा, सुधार आन्दोलन। इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार और भी होता है जिसमे धार्मिक आन्दोलन तथा शोभनाचार आन्दोलन को रखते है।

निम्नलिखित चार्ट द्वारा इस वर्गीकरण को और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—

सामाजिक आन्दोलन

1	2	3
सामान्य सामाजिक आन्दोलन	विशिष्ट सामाजिक आन्दोलन 1. क्रान्तिकारी आन्दोलन (सामाजिक क्रान्ति) 2. सुधार आन्दोलन	अन्य 1. धार्मिक आन्दोलन 2 शोभनाचार आन्दोलन

सामान्य सामाजिक आन्दोलन का कोई एक निश्चित उद्देश्य न होकर सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को संशोधित करना होता है जबकि विशिष्ट सामाजिक आन्दोलन किसी एक निश्चित उद्देश्य को सामने रखकर आगे बढ़ता है। विशिष्ट सामाजिक आन्दोलन के दोनों प्रारूप—क्रान्तिकारी आन्दोलन और सुधार आन्दोलन—वर्तमान सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन चाहते है। दोनों मे मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ क्रान्तिकारी आन्दोलन मूलभूत परिवर्तन के लिए परम्परागत सामाजिक नियमों तथा मूल्यों का विरोध करता है और उसके स्थान पर नये नियमों और मूल्यों को थोपना चाहता है, वही पर सुधार आन्दोलन परम्परागत नियमों तथा मूल्यों को न्यूनाधिक अंशों में स्वीकार कर उसके दोषो को दूर करने का प्रयत्न करता है। सुधार आन्दोलन के

अन्तर्गत वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के दोषों की तीव्र आलोचना प्रस्तुत करके उन्हें दूर करने का प्रयास किया जाता है। सुधार आन्दोलन की विशेषता यह है कि यह समाज के आदर्श की ओर अधिक उन्मुख होता है। साधारणतया अहिंसा का माध्यम इसमें अधिक उचित बतलाया जाता है जबकि क्रान्तिकारी आन्दोलन हिंसात्मक कार्यवाहियों को भी लक्ष्य-पूर्ति के लिए उचित बतलाता है। सुधार आन्दोलन चूँकि किसी एक सामाजिक व्यवस्था के मूलभूत दोषों के निराकरण तक ही सीमित होता है, यही कारण है कि क्रान्तिकारी आन्दोलन की तुलना में इसका क्षेत्र संकुचित पाया जाता है। क्रान्तिकारी आन्दोलन का क्षेत्र अधिक विस्तृत इसलिए है क्योंकि इसका उद्देश्य सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का पुनर्गठन करना होता है। आगामी पृष्ठों पर अब हम अलग-अलग इन दो प्रमुख आन्दोलनों—सामाजिक क्रान्तिकारी आन्दोलन (सामाजिक क्रान्ति) और सुधार आन्दोलन—का वर्णन करेंगे।

धार्मिक आन्दोलन किसी धर्म-विशेष अथवा उसके सम्प्रदाय से सम्बन्धित होता है। धार्मिक आन्दोलन तब प्रारम्भ होता है जब लोग अव्यवस्थित अवस्था में होते हैं तथा उन्हें कोई स्पष्ट रास्ता दृष्टिगत नहीं होता। निराशा की स्थिति धार्मिक आन्दोलन का मुख्य स्रोत हुआ करती है। अलौकिक शक्ति जो उस धर्म से सम्बन्धित होती है, अनायास ही लोगों का ध्यान केन्द्रित कर लेती है। एक ही देवी-देवता के उपासक साथ-साथ अपनी उद्देश्य-प्राप्ति में लग जाते हैं। उन्हें एक पन्थ (sect) से सम्बन्धित किया जा सकता है। धार्मिक आन्दोलन अपने को समाज सुधार से सम्बन्धित बतलाते हुए आगे बढ़ता है।

शोभनाचार भी आन्दोलन के अन्तर्गत इस आधार पर रखा जाता है कि उससे लोगों में रहन-सहन तथा प्रस्थिति-परिवर्तन की भावना बढ़ती है। शोभनाचार के माध्यम से व्यक्तियों के व्यवहारों को भी नियन्त्रित किया जाता है, वैसे अन्य आन्दोलनों की भाँति न तो इसका कार्य एक निश्चित उद्देश्य होता है और न ही उसके स्थायी नेतृत्व करने वाले लोग। लेकिन शोभनाचार के द्वारा व्यक्ति के मूलभूत आन्तरिक भावों को आँका जा सकता है। व्यक्ति में परिवर्तन की इच्छा है अथवा नहीं, वह नये-नये परिवर्तनों को चाहता है या नहीं, उसमें अन्य से अलग दीखने की भावना है अथवा नहीं, आदि का पता शोभनाचार से व्यक्त होता है। शोभनाचार वह माध्यम है जिससे व्यक्ति अपने को व्यक्त कर पाता है। यही कारण है कि शोभनाचार कभी-कभी नयी सामाजिक व्यवस्था देने में समर्थ हो पाता है।

पाँचवाँ अध्याय

सामाजिक सुधार आन्दोलन

सामाजिक सुधार आन्दोलन सामाजिक आन्दोलन का वह प्रकार है जो सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करते हुए उसके दोषों के निराकरण का प्रयत्न करता है। सुधार आन्दोलन का एक विशिष्ट उद्देश्य हुआ करता है जिसकी प्राप्ति साधारण-तथा शान्तिमय और नियमबद्ध प्रयत्नों द्वारा की जाती है। वैसे कभी-कभी हिंसात्मक गतिविधियों को भी टाला नही जा सकता। लेकिन यह चरण सामाजिक सुधार आन्दोलन की विशेषता नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि अहिंसात्मक गति-विधियाँ ही सामाजिक सुधार आन्दोलन का साधन हुआ करती हैं। सामाजिक सुधार आन्दोलन एक निश्चित क्षेत्र को प्रभावित कर उसमें निहित दोषों को दूर करने का प्रयत्न करती है। सुधार आन्दोलन वर्तमान रूढ़ियों को अपनाकर, उसी के माध्यम से सामाजिक दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता है। नैतिक आधार पर आन्दोलन को समर्थन इस कारणवश प्राप्त होता है कि उसके उद्देश्य बहुत अच्छे हुआ करते हैं। सुधार आन्दोलन को लोग आदर के साथ इसलिए देखते हैं क्योंकि वह वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करते हुए उसे आदर्श प्रारूप देने का प्रयत्न करता है। वर्तमान सामाजिक संस्थाएँ भी इस कार्य में सहायक सिद्ध होती हैं—जैसे विद्यालय, मन्दिर, प्रेस, क्लब तथा सरकार आदि के माध्यम से सुधार आन्दोलन को बल मिलता है। सुधार आन्दोलन की यह विशेषता है कि वह जनमत को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि सुधार आन्दोलन का विरोध बिल्कुल नहीं होता। इस आन्दोलन का वे लोग विरोध करते हैं जो अभी तक दूषित सामाजिक व्यवस्था से लाभ उठाते रहे हैं। चूँकि सुधार इसी दूषित सामाजिक व्यवस्था को ठीक करने के लिए होता है जिससे अधिकांश लोग लाभान्वित होते हैं, यही कारण है कि सुधार आन्दोलन का समर्थन कुछ लोगों को छोड़कर बाकी सभी लोग करते हैं। सुधार आन्दोलन शोषित लोगों के कल्याण के लिए कृतसंकल्प होता है लेकिन ऐसा करने में उसे उस वर्ग से नेतृत्व तथा उचित समर्थन नहीं मिल पाता। मध्यम वर्ग आन्दोलन के उद्देश्य तथा आदर्श से प्रभावित होकर इसका समर्थन करता है।

सामाजिक सुधार आन्दोलन का अर्थ

परिभाषा के रूप में कहा जा सकता है कि सामाजिक सुधार आन्दोलन वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसके कारण एक नये सामाजिक संगठन का निर्माण, नये मूल्यों के प्रति झुकाव तथा उचित व्यक्तित्व का विकास सम्भव हो पाता है।

भारतीय समाज पर धर्म तथा नियतिवाद का प्रभाव बहुत स्थायी तौर पर

ब्रह्म समाज तथा समाज सुधार

ब्रह्मसमाज की स्थापना करके राजा राममोहन राय ने समाज सुधार कार्य में उल्लेखनीय योगदान दिया। डॉ० रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, 'प्राचीन जाति प्रथा और नवीन मानवतावाद के बीच जो खाई है, अन्धविश्वास और विज्ञान के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी राज्य तथा जनतन्त्र के बीच जो अन्तराल है तथा बहुदेववाद एवं शुद्ध ईश्वरवाद के बीच जो भेद है, उन सारी खाइयों पर पुल बांधकर, भारत को प्राचीन से नवीन की ओर भेजने वाले महापुरुष राजा राममोहन राय हैं।' समाज सुधार आन्दोलन में अनेक मनीषियों ने पदार्पण किया, लेकिन इन सबमें अग्रणी निःसन्देह राममोहन राय को कहा जाता है। ब्राह्मण होते हुए भी आपको अरबी और फारसी का अच्छा ज्ञान प्राप्त था। संस्कृत का अध्ययन परम्परागत था। अंग्रेजी की भी शिक्षा सराहनीय हुई थी। यही सब कुछ प्रमुख कारण था कि राममोहन राय ने हिन्दू समाज और धर्म का विधिवत् विवेचन कर उसकी कमियों की कटु आलोचना की।

राजा राममोहन राय ने अपने विचारों को सुधार-कार्य में परिणत किया है। उन्होंने सामाजिक समस्याओं पर ही अपने बौद्धिक स्तर का परिचय दिया है ताकि सर्वसाधारण उससे अवगत होकर सुधार के लिए मार्ग प्रशस्त कर सके। राजा राममोहन राय ने 1830 ई० में 'ब्रह्मसमाज' को व्यवस्थित रूप मे शुरू किया वैसे इसकी शुरुआत 1828 ई० में ही हो गयी थी। ब्रह्मसमाज वास्तव में कलकत्ता यूनिटेरियन सोसायटी का एक परिष्कृत रूप था जिसे प्रारम्भ में सफलता नहीं मिल सकी थी। इस संस्था के माध्यम से उन्होंने सभी धर्मों (हिन्दू, इस्लाम, ईसाई) की बुराइयों का प्रदर्शन कर उसके विरोध में जनमत तैयार करना प्रारम्भ किया। वे ऐसे धर्म के अनुयायी थे जो सभी के प्रति सहिष्णुता का भाव रखे। उन्होंने धर्म के नाम पर चलने वाले अन्धविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। वे मूर्ति-पूजा के विरोधी थे यही कारण था कि उन्हें कुछ समय के लिए घर भी त्यागना पड़ा था। लेकिन निराकार ब्रह्म में वे विश्वास रखते थे। वे ऐसे धर्म के विरोधी थे जो सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति में बाधक हो। वे वेदों तथा उपनिषदों में वर्णित धर्म के समर्थक थे जो विश्व को एक शाश्वत परम्परा देने की क्षमता रखता हो।

ब्रह्मसमाज वह सामाजिक आन्दोलन था जो निराकार ईश्वरवादी धार्मिक मान्यता पर टिका हुआ था तथा जिसका समर्थन उपनिषदों ने भी किया है। ब्रह्म-समाज के ऊपर यद्यपि मध्यकालीन भारतीय सुधार परम्परा (पन्थों) का प्रभाव पड़ा था फिर भी वह उनसे कुछ भिन्न था। ब्रह्मसमाज के आदर्शों को व्यावहारिक रूप देने के लिए एक 'प्रार्थना भवन' का निर्माण किया गया। इस प्रार्थना भवन मे बिना किसी भेदभाव के वे सभी लोग भाग ले सकते थे जो एक संयमित ढंग से अलौकिक शक्ति मे विश्वास करते हुए उसमें रत रहेंगे जो शाश्वत, अमूर्त, अव्यक्त तथा अज्ञेय है तथा जो इस सृष्टि का संचालक है। लेकिन इस अमूर्त शक्ति का कोई नाम नही रखा गया था और न ही उसकी कोई मूर्ति या तस्वीर थी। बलि चढ़ाने का सर्वथा इसमें विरोध किया गया था। मद्यपान निषेध बतलाया गया था। इस प्रार्थना भवन के नियमों मे यह स्पष्ट किया गया जो वस्तु किसी समूह की पूजनीय है उसकी निन्दा नहीं की जायेगी। प्रार्थना भवन में की जाने वाली प्रार्थनाओं, उपदेशों, व्याख्यानो

तथा मन्त्रों का प्रयोग इसलिए किया जायेगा ताकि सृष्टि के स्रष्टा और पोषक के प्रति मनन हो और जिससे नैतिकता, उदारता तथा सद्गुणों के विकास को प्रोत्साहन मिले और जिससे विभिन्न धर्मों तथा पन्थों के लोगों में एकमतता विकसित हो।

ब्रह्मसमाज की बैठक प्रत्येक शनिवार को संध्या के समय होती थी जिसमें प्रार्थना के अतिरिक्त धार्मिक ग्रन्थों से वे अंश उद्धृत किये जाते थे जो वास्तव में सामाजिक हित में उचित हैं। यह दृष्टिकोण उपनिषदों की ज्ञानाश्रयी शाखा से अधिक ओतप्रोत दृष्टिगत होता है। इस संस्था के माध्यम से जाति-पांति के भेदभाव, मूर्ति-पूजा, तथा अन्धविश्वासों को अनुचित प्रमाणित करने का भरसकत प्रयास किया गया। ब्रह्मसमाज की पूजाविधि तथा सिद्धान्तों में राष्ट्रवादिता परम्परागत ब्राह्मणवाद, मानवतावादी दृष्टिकोण तथा ईसाइयों के कल्याणकारी दृष्टिकोणों को अन्तर्निहित किया गया था। पश्चिमीकरण का प्रभाव भारतीय समाज पर अनिवार्य रूप से पड़ेगा इसकी पृष्ठभूमि ब्रह्मसमाज में ही स्पष्ट हो जाती है। ब्रह्मसमाज के माध्यम से इस्लाम तथा ईसाई दोनों ही धर्मों के आदर्शों को हिन्दू समाज पर भी लागू किया गया। ब्रह्मसमाज बंगाल में अधिक शक्तिशाली रहा; वैसे इसकी शाखाएँ महाराष्ट्र तथा मद्रास मे भी थी। ब्रह्मसमाज को एक सुधारवादी आन्दोलन का रूप देने का श्रेय केशव चन्द्र सेन को है।

ब्रह्मसमाज ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया। इस कृत्य का स्रोत राजा राम-मोहन राय की पुस्तक 'तुहफातुल मुवाहिदीन' में मिलता है। इस पुस्तक मे जहाँ मूर्ति-पूजा का खण्डन किया गया वहीं पर एकेश्वरवाद की प्रशंसा भी की गयी। मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में कहा गया कि जो एक असत्य सत्ता में विश्वास कराने के अतिरिक्त सामाजिक विघटन को भी बढावा देती है, ऐसे व्यवहार की भर्त्सना एक सामाजिक आवश्यकता है। ब्रह्मसमाज के अनुयायियों का यह मत था कि यदि मूर्तिपूजा प्रथा का अन्त कर दिया जाय तो इससे सम्बन्धित समस्याओं का अन्त अपने आप हो जायेगा। मूर्तिपूजा का समर्थन चूँकि पुरोहित वर्ग भी करता है अत: उसकी समाप्ति भी आवश्यक है। इसके लिए ब्रह्मसमाज ने एक अभियान चलाया ताकि सर्वसाधारण शास्त्रों के बारे मे पूर्ण परिचित हो जायें और फिर पुरोहित वर्ग की आवश्यकता महसूस न की जाय।

ब्रह्मससाज के माध्यम से 'सती-प्रथा' को समाप्त करने का अभियान प्रारम्भ हुआ। सती-प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक स्त्री को अपने पति की चिता में साथ ही जलना पड़ता था। यदि स्त्री स्वत: नही जलती थी तो उसे उस चिता में जबरदस्ती जला दिया जाता था। राममोहन राय ने स्वयं अपने परिवार की एक स्त्री को इस प्रकार जलाते हुए जब पहली बार देखा तभी से उनके मन में इसके विरुद्ध एक आवाज उठी और आगे चलकर उसे उन्होंने कार्यरूप में परिणत किया। सती-प्रथा एक जघन्य अपराध है तथा मानव समाज के लिए एक अभिशाप है। अत: उसका अन्त होना ही चाहिए। अंग्रेज अपने शासन के हित में यही उचित समझते थे कि किसी भी प्रकार प्रथाओ के विरुद्ध कोई नियम पारित न किया जाय। यही मत सती-प्रथा के विरुद्ध कानून बनाने के लिए भी था। अंग्रेजों ने इसी कारणवश पुरोहितो से पहले विचार-विमर्श किया कि आखिर सती-प्रथा क्या एक धार्मिक कृत्य है। यदि नही तो इसका अन्त होना चाहिए। 1812 में अंग्रेजी सरकार ने सोलह वर्ष से कम तथा गर्भवती स्त्रियों को सती न होने देने के लिए एक कानून पारित किया। लेकिन 1817 में परम्परा-प्रेमियों तथा असामाजिक तत्वों ने कानून का विरोध प्रारम्भ किया। लेकिन

राजा राममोहन राय स्मृतियों का उल्लेख करते हुए इसे निरन्तर अनुचित कहते रहे और इसके विरोध में तीन पुस्तकों को प्रकाशित किया। इन पुस्तकों का सार यही था सती होना आत्महत्या के समान है। पुरुष और स्त्री समाज रूपी रथ के दो पहिये के समान हैं, अतः एक के साथ इतना अन्याय क्यों? बहुपत्नी-विवाह की प्रथा (बंगाल के कुलीन ब्राह्मण 100 पत्नी तक रखते थे) ने सती-प्रथा को और अधिक जघन्य बना दिया था जिसके कारण एक पुरुष के मर जाने पर अनेकों स्त्रियों को जान से हाथ धोना पड़ता था। यह प्रथा इसलिए और भी अनुचित है क्योंकि यह स्त्री-अधिकार का हनन तथा मानवतावाद का विरोध करता है।

1828 में एक कानून बना जिसके अन्तर्गत विधवाओं को जलाना हत्या का प्रयास करार कर उसके लिए जुर्माने तथा कैद की सजा निश्चित की गयी। यह एक अत्यन्त उच्च कोटि का समाज सुधार कार्य था जिसकी प्राप्ति ब्रह्मसमाज को हुई। 'ब्रह्मसमाज के माध्यम से बहुपत्नी प्रथा का भी विरोध किया गया। एक स्त्री के होते हुए अन्य से विवाह करना सामाजिक अन्याय बताया गया। केवल किन्हीं विशेष परिस्थितियों में दूसरे विवाह की अनुमति दी गयी। सामाजिक न्याय के लिए यह आवश्यक है कि पंचायतों का पुनर्गठन किया जाय। सामाजिक न्याय सभी को बिना किसी खर्च के सुलभ हो सके इसीलिए बिरादरी पंचायतों के माध्यम से अनेकों सामाजिक समस्याओं (विशेषकर जाति से सम्बन्धित) का समाधान किया गया। ब्रह्मसमाज की दृष्टि में पंचायतों के माध्यम से प्राप्त आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था, तानाशाही व्यवस्था से अधिक उचित होगी। इसीलिए ब्रह्मसमाज ने शक्ति के विकेन्द्रीकरण के लिए भरपूर प्रयास किया। ब्रह्मसमाज ने हिन्दुत्व का पुनरुत्थान करते समय उसमें अच्छे यूरोपीय तत्त्वों का भी समावेश किया। ब्रह्मसमाज के माध्यम से समाज के सभी पहलुओं में उल्लेखनीय सुधार सम्भव हो सका। आजकल सामाजिक पुनर्निर्माण के जो कार्यक्रम चल रहे हैं उसके अधिकांश तत्त्व 'ब्रह्मसमाज' की देन कहा जा सकता है। राजा राममोहन राय के बाद देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने ब्रह्मसमाज के माध्यम से अन्य अनेक सुधार कार्य प्रारम्भ किये।

आर्य समाज तथा सुधार कार्य

ब्रह्मसमाज को विदेशी संस्कृति से ओत-प्रोत बतलाते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने आर्य समाज की स्थापना की जिसके माध्यम से उन्होंने सामाजिक सुधार की रूपरेखा प्रस्तुत की और उसे कार्य रूप दिया। आर्य समाज पूर्णरूपेण हिन्दू संस्कृति पर आश्रित कार्यक्रम प्रस्तुत करता था और जिसमें आन्तरिक साधनों से प्रत्येक वांछित उद्देश्य की पूर्ति की बात की गयी थी। व्यवहार अपना अलग होना चाहिए इसे सिद्ध करते हुए दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि खान-पान तोड़ने और जाति-भेद को समाप्त करने से कोई देश नहीं सुधर सकता, ऐसे कामों से बिगाड़ की आशा और बलवती हो जाती है। असत्य को त्याग कर सत्य को ग्रहण करना चाहिए चाहे सत्य वेद में हो, बाइबिल में, या कुरान में। दयानन्द जी भारतीय संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित थे यही कारण था कि उन्होंने 'आर्य समाज' में बाह्य सांस्कृतिक तत्त्वों को स्थान नहीं दिया है। 1875 में सर्वप्रथम बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की गयी। थियोसोफिकल सोसायटी के कार्यकर्ताओं को आर्य समाज का कार्य इतना अच्छा लगा कि वे भी आर्य समाज द्वारा निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति में

लग गये। 1881 तक यह स्थिति रही उसके बाद फिर इन दोनों संस्थाओं ने अलग-अलग कार्य करना प्रारम्भ किया। आर्य समाज ने मूर्तिपूजा का खण्डन किया और वेदों को शाश्वत बतलाते हुए उन्हीं के अनुरूप चलने का सबको उपदेश दिया। 'सत्यार्थ प्रकाश' की भूमिका में ही दयानन्द जी ने लिखा है कि मेरे इस ग्रन्थ के लिखने का मुख्य प्रयोजन सत्य को स्पष्ट करना है, सत्य ज्ञान जो मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार के लिए आवश्यक है। आर्य समाज मुख्यतः दस नियमों पर आश्रित है। वे नियम निम्न हैं—'सत्य का जन्मदाता परमेश्वर है। वह निराकार, पवित्र तथा सर्वव्यापक है। वेद सत्य का प्रतीक है। वेद का ज्ञान प्रत्येक आर्य का धर्म है। सभी कार्य सत्य और असत्य का विचार करके करना चाहिए। संसार की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है। सभी लोगों से प्रेम और प्रस्थिति के अनुरूप बर्ताव करना चाहिए। अविद्या का नाश आवश्यक है। केवल अपनी उन्नति से सन्तुष्ट न होकर सबकी उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।' आर्य समाज ने अपने विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से एक संगठित राष्ट्र की स्थापना का भरसक प्रयत्न किया। यह उसका सबसे प्रमुख सुधार कार्य कहा जा सकता है। आर्य समाज यद्यपि धार्मिक ग्रन्थ (वेद) पर आश्रित था फिर भी उसे केवल धार्मिक आन्दोलन कहना इसलिए उचित नहीं क्योंकि धर्म के आधार पर इसमें लोगों में भेदभाव को स्वीकार नहीं किया गया है। इसका प्रमुख उद्देश्य धर्म द्वारा उस सत्य को ग्रहण कराने से है जिसे सामाजिक पुनर्गठन के लिए आवश्यक माना जाता है। भाषण, भजन और संगीत के माध्यम से जनसाधारण को नवजागरण तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए संगठित किया गया। नैतिकता तथा सामाजिक आदर्श का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। संस्कृत शिक्षा का विकास कर भारतीय-करण की प्रक्रिया का प्रारम्भ भी आर्य समाज की देन माना जा सकता है। अंग्रेजी शिक्षा तथा ज्ञान को संस्कृत के साथ ग्रहण कर उससे लाभान्वित होने की बात आर्य समाज से सर्वप्रथम प्राप्त होती है। जातिवाद तथा अस्पृश्यता की कटु आलोचना इस संस्था द्वारा की गयी। सामाजिक संगठन की निरन्तरता के लिए इन कुरीतियों का अन्त आवश्यक बतलाया गया। नारी-शिक्षा तथा अस्पृश्यता निवारण का कार्य आर्य समाज ने तेजी के साथ किया। भारतीय स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए भी इसे आवश्यक बतलाया गया। जाति-प्रथा मनुष्यों द्वारा बनायी गयी स्तरीकरण का एक प्रारूप है। यदि यह श्रम-विभाजन के लिए उचित है, तो इसे कायम रखना चाहिए लेकिन जातिवाद उसकी एक आवश्यक बुराई है जिसका अन्त आवश्यक रूप से होना ही चाहिए। आर्य समाज ने जातिवाद को समाप्त करने के लिए सभी जातियों से परस्पर सम्बन्ध रखने का आग्रह किया। अछूतोद्धार कार्यक्रम के द्वारा अस्पृश्यों तथा पिछड़े लोगों को वह कार्य करने को कहा गया जिसे पवित्र माना जाता है और वह काम त्यागने के लिए कहा गया जिसे अपवित्र कहा जाता है। उन्हें साफ आदतें सीखने के लिए प्रेरित किया गया। अस्पृश्यों तथा उच्च जाति के लोगों को साथ-साथ कार्य करने तथा सामूहिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रेरित किया गया ताकि दोनों ही प्रकार के लोगों में आपसी प्रेम-भाव का विकास हो तथा दलित लोगों में वह आत्म-सम्मान विकसित हो सके जो उनके 'स्व' के विकास के लिए तथा राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है। इस आन्दोलन का यह परिणाम हुआ कि अस्पृश्यों में आत्मविश्वास जागृत हुआ और वे भी अपने विकास तथा सामाजिक

प्रगति के कार्यक्रमों में लग गये । आर्य समाज ने विस्तृत पैमाने पर शिक्षण संस्थाओं को खोलकर उनके माध्यम से सामाजिक पुर्ननिर्माण का कार्य किया । शिक्षकों ने वर्गों को सगठित करके अनेकों सुधार कार्य सम्पन्न किये जो समय की आवश्यकता थी। 'जातिवाद' को समूल रूप में नष्ट करने के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसमें कहा गया कि कोई भी व्यक्ति अपने नाम के साथ जाति न लिखकर केवल 'आर्य' लिखा करे, इससे जातिवाद का अन्त होगा । किसी भी जाति का किसी कार्य विशेष पर एकाधिकार नहीं है । योग्यता के अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी काम को कर सकता है । पुरोहितवाद और ब्राह्मणवाद का ह्रास तथा धर्मनिरपेक्षीकरण की भावना का विकास इस आन्दोलन से प्राप्त हुआ । सामाजिक विधान के माध्यम से प्रचलित प्रथाओं तथा परम्पराओं में परिवर्तन की बात भी आर्य सामज ने प्रारम्भ की जिसमें आशातीत सफलता प्राप्त हुई । बाल-विवाह का विरोध किया गया, लड़कियों के विवाह की उम्र कम से कम 15 वर्ष निश्चित की गयी । विधवा-विवाह का प्रचलन भी न्यूनाधिक अंशों में प्रारम्भ किया गया । समाज में सभी लोग अपने व्यवहार में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकते हैं, इसी भावना से प्रेरित होने के कारण यहाँ संस्कृतिकरण तथा पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं ने एक साथ कार्य करना प्रारम्भ किया। आर्य समाज ने सुधार कार्यों को किसी एक धर्म या जाति-विशेष तक ही सीमित न रखकर सम्पूर्ण मानव वर्ग के लिए उसे खुला छोड़ा । यही कारण था कि इस आन्दोलन से अधिकांश लोग लाभान्वित हुए । आर्य समाज का झुकाव तार्किक तथा वैज्ञानिक विचारधाराओं की तरफ था । यही कारण था कि अधिकांश शिक्षित लोगों ने इस आन्दोलन का समर्थन किया । आर्य समाज द्वारा चलाये गये सामाजिक आन्दोलन से 'भारतीय संस्कृति' में विकास निःसन्देह चिरस्मरणीय रहेगा ।

रामकृष्ण मिशन तथा समाज सुधार आन्दोलन

स्वामी विवेकानन्द ने 1897 में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जिसका उद्देश्य रामकृष्ण द्वारा प्रतिपादित मानवता के कल्याण के लिए उन सिद्धान्तो को कार्यरूप में परिणत करना था जिनकी समाज को आवश्यकता थी । सर्वसाधारण की सहायता इस मिशन का मुख्य उद्देश्य था जिससे कि लोगों का लौकिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास हो सके । सभी लोगों में भाई-चारे का भाव बढ़े ताकि सहयोगात्मक अन्त.क्रिया को बढ़ावा मिले, यह इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य था। इस मिशन का दृष्टिकोण अधिक व्यापक था । यही कारण था कि इसने न केवल भारत में अपितु विदेशों मे भी सुधार कार्य प्रारम्भ किये । भारत मे संगठित साधु समाज का अग्रज रामकृष्ण मिशन ही है । इस मिशन ने समाज सेवा मानवतावादी विचारों के प्रचार के लिए प्रारम्भ की । इस आश्रम ने गरीबों का आर्थिक स्थिति को मजबूत करने का भी प्रयत्न किया। लोगों का आध्यात्मिक विकास हो इसके लिए शैक्षणिक संस्थानों का गठन भी इस मिशन का उद्देश्य रहा है । विवेकानन्द ने जनजागृति की, जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला । 'शक्ति' की जो व्याख्या विवेकानन्द ने की है वही क्रान्तिकारी आन्दोलनों का प्रेरणा स्रोत रहा है ।

थियोसोफिकल सोसायटी और सुधार आन्दोलन

इस सोसायटी का उद्भव न्यूयार्क (अमरीका) में 1875 में हुआ था । इस

संगठन का मुख्य उद्देश्य था विश्वबन्धुत्व की स्थापना करना जिसमें वर्ण, प्रजाति, धर्म आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं रह जाता है; तथा विश्व के आदर्शात्मक साहित्य तथा वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति को बढ़ावा देना। श्रीमती ब्लावत्सकी (रूसी महिला) इस आन्दोलन की जन्मदात्री थीं और उन्होंने ही इसे भारतवर्ष में प्रारम्भ किया। 1882 में मद्रास के पास इस संगठन का एक कार्यालय खोला गया और तभी से इसे भारत में इसका प्रारम्भ माना जाना चाहिए। श्रीमती एनी बीसेन्ट ने सर्वहितकारी समाज के उद्देश्यों के अनुसार भारत में सुधार कार्य प्रारम्भ किया। महात्मा गांधी ने श्रीमती एनी बीसेन्ट के कार्यों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि 'उन्होने अपना सर्वस्व भारत के लिए बलिदान कर दिया और उस सामाजिक राजनीतिक पृष्ठभूमि को तैयार किया जिसकी भारत को आवश्यकता थी।' इस संगठन ने एकेश्वरवाद को स्वीकार करते हुए कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। सभी धर्मों की अच्छी बातों को यह आन्दोलन स्वीकार करता है। इस संगठन ने भारतवासियों को अपने समाज के प्रति अधिक आकृष्ट होने की सलाह दी। यही कारण था कि अंग्रेजी शासन-काल में तीव्र गति से भारतीयकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। इस संगठन ने पश्चिम के उन तत्त्वों को भी ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया जो भारत के लिए लाभप्रद थे। इस आन्दोलन ने एक नया दृष्टिकोण यह रखा कि प्राचीन सामाजिक मूल्यों के आधार पर भारत का पुनर्निर्माण किया जा सकता है। जो सामाजिक कुरीतियाँ हैं उन्हे आन्तरिक साधनों से ही समाप्त किया जा सकता है। बाल-विवाह का विरोध तथा अन्तर्जातीय विवाह का पक्ष इस संस्था ने किया। जाति-व्यवस्था में निहित अस्पृश्यता, जातिगत दूरी तथा खानपान के नियमों की कठोरता का इस सोसायटी ने विरोध किया। अछूतोद्धार का कार्यक्रम भी इस सभा द्वारा कार्यान्वित किया गया। समाज की अधिकांश सामाजिक समस्याएँ समाप्त हो जायेंगी, यदि समाज से गरीबी, गंदगी, अशिक्षा आदि को समाप्त कर दिया जाय। यही कारण था कि इस सोसायटी ने इन्हें समाप्त करने के लिए कार्यक्रम बनाये। शिक्षा ऐसी हो जिससे नैतिकता का विकास हो और जिससे राष्ट्रीय चेतना को प्रोत्साहन मिले। इस उद्देश्य को सामने रखकर इस सोसायटी ने एक शिक्षा का कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया।

बंगाल का समाज सुधार आन्दोलन

बंगाल का समाज सुधार आन्दोलन ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से अधिक प्रभावित रहा; वैसे जन्मदाता के रूप मे हम राममोहन राय को याद करते रहेंगे। विधवा-विवाह की समस्या का समाधान किस प्रकार हो, इसके लिए ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने आन्दोलन प्रारम्भ किया। ऐसी स्त्रियाँ, जिनके पति की मृत्यु विवाह के कुछ ही दिन बाद हो जाती है, यदि उन्हें फिर से विवाह की अनुमति नहीं दी जाती तो हो सकता है कि वे भविष्य में उन कार्यों को करें जिससे समाज में दुराचार बढ़ता है और जिसे अनैतिक कहा जाता है। उन्होंने इस आन्दोलन में हिन्दू धर्मशास्त्रों (पाराशर संहिता) का सहारा लिया जिसमें कहा गया है कि यदि पति मर गया है, लापता है अथवा मानसिक रोग से पीड़ित है तो पत्नी दूसरा विवाह कर सकती है। विधवा-विवाह को मान्यता दिलाने के पश्चात् ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने 1877 में कलकत्ता के पास एक विधवा-आश्रम की स्थापना की, जहाँ विधवाओं को अध्यापन कार्य के लिए

प्रशिक्षित किया जाता था। उन्हें लघु उद्योग-धन्धों का भी प्रशिक्षण दिया जाता था जिससे कि वे आर्थिक दृष्टिकोण से आत्म-निर्भर हो सकें। बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों में प्रचलित बहुपत्नीत्व की समस्या का समाधान भी विद्यासागर ने किया। कुलीन ब्राह्मण दहेज के लालच में एक से अधिक (कभी-कभी यह संख्या 100 तक हो जाती थी) विवाह करता था। ऐसी स्थिति में स्त्रियों को पत्नी के रूप में अनेक मानसिक यातनाओं को सहन करना पड़ता था। अधिकांश पत्नियों को मायके में ही जीवन व्यतीत करना पड़ता था। यही कारण था ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने बहुपत्नीत्व का विरोध किया। शराबखोरी बन्द करने के लिए भी ईश्वरचन्द्र ने प्रयत्न किया। उनका मत था शराबखोरी व्यक्ति तथा समाज को विघटित कर देती है।

महाराष्ट्र का समाज सुधार आन्दोलन

महादेव गोविन्द रानाडे महाराष्ट्र समाज सुधार आन्दोलन के अग्रणी कहे जाते हैं। रानाडे ने अन्य समाज-सुधारकों की भाँति जातीयता तथा प्रजातीयता के आधार पर किये जाने वाले भेदभाव का विरोध किया। तत्कालीन राजाओं तथा तालुकेदारों ने भी इस कार्य में सहयोग किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने भी विधवा-विवाह का समर्थन किया तथा नशाबन्दी के लिए सामाजिक सहयोग प्राप्त किया। बम्बई में 'प्रार्थना सभा' की स्थापना इन्हीं सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की गयी। नारी-शिक्षा की बढ़ोत्तरी के लिए भी इस आन्दोलन ने सराहनीय कार्य किया। अतः कहा जा सकता है कि इस आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य जातिगत भेदभाव को समाप्त करना, विवाह-संस्कारों में सुधार, विधवा-विवाह का समर्थन, अस्पृश्यता का विरोध तथा पुरोहितवाद को समाप्त करना था। सुधार-आन्दोलनकर्त्ताओं का मत था कि यदि सामाजिक बुराइयों का अन्त सम्भव हो सका तो निश्चय ही एक नये दृढ़ सामाजिक संगठन का जन्म हो सकेगा। सामाजिक एकता समाज के लिए आवश्यक है इसके लिए भी रानाडे ने प्रयत्न किया। समुदाय, संस्था तथा प्रथाओं पर जो अनावश्यक प्रतिबन्ध लगे थे उनके अन्त के लिए भी रानाडे ने प्रयत्न किया। उनका मत था कि ये प्रतिबन्ध व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए होते हैं, अतः उनका अन्त आवश्यक है। 'इण्डियन नेशनल रिफॉर्म कांग्रेस' द्वारा भी सुधार आन्दोलन के उद्देश्यों को पूरा किया गया।

रानाडे की मृत्यु के बाद (1901) गोपाल कृष्ण गोखले ने सुधार आन्दोलन को कायम रखा। गोखले ने 1905 ई० मे *'सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी'* की स्थापना की जिसका प्रमुख उद्देश्य राष्ट्र-निर्माण के कार्यों को पूरा करना था। एक ऐसे भारतीय समाज का निर्माण जिसका सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक पहलू दृढ़ हो। अंग्रेजों की देख-रेख मे स्वदेशी सरकार की स्थापना कर लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना इस सोसायटी का एक प्रमुख कार्यक्रम रहा है। गोखले का मत था कि सुधार आन्दोलन में धर्मनिरपेक्षता के माध्यम से अधिक सफलता प्राप्त की जा सकती है। आध्यात्मिक विकास भी समाज सुधार के लिए आवश्यक है, इसे स्वीकार करते हुए गोखले ने सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को शिक्षित करने का अभियान जारी रखा।

डी० के० कर्वे ने भी गोखले के अनुसार सुधार कार्यों में अपना जीवन अर्पित कर दिया। विधवा-विवाह संघ के माध्यम से उन्होने विधवाओं को सामाजिक सम्मान देने का प्रयत्न किया। हिन्दू विधवा-गृह तथा महिला विद्यालय की स्थापना

उनके प्रमुख कार्यों में एक है। निष्काम कर्मठता से उन्होंने नारी-जाति की अत्यधिक सेवा की।

बाल गंगाधर तिलक भी सुधार आन्दोलनकारियों में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनका लक्ष्य सम्पूर्ण समाज था। केवल एक भाग मे सुधार से समाज का सुधार नही हो जाता, सम्पूर्ण समाज का सुधार आवश्यक है। तिलक गीता के कर्मयोग से अधिक प्रभावित थे। स्त्री-शिक्षा के वे हामी थे। जाति की कट्टरता से उन्हें भी चिढ़ थी। सुधार कार्य सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक होना चाहिए ऐसा तिलक का विचार था।

बीसवी सदी का सुधार आन्दोलन

महात्मा गांधी आधुनिक युग के महान् समाज सुधारक के रूप में सदैव याद किये जाते रहेंगे। एनी बीसेन्ट ने महात्मा गांधी के बारे मे लिखा है कि गांधी एक उच्चकोटि के समाज-सुधारक हैं। एक कुशल राजनीतिक के साथ-साथ महात्मा गांधी का समाज सुधार कार्य विशेष उल्लेखनीय इसलिए है क्योंकि उन्होने सुधार कार्यों के सामने राजनीतिक उद्देश्यों को गौण कर दिया है। वे प्रत्येक मानव कल्याण के बारे में जागरूक थे चाहे वह किसी भी वर्ण और धर्म का क्यों न हो। उनका कहना था कि मानव धर्म हिन्दू धर्म से भी श्रेष्ठ है। नियतिवाद के स्थान पर प्रज्ञावाद को बढ़ावा देने में ही समाज का कल्याण है ऐसा गाधी जी का मत था। सेवा और प्रेम के माध्यम से सभी सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति पर उनकी आस्था थी। अहिंसा वह अस्त्र है जो प्रत्येक लक्ष्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध होगा—महात्मा जी का इसमें दृढ़ विश्वास था। किसानों तथा श्रमिकों की स्थिति मे सुधार समाज सुधार की पहली दशा होनी चाहिए। यह तभी सम्भव होगा जब लोग अपने अधिकार से अधिक कर्त्तव्य के बारे में जागरूक होंगे। हृदय-परिवर्तन से ही वास्तविक सामाजिक प्रगति सम्भव है। गांधी जी ने भी जातिभेद, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, विधवा-विवाह पर प्रतिबन्ध आदि का विरोध किया। अछूतोद्धार गांधी जी का एक प्रमुख सुधार कार्य-क्रम था जिसके अन्तर्गत उन्होंने अछूतों को एक सराहनीय सामाजिक प्रस्थिति देने पर बल दिया। अछूतों को अछूत न कहकर 'हरिजन' शब्द से सम्बोधित करने तथा उनके अधिकारो को दिलाने के लिए वे निरन्तर प्रयत्न करते रहे। अस्पृश्यों की समस्या को उन्होने राष्ट्रीय समस्या मानकर बड़े पैमाने पर उसके हल की बात की। धर्म के द्वन्द्व मे न पडकर सत्य का पालन सदैव लाभप्रद होगा। स्त्रियो को पुरुषों के समान एक सा अधिकार प्राप्त होना चाहिए। विवाह आवश्यक है लेकिन इसकी कुरीतियो (जैसे दहेज, बाल-विवाह, विधवा-विवाह आदि का समाधान आदि) का निवारण आवश्यक है। विवाह-विच्छेद यदि आवश्यक हो तो उसकी अनुमति मिलनी चाहिए। पर्दा-प्रथा का भी अन्त समाज के हित में होगा ऐसा महात्मा जी का मत था। वेश्यावृत्ति तथा देवदासी प्रथा के अन्त के लिए भी उन्होंने कई कार्यक्रम कार्यान्वित किये। स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग समाज के हित में है, अतः सभी को अपने ही देश की बनी वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिए। मदिरापान का विरोध उन्होंने मध्यम वर्ग तथा गरीबो को सम्बोधित करके किया। मद्यपान निषेध इसलिए आवश्यक है क्योंकि देश का करोड़ों रुपया अन्य देशों को इसके लिए जाता है। गरीब शराब के नशे मे अपने आश्रितों को अनेक प्रकार के कष्ट देता है अतः उसे शराब का सेवन नही करना चाहिए। चरखा

तथा खादी के द्वारा आर्थिक पहलू में सुधार की बात गांधी जी ने समाज को सिखाई। कुटीर उद्योग-धन्धों का विकास भारत जैसे राष्ट्र के लिए आवश्यक है। परम्परागत पेशों को करने से लोग विशेषीकरण को प्राप्त करेंगे, अतः जातिगत पेशों को हेय नहीं समझना चाहिए। आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो जिसमें शोषण तथा विषमता न हो। विज्ञान तथा पश्चिमी सभ्यता को उस रूप में अवश्य अपनाया जाना चाहिए जिसकी भारतीय समाज को आवश्यकता है। लेकिन उस पश्चिमी सभ्यता का बहिष्कार अवश्य करना चाहिए जिससे शोषण और साम्राज्यवाद को बढ़ावा मिलता है। नगरीय तथा ग्रामीण जीवन के बीच बढ़ती हुई दूरी को कम करने का प्रयास भी गांधी जी का एक प्रमुख समाज सुधार कार्य कहा जा सकता है।

जवाहरलाल नेहरू निःसन्देह भारतीय समाज सुधार आन्दोलन के एक ऐसे कार्यकर्ता थे जिन्होंने ऐसी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए निरन्तर प्रयास किया जो समाजवाद पर आधारित हो। गांधी ने नेहरू जी के बारे में एक बार कहा था कि यद्यपि यह व्यक्ति हिन्दुस्तानी भाषा नहीं बोलता फिर भी यह वर्तमान सामाजिक समस्याओं का निवारण करके ही रहेगा। यही कारण है कि मैं उसे अपने उत्तराधिकारी के रूप में पाता हूँ। नेहरू जी के सुधार आन्दोलन की यह विशेषता है कि उसमें जहाँ एक ओर पूँजीवादी आर्थिक पहलू की आकांक्षा है वहीं पर मार्क्सवादी विचार श्रमिकों की स्थिति में सुधार के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। पश्चिमीकरण समाज के लिए उचित है यदि उससे वैज्ञानिक और तार्किक ज्ञान की वृद्धि हो रही हो। यही कारण था कि नेहरू जी ने कभी भी पश्चिमीकरण का विरोध तब तक नहीं किया जब तक कि वह राष्ट्रीय एकीकरण के लिए हानिकारक दृष्टिगत नहीं होता। सामाजिक विरासत के तत्त्व समाज सुधार कार्य में अपनाये जा सकते हैं लेकिन उन्हीं से सदैव नियन्त्रित होना उचित नहीं। समय के साथ-साथ व्यवहार में परिवर्तन ही आधुनिकीकरण है अतः सुधार आन्दोलन को इसी आधुनिकीकरण की प्राप्ति करनी चाहिए। धर्मप्रधान देश होते हुए भी हमारा दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्षीकरण की ओर होना चाहिए क्योंकि सभी धर्म के लोग एक ही नैतिकता का अनुसरण करते हैं। उन्होंने जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता का जमकर विरोध किया। सिद्धान्त और व्यवहार में समन्वय नेहरू जी की सबसे बड़ी विशेषता है। पंचशील का अनुसरण प्रत्येक समाज के लिए आवश्यक है। विज्ञान का अनुकरण औद्योगिक क्रान्ति के लिए आवश्यक है। औद्योगिक क्रान्ति भारतीय समाज के पुनर्निर्माण के लिए भी आवश्यक है अतः उसे नियोजन के माध्यम से समाज में लोकप्रिय बनाना एक आवश्यक दशा है। आर्थिक विकास की सफलता के लिए सरकारी तथा निजी क्षेत्रों का आपसी सहयोग आवश्यक बतलाते हुए भारतीय सामाजिक नियोजन के अन्तर्गत उन्होंने दोनों ही क्षेत्रों की महत्ता को स्वीकार किया है। यही कारण है कि सरकारी तथा निजी दोनों क्षेत्र अपने-अपने ढंग से सामाजिक प्रगति के उद्देश्य प्राप्ति में लगे हैं।

सुधार आन्दोलन जिसका वर्णन पिछले पृष्ठों पर किया गया है मुख्य रूप से अग्रलिखित तत्त्वों को देने में सफल हो सका है—

(1) एक नया सामाजिक संगठन (जो समाजवादी सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है),
(2) नये मूल्य (जो समय की पुकार है),
(3) नया व्यक्तित्व (जिसकी समाज को आवश्यकता है)।

सामाजिक सुधार आन्दोलन तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन में अन्तर

सुधार तथा क्रान्ति सामाजिक उद्देश्य प्राप्ति के साधन हैं। सुधार तथा क्रान्ति दोनों ही सामाजिक आन्दोलन के प्रकार के रूप मे जाने जाते हैं। दोनों मे मूलभूत अन्तर निम्न है—

सुधार आन्दोलन	क्रान्तिकारी आन्दोलन
1. यह सामाजिक संगठन के किसी एक पहलू से सम्बन्धित होता है और उसी में परिवर्तन के लिए प्रयत्न करता है।	सम्पूर्ण सामाजिक संगठन को परिवर्तित करना इस आन्दोलन का उद्देश्य हो जाता है।
2. इसका सम्बन्ध एक समय में किसी एक संस्था से होता है। यही कारण है कि इसमें सामाजिक व्यवस्था पूरी तरह से भंग नही होती।	यह समस्त सामाजिक संस्थाओं को प्रभावित करता है यही कारण है कि सामाजिक व्यवस्था मूलभूत रूप से परिवर्तित हो जाती है।
3. सुधार आन्दोलन जनरीतियों तथा रूढ़ियों को स्वीकार करते हुए उसमे सशोधन का सुझाव प्रस्तुत करता है।	क्रान्तिकारी आन्दोलन इन रूढ़ियों को स्वीकार नही करता। उनके स्थान पर वह नये नैतिक मूल्यों को प्रस्तुत करता है।
4. सुधार आन्दोलन को समाज श्रद्धा की दृष्टि से देखता है तथा उसे सम्मान प्राप्त होता है क्योंकि वह वर्तमान व्यवस्था को स्वीकार करते हुए उसमे सुधार की बात करता है।	इस आन्दोलन को लोग प्रारम्भ में अनुचित कहते हैं। सामाजिक संस्थाएँ भी इनका विरोध करती हैं।
5. सुधार आन्दोलन जनमत का समर्थन प्राप्त करते हुए आगे बढ़ता है।	यह जनमत का विरोध करते हुए अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर होता है।
6. सुधार आन्दोलन साधारणतया दबे या शोषित लोगों के कल्याण के लिए होता है लेकिन आन्दोलन में भाग लेने वाले लोग उस वर्ग के न होकर मध्यम या उच्च वर्ग के हुआ करते हैं।	जिस वर्ग से सुधार सम्बन्धित होता है साधारणतया वही लोग उस आन्दोलन में भाग लेते हैं।
7. सुधार आन्दोलन बिना व्यवस्था को बदले अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है।	इस आन्दोलन में तीव्र सामाजिक परिवर्तन उद्देश्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

छठा अध्याय

सामाजिक क्रान्ति

सामाजिक क्रान्ति से तात्पर्य परम्परा से चली आ रही सामाजिक व्यवस्था में उस मूलभूत परिवर्तन से है, जिसके लिए समाज जागरूक नहीं रहता है। यह परिवर्तन भी इस प्रकार का होता है जिसमें सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं का बिना विचार किये ही सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन हो जाता है। क्रान्ति के फलस्वरूप सरकार के रूप में परिवर्तन हो जाता है, समाज में एकता की कमी हो जाती है, और सामाजिक अस्त-व्यस्तता में वृद्धि हो जाती है। समाज की प्रमुख संस्थाओं—जैसे राज्य, परिवार, धर्म तथा शिक्षा में भी परिवर्तन इस सामाजिक क्रान्ति के फलस्वरूप स्वाभाविक है। समाज में राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक व्यवस्थाएँ होती है। अतः इन व्यवस्थाओं में परिवर्तन क्रमिक तथा धीरे-धीरे न होकर एकाएक हो जाता है तो उसे हम क्रान्ति कहते हैं। क्रान्ति में उद्विकास की निरन्तरता टूट जाती है। उद्विकास में परिवर्तन निरन्तर तथा क्रमबद्ध होता रहता है; एक स्थिति का दूसरी स्थिति से एक सम्बन्ध होता है। क्रान्ति में चूँकि निरन्तरता भंग हो जाती है यही कारण है कि किसी भी व्यवस्था के विभिन्न भागों मे कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। परिणामस्वरूप क्रान्ति में अस्पष्टता तथा अनिश्चितता पायी जाती है। जिस व्यवस्था का निर्माण इस क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ है, वह विकासवादी, रूढ़िवादी अथवा अन्य प्रकार की होगी यह नहीं कहा जा सकता। क्रान्ति समाज के किसी भी पहलू में क्यों न हो, उसका प्रभाव समाज के अन्य पहलुओं पर भी पड़ता है। ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति हो, या अमरीका तथा फ्रांस की राजनीतिक क्रान्ति, सभी ने समाज में मूलभूत परिवर्तन किये हैं। प्रत्येक समाज के विभिन्न पहलुओं मे क्रान्ति के तत्त्व विद्यमान रहते है जो समय पाते ही भड़क उठते हैं और पूरा समाज प्रभावित होता है। क्रान्तियो का आविर्भाव यद्यपि एकदम होता है फिर भी विभिन्न कारक जो इनको प्रभावित करते हैं, बहुत पहले से कार्यशील रहते हैं। क्रान्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए बॉय ने लिखा है कि किसी राष्ट्र का मत तथा उसकी संस्थाएँ जितनी स्थिर होगी उतनी ही तीव्र वहाँ की क्रान्ति होगी। जो राष्ट्र या समाज धीरे-धीरे परिवर्तित होते हैं, वहाँ क्रान्तियाँ भयानक नहीं होती। विज्ञान के क्षेत्रों में हुई क्रान्तियाँ अन्य क्षेत्रो में हुई क्रान्तियो से भिन्न प्रकार की होती हैं। कोयला युग, वाष्प युग, तैल युग तथा परमाणु युग में हुए विभिन्न प्रकार के अन्वेषणों के परिणामस्वरूप इस क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। संचार व्यवस्था में जो विकास हुआ है उसे इस क्षेत्र मे क्रान्ति कहा जा सकता है। लेकिन वैज्ञानिक क्षेत्र में जो क्रान्ति होती है उसका संचालन विवेकपूर्ण होता है। साधारणतया इन क्षेत्रों मे इन क्रान्तिकारी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप समाज मे समृद्धता की वृद्धि

होती है। ली बॉन ने ठीक ही लिखा है कि वैज्ञानिक क्रान्ति बुद्धि द्वारा नियन्त्रित तथा संचालित क्रान्ति होती है। आज के युग में विभिन्न प्रकार के रॉकेटों, सैटेलाइटों आदि का निर्माण वैज्ञानिक युग में क्रान्तिकारी परिवर्तन हैं। टेलीविजन की कल्पना आज से एक हजार वर्ष पहले नहीं हुई थी, लेकिन आज वह प्रत्येक घर में एक आवश्यक वस्तु के रूप मे रखा जाता है, इसे हम संचार व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन मान सकते हैं। आज इन वैज्ञानिक अन्वेषणों के परिणामस्वरूप प्रत्येक समाज में मूलभूत परिवर्तन हो रहे हैं, जिन्हें सामाजिक क्रान्ति कहा जा सकता है। बड़ी-बड़ी मशीनों तथा प्रौद्योगिकी के विकास के कारण आज व्यक्ति के सम्बन्ध पूर्ववत् नहीं रहे। भारतवर्ष का ही उदाहरण लिया जा सकता है, यहाँ की सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक स्तरण का विशेष महत्त्व था। समाज में यह स्तरण-व्यवस्था वर्ण या जाति पर आधारित थी। समाज मे सामाजिक प्रस्थिति का क्रम इस प्रकार का था जिससे ब्राह्मणों को सबसे उच्च सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त थी; उसके बाद क्षत्रिय आते थे, फिर वैश्य वर्ण का स्थान था और सबसे बाद में निम्न सामाजिक प्रस्थिति शूद्रों को दी गयी थी। समाज में सामाजिक गतिशीलता को स्थान नही था। जो कुछ थोड़ी सी गतिशीलता पायी भी जाती थी वह क्षैतिज गतिशीलता (horizontal mobility) थी जैसे, ब्राह्मण वर्ण मे ही विभिन्न उपवर्ग जैसे, तिवारी, दुबे और पाण्डेय आदि मे परिवर्तन हो जाया करता था। हिन्दू विवाह संस्था के अनुसार यदि पितृसत्तात्मक परिवार-प्रणाली है तो विवाह के पश्चात् लड़की अपनी जाति के स्थान पर वही नाम लिखेगी जो लड़के की जाति है जिससे उसका ववाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है। मान लीजिए, किसी समुदाय में तिवारी, दुबे और पाण्डेय आदि ब्राह्मण हैं। यदि 'दुबे' लड़की का विवाह तिवारी लड़के से होता है तो विवाह के पश्चात् वह लड़की अपने नाम के आगे 'तिवारी' लिखेगी और इस प्रकार उसकी सामाजिक प्रस्थिति में अंशों का अन्तर आ सकता है। लेकिन एक बात याद रखनी चाहिए कि इस क्षैतिज गतिशीलता के कारण कोई मूलभूत परिवर्तन सामाजिक प्रस्थितियो मे नही होता। सभी लोग प्रदत्त पदो (ascribed status) के आधार पर ऊँच-नीच कहे जाते हैं। इस सामाजिक व्यवस्था मे यदि व्यक्ति अपने वर्ण या जाति से दूसरे वर्ण या जाति में जाना चाहता है तो नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था में लम्बवत् गतिशीलता (vertical mobility) को कोई स्थान नहीं है। लेकिन आजकल विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के कारण तथा आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण के प्रभावों के कारण अब लोग अर्जित पदों (achieved status) पर विश्वास करने लगे हैं। वैवाहिक सम्बन्ध अब अन्तर्जातीय भी होने लगे हैं और इस प्रकार एक ब्राह्मण वर्ण या जाति का व्यक्ति क्षत्रिय जाति के परिवार में सम्बन्ध स्थापित करके एक नयी प्रस्थिति प्राप्त करता है। इस प्रकार की गतिशीलता को हम लम्बवत् गतिशीलता कहते हैं। इस प्रकार की गतिशीलता के कारण भारतीय समाजों में व्यक्तियों के सम्बन्धों मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। अब जाति के स्थान पर व्यक्ति उच्च, मध्य या निम्न वर्ग का व्यक्ति कहना अधिक उपयुक्त समझता है और इन वर्गों की सदस्यता प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अपने स्वत: के गुणों या अर्जित गुणों पर आश्रित रहना पड़ता है। पश्चिमी समाजों में धन ही इन वर्गों का मापदण्ड है, जैसे यदि आज कोई व्यक्ति भिखमंगा है लेकिन कल यदि वही एक लाख रुपया लॉटरी में पा जाता है तो उसे उच्च वर्ग का सदस्य माना जायेगा। इसी प्रकार

यदि व्यक्ति अपनी मेहनत और अपनी योग्यता के अनुसार अधिक धन पैदा कर लेता है तो वह उच्च वर्ग का सदस्य बन जायेगा। भारतीय समाज में चूंकि लम्बवत् गतिशीलता पहले मान्य नहीं थी लेकिन अब वह प्रचुर मात्रा में दृष्टिगत होने लगी है, यही कारण है कि सामाजिक सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आता जा रहा है। साधारणतया सामाजिक क्रान्ति में वही लोग हिस्सा लेते हैं जिनकी सामाजिक प्रस्थिति उचित नहीं होती और समाज के उन वर्गों या जातियों द्वारा दबाये गये होते हैं जिनको उच्च सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त है वे इस सामाजिक क्रान्ति का विरोध करते हैं।

क्रान्तियाँ केवल हिंसात्मक होती हैं, यह सत्य नहीं है। क्रान्तियाँ उग्र अथवा हिंसात्मक तथा शान्तिमय, दोनों ही होती हैं। जब अन्य सभी साधन तीव्र परिवर्तन के लिए उपयुक्त नहीं उतरते तब हिंसात्मक साधनों द्वारा इच्छित परिवर्तनों को लाने का प्रयत्न किया जाता है। हिंसात्मक क्रान्ति के कारण जान-माल का अधिक नुकसान होता है। रूस तथा फ्रांस की क्रान्तियाँ हिंसात्मक थीं। भारत का स्वाधीनता संग्राम जो 1857 में हुआ, हिंसात्मक था। इसके विपरीत गांधी जी के नेतृत्व में स्वाधीनता संग्राम जिसके परिणामस्वरूप 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, एक शान्तिमय क्रान्ति का उदाहरण है। सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था अहिंसा के द्वारा बदल दी गयी। अतः हम देखते हैं कि सामाजिक क्रान्तियाँ हिंसात्मक तथा शान्तिमय दोनों ही हो सकती है। आजकल साधारणतया उन सभी समाजों में जहाँ सामाजिक क्रान्तियाँ हो रही हैं शान्तिमय साधनों का ही उपयोग किया जा रहा है। हॉवर ने ने लिखा है कि सामाजिक क्रान्ति वह तीव्र सामाजिक परिवर्तन है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों को एक-दूसरे से सम्बद्ध रखने वाली राजनीतिक कड़ियाँ टूट जाती हैं। सरकार का स्थायी रूप नहीं रह पाता और न ही वह कार्यशील सत्ता के रूप में कार्य करती है। समाज की आधारभूत एकता समाप्त हो जाती है और सामाजिक तथा नैतिक नियम अदृश्य होने लगते हैं। सामाजिक संरचना को स्थायी रखने वाली अनौपचारिक मान्यताएँ भी समाप्त हो जाती है। यदि क्रान्ति महान् होती है तो इसके परिणामस्वरूप प्रमुख संस्थाओं जैसे राज्य, धर्म, परिवार तथा शिक्षा में मूलभूत परिवर्तन हो जाता है और वे पूर्ववत् काम नहीं कर पाती।

क्रान्ति से तात्पर्य सामाजिक व्यवस्था में इस प्रकार के परिवर्तन से है जिसके कारण सामाजिक संस्थायें पहले की तरह काम नहीं कर पाती। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि वे समूल रूप से नष्ट हो जाती हैं। औद्योगिक क्रान्ति को भी सामाजिक क्रान्ति में रखा जायगा, यदि उसके कारण सामाजिक सम्बन्धों में मूलभूत परिवर्तन हुआ है। सामाजिक सम्बन्ध अच्छे हैं या बुरे, इसका निर्णय सामाजिक मूल्यों के द्वारा होता है, जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है। क्रान्ति के परिणामस्वरूप इसकी भी सम्भावना रहती है कि सामाजिक मूल्य बदल जायें। पहले भारतीय समाज में जो व्यक्ति जितना ही अधिक कर्मकाण्डी होता था उसे उतना ही अच्छा और उच्च समझा जाता था; लेकिन आज प्रगतिशील विचारधारा के कारण कर्मकाण्ड को पाखण्ड कहा जाता है और जिस व्यक्ति या समूह में ये कर्मकाण्ड जितने ही कम हैं उन्हें उतना ही अच्छा समझा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक क्रान्ति के फलस्वरूप सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन हो जाता है। कुछ विचारक उस परिवर्तन को उद्विकास मानते हैं जो व्यवस्थित गति से होता है। जबकि अव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध परिवर्तन को क्रान्तिकारी परिवर्तन मानते हैं। किम्बल

यंग ने सामाजिक क्रान्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि वास्तविक रूप में कोई भी क्रान्ति तब तक कार्यशील नहीं होगी जब तक कि विश्वासों, मनोवृत्तियों तथा आदतों में मूलभूत परिवर्तन नहीं होगा। क्रान्ति का जन्म अकस्मात होता है, जिसमें कि नये मूल्यों तथा व्यवहारों को स्वीकार किया जाता है।[1] सामाजिक क्रान्ति की व्याख्या करने के पश्चात् अब हम उसकी प्रकृति के बारे में विचार करेंगे।

सामाजिक क्रान्ति की प्रकृति

सामाजिक क्रान्ति की कोई सर्वसामान्य धारणा नहीं है, कुछ विचारक केवल राजनीतिक पहलुओं में तीव्र परिवर्तन को क्रान्ति मानते हैं, जबकि कुछ 'सुधार' तथा 'औद्योगिक क्रान्ति' के कारण उत्पन्न परिस्थिति को क्रान्ति मानते हैं। सामाजिक क्रान्ति के कारण सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप व्यक्तियों के विचारों तथा विश्वासों में मूलभूत परिवर्तन आ जाता है। अब प्रत्येक व्यवहार का मापदण्ड इन नये सामाजिक मूल्यों के द्वारा होता है।

क्रान्ति का प्रयोग निम्नलिखित तीन अवस्थाओं से किया जा सकता है—

(1) **राज्य-सत्ता में परिवर्तन** (Sudden Political Shift)—जब राजनीतिक स्थिति समाज में एकाएक बदल जाती है तो उसे क्रान्ति की संज्ञा दी जाती है। फ्रांस, रूस और नाजी क्रान्तियाँ इसी प्रकार की थी।

(2) **असंगठित सांस्कृतिक परिवर्तन** (Abrupt Cultural Change)—जब सांस्कृतिक तत्त्वों मे एकाएक परिवर्तन आ जाता है जिसके कारण राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक पहलुओं में मूलभूत परिवर्तन आ जाता है, तो उसे क्रान्ति की संज्ञा दी जाती है, जैसे—पश्चिमी समाजों में प्रोटेस्टेन्ट धर्म का सुधार कार्य।

(3) **सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन** (Change in the entire Social Order)—जब सामाजिक संस्थाओं, वर्गों, मनोवृत्तियों तथा आदतों में परिवर्तन हो जाता है, तो उसे क्रान्ति कहते हैं। इसके परिणामस्वरूप शक्ति के वितरण में भी अन्तर आ जाता है, जैसे 1760 की औद्योगिक क्रान्ति जो इंग्लैण्ड में हुई और जो अभी तक कार्यरत है।

क्रान्ति चाहे किसी भी तरह की क्यों न हो, राजनीतिक शक्ति में परिवर्तन अवश्य लाती है। जब समाज में एकाएक कोई अन्य राजनीतिक सत्ता आ जाती है, तो उसे हम क्रान्ति कहते हैं। इसके अन्तर्गत नये प्रकार का वैधानिक नियन्त्रण प्रारम्भ होता है। यह बात आवश्यक है कि धार्मिक तथा आर्थिक पहलू में परिवर्तन इस राजनीतिक पहलू को भी प्रभावित करेगा। किसी भी क्रान्ति के लिए निश्चित रूप से समय का निर्धारण नही किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रान्ति वह अकस्मात् परिवर्तन है, जिसके द्वारा बलपूर्वक उपस्थित राजनीतिक सत्ता को उखाड फेंका जाता है और समाज में नये-नये प्रकार की सामाजिक और वैधानिक सत्तायें कार्यरत होती हैं। प्रत्यक्ष हिंसा क्रान्ति की आवश्यक दशा नही है, सैनिक सत्ता अपने अनुकूल बनाकर हिंसात्मक कार्य से बचा जा सकता है। नाजी क्रान्ति इसी प्रकार की क्रान्ति थी। कभी-कभी जब क्रान्ति-असफल हो जाती है तो फिर परम्परा-

[1] 'Actually no revolution can take place unless a tremendous alteration in beliefs, attitudes, and habits has gone before. Nothing is farther from the truth than that a revolution is the sudden birth and acceptance of absolutely novel values and practices.'

वादी रूढ़िगत शक्तियाँ कार्यरत हो जाती हैं। इसका मूलभूत कारण यह है कि अभी उस समाज में लोगों की मनोवृत्तियों तथा विश्वासों में इस प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है, जो क्रान्ति का समर्थन करे। जब तक मनोवैज्ञानिक स्थिति परिपक्व नहीं हो जाती, कोई भी क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। जो कुछ भी हो, सामाजिक क्रान्ति के फलस्वरूप उस समाज के सदस्य अपनी संस्थाओं, मूल्यों, विश्वासों तथा अन्तः सम्बन्धों मे मूलभूत परिवर्तन कर लेते हैं और लोगों में नवीन मनोवृत्तियाँ काम करने लगती हैं, जो नये सामाजिक मूल्यों पर आधारित होती हैं। कुछ विचारक क्रान्ति और युद्ध को एक ही समझते हैं, लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। युद्ध का सम्बन्ध प्रत्यक्ष हिंसात्मक *गतिविधियों से है जबकि क्रान्ति हिंसात्मक तथा शान्तिमय दोनों ही हो सकती है।*

इन बीसवीं शती में तो सब लोग शान्तिमय क्रान्ति का ही समर्थन करते हैं। किंबल यंग ने भी लिखा है कि 'प्रत्यक्ष हिंसा क्रान्ति का कोई आवश्यक अंग नहीं है।' सामाजिक क्रान्ति अधिक व्यापक है—समाज के आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं मे क्रान्ति के फलस्वरूप सामाजिक क्रान्ति अवतरित होती है, जिसके कारण सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है उसकी संस्थाओं, वर्गों, प्रस्थितियों तथा कार्यों में एकाएक महान् परिवर्तन हो जाता है। साधारणतया क्रान्ति से तात्पर्य राजनीतिक पहलू में मूलभूत परिवर्तन से लगाया जाता है, लेकिन यह धारणा भी ठीक नहीं है। वैसे राजनीतिक क्रान्ति अधिक स्पष्ट और सामान्यतया अक्सर घटने वाली सामाजिक प्रक्रिया है। सामाजिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुए सामाजिक परिवर्तन में उस व्यवस्था का राजनीतिक पहलू भी स्वतः बदलने लगता है। उपर्युक्त विवेचनाओं को हम संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

(1) सामाजिक क्रान्ति पूर्ववत् चली आ रही सामाजिक व्यवस्था में एकाएक होने वाला परिवर्तन है।

(2) इस परिवर्तन का कारण उस समाज के व्यक्तियों में किन्हीं नवीन सामाजिक आदर्शों और मूल्यों के प्रति विशेष रुचि है।

(3) उस समाज की सामाजिक संस्थाओं और व्यक्तियों की आवश्यकताओं में चूँकि सामंजस्य नहीं होता, यही कारण है कि लोग उन संस्थाओं का निर्माण करना चाहते हैं जो इन आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

(4) समाज के अधिकांश व्यक्ति परम्परागत सामाजिक व्यवस्था को समाप्त करने के लिए चेतन प्रयत्न करते हैं।

(5) अपने उद्देश्य की प्राप्ति वे हिंसात्मक उपायों से कर सकते हैं और शान्ति-प्रयत्नों से भी।

अतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक क्रान्ति के लिए लोगों की मनोवृत्तियों में परिवर्तन पहले से ही प्रारम्भ हो जाता है और जब सामाजिक लक्ष्यों और सामाजिक मूल्यों में सन्तुलन के सभी प्रयास असफल हो जाते हैं तथा सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के बीच दूरी बढ़ती जाती है तो सामाजिक क्रान्ति अवतरित होती है। साधारणतया सामाजिक क्रान्ति का मूल कारण पुराने परम्परागत सामाजिक मूल्यों और नवीन सामाजिक मूल्यों में विरोध ही है।

सामाजिक क्रान्ति के मुख्य कारक

विभिन्न समाजशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों ने क्रान्ति के विभिन्न कारण

बतलाये हैं। यहाँ पर हम उनमें से कुछ प्रमुख कारकों का उल्लेख करेंगे। कुछ लोगों का यह मत है कि मूलभूत प्रवृत्तियों (instincts or drives) के दमन के कारण सामाजिक क्रान्ति उपस्थित होती है। कुछ लोग, जिनमें फ्रांसीसी विचारक ली बॉन (Gustave Le Bon) प्रमुख हैं, क्रान्ति को भीड़-व्यवहार का कारण मानते हैं, जिसमें निम्न वर्ग के लोग उच्च वर्ग के लोगों से सत्ता हड़पना चाहते हैं। फ्रॉयड जैसे विचारक सामाजिक क्रान्तियों के पीछे अचेतन इच्छाओं को मानते हैं। चूँकि वे इच्छायें पूरी नहीं होतीं, यही कारण है कि व्यक्ति विभिन्न प्रकार के उचित या अनुचित कार्यों के द्वारा उन्हें पूरा करना चाहते हैं और क्रान्ति को जन्म देते हैं। सोरोकिन भी क्रान्ति का मुख्य कारण इन्हीं मूलभूत प्रवृत्तियों का दमन मानता है। एडवर्ड का मत है कि लोग जब यह सोचने लगते हैं कि उनकी उचित और आदर्शात्मक माँगें दबाई जा रही हैं, तब वे क्रान्ति करते हैं।

(1) **मनोवैज्ञानिक कारक**—अधिकांश सामाजिक मनोवैज्ञानिक यह मानते हैं कि सामाजिक क्रान्ति का मूल कारण मनोवैज्ञानिक है। मनुष्य की कुछ इच्छायें होती हैं; यदि निरन्तर उनका दमन किया जाय तो वे क्रान्ति का रूप धारण कर लेती हैं। सोरोकिन के अनुसार, 'क्रान्ति का मुख्य कारण मूल प्रवृत्तियों (main intincts) का दमन है। इसमें व्यक्ति को यह आभास हो जाता है कि इन प्रवृतियों के अनुरूप न्यूनतम सन्तुष्टियों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार जब समाज में ऐसे व्यक्तियों की संख्या अधिक हो जाती है तो वे क्रान्ति कर बैठते हैं। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार क्रान्ति का मुख्य कारण इन मूलभूत प्रवृत्तियों तथा चालकों (drives) का दमन है, जो धीरे-धीरे दब तो जाती हैं, लेकिन समय मिलने पर एकाएक विस्फोट करती हैं और क्रान्ति को जन्म देती हैं। किंबल यंग केवल मूल प्रवृत्तियों तथा चालकों के दमन को ही क्रान्ति का कारण नहीं मानते। उनके अनुसार जब सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के अनुसार समाज के किन्हीं वर्गों के लोगों की इच्छायें समायोजन नहीं कर पातीं और इस बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार जब लोग अपने को नहीं बना पाते तो क्रान्ति का प्रादुर्भाव होता है। क्रान्ति के अन्तर्गत व्यक्ति अचेतन और निम्न उत्तेजनाओं को प्रदर्शित करता है। क्रान्ति के दिनों में लोगों का व्यवहार बिल्कुल भीड़-जैसा हो जाता है। सामाजिक क्रान्ति में साधारणतया दलित, पीड़ित तथा हताश लोग भाग लेते हैं। फ्रांस की क्रान्ति में स्त्रियों ने भी लोगों का खून किया। इस प्रकार का पाशविक व्यवहार क्रान्ति में दृष्टिगत होता है। किंबल यंग के अनुसार, 'क्रान्ति का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण नेतृत्व (leadership) है। बिना मौखिक आदेशों के, जो एक नेता ही कर सकता है, अन्य जनता कुछ भी नहीं कर सकती। विचारवादी, सुधारवादी, आन्दोलनकारी तथा कार्यकर्त्ता सभी क्रान्तिकारी गतिविधियों में भाग लेते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आर्थिक सन्तुलन के अतिरिक्त जब समाज में एक संघर्षकारी वर्ग तथा योग्य नेतृत्व का प्रादुर्भाव हो जाता है तो क्रान्ति की अवस्था उत्पन्न हो सकती है।

(2) **आर्थिक कारक**—कार्ल मार्क्स समाज में क्रान्ति का मुख्य कारण आर्थिक कारकों को मानता है। मार्क्स के अनुसार जैसे-जैसे सामाजिक प्रगति होती जाती है, आर्थिक विषमता बढ़ती जाती है। समाज में एक वर्ग ऐसा होता है जिसके पास धन बढ़ता जाता है और दूसरा वर्ग ऐसा होता है जो निरन्तर गरीब होता जाता है। मार्क्स का यह विचार है कि वर्ग-संघर्ष, तत्पश्चात् सामाजिक क्रान्ति इसी कारण

होती है। आजकल आधुनिक समाजों में क्रान्ति का कारण साधारणतया आर्थिक ही होता है। जब आर्थिक व्यवस्था के प्रति लोग उदासीन हो जाते हैं, धन का वितरण असमान हो जाता है, तब समाज में क्रान्ति शुरू हो जाती है। उन समाजों में, जिन्हें खेतिहर समाज कहते हैं, दो वर्ग पाये जाते हैं—एक वर्ग जो भूमि का मालिक है और दूसरा वर्ग जिसके पास भूमि नही है। इस प्रकार भूमि की इच्छा के फलस्वरूप भी क्रान्तियाँ होती हैं। केवल शोषणमात्र से ही क्रान्ति नही होती। जब तक लोगों में शोषण के विरुद्ध घृणा, ईर्ष्या तथा द्वेष की भावना जागृत नहीं होती, क्रान्ति नही होती। अतः इस प्रकार के विचारों का प्रादुर्भाव क्रान्ति के लिए आवश्यक है। फ्रांस और रूस में किसानों की क्रान्ति का एकमात्र कारण यही था कि वे जमीदारों से अधिक से अधिक खेतों को लेना चाहते थे। नगरों में भी मिलमालिकों तथा श्रमिकों के बीच की दूरी बढती जाती है। पूंजी मिल मालिकों की होती है, अतः वे उसका दुरुपयोग कर श्रमिकों का शोषण करते हैं। श्रमिकों को रोजगार के उचित अवसर नही मिल पाते। नगरों में उनके रहन-सहन की व्यवस्था ठीक नही होती। परिणामस्वरूप वे क्रान्ति के लिए तैयार हो जाते हैं। समाज के निर्धन वर्ग धनी वर्ग के व्यक्तियों की भाँति रहना चाहते हैं, वे अपनी सामाजिक तथा आर्थिक प्रस्थितियों को सुधारना चाहते हैं। यदि वे ऐसा नहीं कर पाते तो उनमें एक प्रकार की निराशा उत्पन्न हो जाती है जो व्यक्तियों की मनोवृत्तियों तथा विचारों को इस प्रकार बदल देती है जिसके कारण वे क्रान्ति के लिए भी तैयार हो जाते हैं।

(3) **राजनीतिक कारक**—सामाजिक और आर्थिक प्रस्थितियों के समान ही राजनीतिक प्रस्थितियों के लिए भी लोगों मे निराशा की भावना बढती है। विभिन्न राजनीतिक दलों तथा उनके नेताओं के बीच राजनीतिक सत्ता के लिए संघर्ष चला करता है। साम्यवादी सरकार-व्यवस्था का यह नारा है कि उसमें कोई भी जाति और वर्ग श्रेष्ठ नही होगा। परिणामस्वरूप निम्न वर्णों तथा वर्गों के लोग इस प्रकार की व्यवस्था के लिए कार्यशील हो जाते हैं और इन राजनीतिक स्वार्थों को लेकर क्रान्तियाँ होती है। जन्म और धन के प्रतिबन्धों के कारण बहुत से लोग राजनीतिक दलों में सम्मिलित नहीं हो सकते, जैसे कोई भी नीग्रो अमरीका का राष्ट्रपति नहीं हो सकता। इंग्लैण्ड मे सभी नागरिक 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' के सदस्य नही हो सकते। केवल वे ही लोग इसके सदस्य हो सकते है जो एक निर्धारित सामाजिक प्रस्थिति, जो धन पर आधारित होती है, प्राप्त कर चुके है। इस प्रकार इन राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त न कर सकने के कारण भी क्रान्ति सम्भव हो जाती है। राजनीतिक कारकों का मुख्य उद्देश्य भी समाज मे उच्च सामाजिक प्रस्थिति को प्राप्त करना है।

(4) **सांस्कृतिक कारक**—सास्कृतिक कारकों में मूलभूत परिवर्तन होने के कारण ही क्रान्ति का प्रादुर्भाव होता है, ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने तो लिखा है कि क्रान्ति सस्कृति में होने वाला महत्वपूर्ण तीव्र परिवर्तन है। समाज मे क्रान्ति का मुख्य कारण विचारों, भावनाओं तथा मनोवृत्तियो मे मूलभूत परिवर्तन है जो सांस्कृतिक पहलू के क्षेत्र मे आते हैं। जब पुरानी संस्थाएँ ठीक प्रकार से कार्य नही कर पाती और सामाजिक परिस्थितियो के अनुकूल नही बन पातीं तो क्रान्ति की अवस्था स्वाभाविक है। पुरानी सस्थाओं का प्रभावकारी न होना कई बातों पर आधारित है, जैसे—नये-नये अन्वेषणों के कारण नयी-नयी वस्तुएँ आ गयी हों, उस संस्था के

अन्तर्गत ही कुछ द्वन्द्व उत्पन्न हो गया हो, समाज का उच्च वर्ग इस परिवर्तन से सामंजस्य न कर पाता हो; आदि। ग्रामीण समुदायों की अपेक्षा नगरीय समुदायों में प्रचार के साधन अधिक हैं, यही कारण है कि उनमें क्रान्तिकारी विचार शीघ्र ही फैल जाते हैं। किंवदन्तियों, संवेगात्मक प्रतीकों (emotional symbols); पौराणिक कथाओं (legends) तथा रूढ़ि-युक्तियों (stereotypes) में परिवर्तन के परिणामस्वरूप क्रान्ति अवतरित होती है। किंबल यंग ने लिखा है कि 'एक नवीन किंवदन्ती के आने का यह अर्थ है कि लोगों की इच्छायें, विश्वास, अभिवृत्तियाँ तथा आदतें बदल गयी हैं। नवीन किंवदन्ती एक नये स्वर्ग और नयी दुनिया का आश्वासन है।'

प्रिंस पीटर क्रोपोटकिन (Peter Kropotkin) का यह मत है कि फ्रांस की क्रान्ति के लिए दो मुख्य सामाजिक कारकों का हाथ था : प्रथम, राजनीतिक पुनर्गठन के बारे में प्रचलित विचार (the current of ideas, concerning the political re-organisation); और दूसरा, क्रिया की निरन्तरता (current of action) जो कि जनता के द्वारा विकसित होती है। जब यही दोनों तत्त्व कार्यान्वित हो जाते हैं तभी क्रान्ति होती है। जनसंख्या के वृद्धि के कारण भी सांस्कृतिक तत्त्वों में परिवर्तन होता है। यदि जनसंख्या अधिक बढ़ गई और एक सामाजिक प्रस्थिति के लोग अधिक हो गये जिनकी उन लोगों से नहीं बनती जो सत्ता को अपने हाथ में लिये हुए हैं तब सामाजिक क्रान्ति हो सकती है। चेम्बरलेन ने लिखा है कि 'एक क्रान्ति का प्रादुर्भाव तब होता है जब उच्च वर्ग के लोग पुरानी व्यवस्था के अनुरूप चल नहीं सकते और निम्न वर्ग के लोग उस व्यवस्था के अनुरूप चलने के लिए तैयार नहीं होते' (A revolution occurs when the upper classes cannot and the lower classes will not continue the old system)।

आवश्यकता-पूर्ति और सामाजिक क्रान्ति

सामाजिक क्रान्ति का आवश्यकता-पूर्ति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यदि किसी समाज में लोगों की आवश्यकताएँ आशा के अनुरूप पूरी नहीं होतीं तो उस स्थिति से निराशा की भावना उदित होती है। यही निराशा की भावना प्रेरित करती है जिससे लोग क्रान्तिकारी गतिविधियों को प्रारम्भ करते हैं।

निम्नलिखित ग्राफ से यह स्थिति स्पष्ट हो सकेगी कि किस प्रकार आवश्यकता-पूर्ति तथा लोगों की आशाओं में एकरूपता न होने के कारण क्रान्ति होती है—
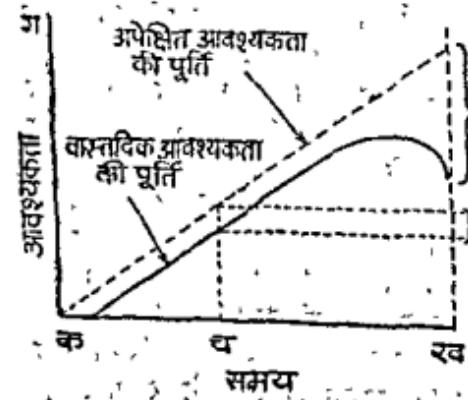
← अपेक्षित और वास्तविक आवश्यकता, पूर्ति की वह स्थिति जो निराशा को जन्म देकर क्रान्ति का श्रीगणेश करती है।

← अपेक्षित और वास्तविक आवश्यकता पूर्ति की वह स्थिति जिसे लोग बर्दाश्त कर लेते हैं।

सके। कुछ भारतीय समाजशास्त्री यह मानते हैं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में हुए परिवर्तन क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हैं, पर उनका मत भ्रामक और सत्यता से परे है। क्रान्ति का यह अर्थ होता है कि लोगों के विचारों, भावनाओं तथा मनोवृत्तियों में मूलभूत परिवर्तन हो। ये सभी तत्त्व भारतीय समाज में द्रुतगति से कार्यशील हैं। समाज के आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में मूलभूत परिवर्तन हुए हैं जिनका श्रेय सरकार तथा जनता दोनों ही को है। राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति के विकेन्द्रीकरण पर बहुत ध्यान दिया जा रहा है जिसके अन्तर्गत त्रिस्तरीय व्यवस्था—ग्राम पंचायत, पंचायत समितियाँ तथा जिला परिषदों की स्थापना की गई है। यह निश्चित ही राजनीतिक व्यवस्था में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है। लोगों के विचारों *तथा मनोभावों में महान् परिवर्तन हुआ है। आज का व्यक्ति अन्ध*विश्वासों, जादू-टोना में विश्वास नहीं करता बल्कि वह किसी भी घटना के पीछे कार्य और कारण का सम्बन्ध जानना चाहता है। क्या यह सांस्कृतिक क्षेत्रों में क्रान्ति नहीं है? क्रान्ति का निर्धारण समाज के अधिकांश व्यक्तियों के व्यवहारों को देखकर किया जाता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से भारतीय समाज में सरकार तथा जनता दोनों के सामूहिक प्रयत्नों से सामाजिक व्यवस्था को नये ढंग से बनाया जा रहा है जिसमें समाज के अधिकतम लोगों को लाभ मिल सके।

ग्रामीण समुदायों के लोग भी अब विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक अन्वेषणों का प्रयोग कर रहे हैं। आज ग्रामीण समुदायों में भी बिजली की व्यवस्था की जा रही है। उन्हें रेडियो तथा पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने को दी जा रही हैं, ताकि उनके परम्परागत विचारों में कुछ परिवर्तन आ सके। आज गाँव का व्यक्ति भी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के बारे में अपना मत व्यक्त करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय समाज में तीव्र परिवर्तन हो रहे हैं, जिन्हें हम क्रान्तिकारी परिवर्तन कह सकते हैं। संयुक्त परिवार प्रणाली तथा जाति व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन हुआ है, जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी। विवाह-संस्था मे भी मूलभूत परिवर्तन हुआ है। पहले लोग सवर्ण वर ढूँढ़ते थे, पारिवारिक प्रस्थिति का पता लगाते थे। साधारणतया अपनी जैसी ही प्रस्थिति वाले लोगों के घर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते थे। लेकिन आज *शिक्षा तथा पश्चिमीकरण के प्रभाव के कारण हिन्दू* विवाह की मान्यताओं का ह्रास हो रहा है। अब लोग विवाह के लिए सवर्ण न देख कर यह देखने लगे हैं कि व्यक्ति की अर्जित योग्यता क्या है। उसके पास धन और सम्पत्ति कितनी है। धर्म का महत्त्व भारतीय समाज पर पहले था वह अब नहीं रहा। आज का व्यक्ति इसे निरर्थक मानता है। रूढ़ियों और प्रथाओं को ढकोसला समझता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोगों के विचारों, सोचने-समझने के तरीको तथा मनोवृत्तियों मे इतना अधिक संशोधन हुआ है कि हम इसे क्रान्तिकारी परिवर्तन कह सकते हैं।

सातवाँ अध्याय

नगरीकरण

नगरीकरण से तात्पर्य किसी समाज विशेष में नगरों की संख्या में वृद्धि अथवा उन स्थानो द्वारा नगरीय विशेपताओं को धारण करने से है जो अभी तक नगर नहीं कहे जाते थे। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि नगरीकरण से अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिससे कोई स्थान नगरीय विशेषताओं को अपनाता है। नगरीकरण का आधार और पैमाना क्या होगा इसके लिए कोई सार्वभौमिक नियम नहीं है। एक ही विशेषता कहीं पर नगरीकरण की द्योतक है तो कहीं पर नही। जैसे जनसख्या के घनत्व मे वृद्धि नगरीकरण की द्योतक है—लेकिन यह आवश्यक नही है कि जनसंख्या में वृद्धि ही नगरीकरण का केवल सूचक होगा। यह भी हो सकता है कि किसी स्थान पर जनसख्या का घनत्व न बढ़े लेकिन उस स्थान पर रहने वाले लोगों के सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्धों मे परिवर्तन हुआ हो। यह परिवर्तन भी नगरीकरण का सूचक हो सकता है। भारतवर्ष मे नगरीकरण की जो प्रक्रिया कार्य-शील है उसमे उपर्युक्त वर्णित दोनो विशेपताओं को देखा जा सकता है। विभिन्न स्थानों पर जनसख्या का घनत्व तेजी से बढ़ रहा है और उसके साथ-साथ लोगों के आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्ध भी परिवर्तित हो रहे हैं। भारतीय समाज मे परिवर्तन को तीव्र से तीव्रतर करने का श्रेय नगरीकरण की प्रक्रिया को है। नगरीकरण की प्रक्रिया ने भारतीय समाज को 'स्थिर' समाज से 'गतिशील' समाज में परिवर्तित किया है जिसके कारण आये दिन लोगों की 'प्रस्थिति' मे परिवर्तन हो रहा है। लोगो मे जो आपसी प्रेमभाव था, 'हम-भावना' थी उसके स्थान पर वैयक्तिक प्रतिस्पर्द्धा और शोषण तथा 'वे-भावना' (They-feeling) की वृद्धि हो रही है। इसके विपरीत इस प्रक्रिया के कारण अब लोग जीवन के प्रति नये दृष्टिकोण को अपना रहे हैं। जीवन का परम्परागत ढग परिवर्तित हो रहा है और लोग उन गति-विधियों को अपना रहे हैं जो अधिक लाभप्रद तथा तार्किक हैं। डेविस ने ठीक ही लिखा है कि विकसित प्रोद्योगिकी, नगरीकरण तथा विस्तृत सामाजिक और भौगोलिक क्षेत्र के कारण निकट नातेदारी के सम्बन्ध क्षीण होते जा रहे हैं।[1] नगरीकरण के परिणामस्वरूप भारतीय सामाजिक संस्थाओ का स्वरूप सशोधित तथा परिवर्तित हो रहा है। यही कारण है कि अब सस्थाओ के आधार पर समुदाय की प्रकृति के बारे मे भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। विभिन्न संस्थाओं के द्वारा प्रचलित अनोपचारिक व्यवहार प्रतिमान नगरीकरण की प्रक्रिया के कारण औपचारिक स्वरूप को धारण कर रहा है। नगरीकरण की प्रक्रिया आधुनिकीकरण (moderni-

[1] 'Modern society, characterised by an elaborate industrial technology, a high degree of urbanisation...has sheered away the extended kinship bonds.'

कारण है कि विकासशील देश ...
ए नगरीकरण को आश्रय दे रहे ...
... म देने से है जो समाज के लिए आवश्यक तथा उचित है।

नगरीकरण की प्रक्रिया किसी समाज में कार्यशील है अथवा नही इसकी जानकारी किसी विकसित नगर के लक्षणो से करके जानी जाती है। साधारणतया ये नगर पश्चिमी देशों के होते हैं जो सभी आवश्यक विशेषताओं को धारण किये हुए हैं। वास्तविकता यह है कि किसी एक स्तर पर सार्वभौमिक नगरीकरण की कल्पना उचित नहीं है और न ही व्यावहारिक है। अंशों का अन्तर प्रत्येक समाज में सम्भावित है। भारतवर्ष में नगरीकरण की प्रकिया ने एक दूसरे ढंग से भी प्रभाव डाला है। यहाँ केवल नगरों या उन स्थानों (जहाँ किसी कारणवश जनसंख्या का घनत्व इतना बढ़ गया है कि उसे नगर कहा जा सकता है) पर सम्बन्धों मे परिवर्तन दृष्टिगत नही हो रहा है अपितु ग्रामीण लोग तथा गाँव भी इससे प्रभावित हो रहे हैं। जैसे नगरीकरण की प्रक्रिया से ग्रामीण जीवन की गतिविधियाँ भी परिवर्तित हो रही हैं। एम० एस० ए० राव ने उचित ही लिखा है कि 'सम्पूर्ण भारतवर्ष के अधिकांश ग्राम नगरीय प्रभावों से ओतप्रोत होते जा रहे हैं। यह बात अवश्य है कि नगरीय प्रभाव का स्वरूप एक सा नहीं है अपितु वह ग्राम और नगर के परस्पर सम्बन्ध पर आश्रित है।'[1] नगरीय प्रभाव तीन प्रकार के हो सकते हैं: प्रथम—नगरीय पर्यावरण का प्रभाव उन लोगों के माध्यम से जो नौकरी या व्यापार करने किसी नगर में गये हैं। साधारणतया ऐसा पाया जाता है कि किसी गाँव के कुछ लोग नगरों को जीविकोपार्जन हेतु जाते हैं। ये नगरीय व्यवहार को धारण करने के लिए विवश होते हैं और उनके माध्यम से उनके परिवार तथा गाँव के अन्य लोग भी वैसा करने के लिए तैयार हो जाते है। ऐसे लोग जो रुपया कमाते है उसे घर वालों को भेजते रहते हैं। उच्च जाति के लोग (जिनकी आर्थिक स्थिति संतोषजनक है) उस रुपये से पक्का मकान तथा खेत खरीदते हैं जो प्रस्थिति का निर्णायक तत्त्व हो गया है। अन्य शब्दों में नगरीय रोजगार अब उच्च सामाजिक प्रस्थिति का सूचक माना जाता है। यही कारण है कि गांवों से लोग नगरों को भागते जा रहे हैं। दूसरे, औद्योगिक नगरों के पास जो गाँव हैं वे वहाँ बाहर से आने वाले लोगों से प्रभावित हो रहे हैं। जैसे भिलाई नगर के बन जाने के कारण वहाँ बसे अनेक गावों ने नगरीय विशेषताओं को धारण कर लिया। जिन लोगों का खेत सरकार उद्योग निर्माण के लिए लेती है उन्हें वहाँ रोजगार भी देती है। इस स्थिति के कारण भी लोग अपने परम्परागत व्यवहार प्रतिमान मे परिवर्तन करने को विवश होते हैं। तीसरे, महानगर जो निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं—उनके आस-पास के गांव पूरी तरह से नगरीय पर्यावरण मे परिवर्तित होते जा रहे हैं—जैसे दिल्ली, बम्बई तथा कलकत्ते का जो रूप आज है वह 50 वर्ष पहले नहीं था। सभी गांव जो नगर से 10-15 मील की दूरी पर थे अब नगर जैसे हो गये हैं।

भारतवर्ष को गावों का देश कहा जाता है—अब भी गांवों में 85 प्रतिशत

लोग रहते हैं। नगरों में रहने वालों की संख्या 5 से 15 प्रतिशत तक है। यही कारण है कि नगरीकरण का ग्रामीण समुदाय पर प्रभाव महत्त्वपूर्ण हो जाता है। विभिन्न अध्ययनों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि नगरीकरण ग्रामीण समुदाय मे परिवर्तन के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है।

परिभाषा

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि नगरीकरण एक प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप एक स्थान नगरीय विशेषताओं को धारण करता है। अब हम कुछ प्रमुख विचारकों के मतों का इस सन्दर्भ में उल्लेख करेंगे।

प्रो० एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि नगरीकरण से तात्पर्य केवल सीमित क्षेत्र मे अधिक जनसंख्या से ही नही है अपितु सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन से भी है।[1] इस परिभाषा के विश्लेषण से स्पष्ट है कि यदि जनसंख्या का घनत्व बढ़ जाता है या समुदाय का आकार बढ़ जाता है तो उसे ही नगरीकरण न कहा जाय। केवल घनत्व में वृद्धि नगरीकरण का द्योतक नहीं मानना चाहिए—समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सामाजिक सम्बन्धों के ऊपर प्रभाव नगरीकरण की व्याख्या के लिए अनिवार्य है। नगरीकरण के निर्धारण के लिए हमे सामाजिक सम्बन्धों को देखना होगा जो नगरीकरण के परिणामस्वरूप अप्रत्यक्ष द्वैतीयक तथा जटिल होते जा रहे हैं। नगरीकरण के कारण व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध विजातीय होते जाते है।

भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अधिक तीव्र हो गयी है। अब ग्रामीण समुदायों का स्थान नगरीय समुदाय लेते जा रहे हैं। नगर की परिभाषा करते हुए आर० एन० मोरिस ने लिखा है कि 'नगर अपेक्षाकृत वृहद, घन तथा विजातीय सामाजिक व्यक्तियो का एक स्थायी प्रवन्ध है।' नगरीकरण …ो प्रक्रिया इन्ही विशेपताओं को जन्म देती है। अन्य शब्दो मे, नगरीकरण के परिणामस्वरूप जहां जनसख्या-घनत्व में वृद्धि होती है वही लोगो के बीच सम्बन्ध भी परिवर्तित हो जाते हैं। 'हम-भावना' के स्थान पर 'वे-भावना' का विकास नगरीकरण की एक सामान्य विशेपता है।

गेराल्ड ब्रीज ने नगरीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'नगरीकरण एक प्रक्रिया है जिसके कारण लोग नगरीय कहलाने लगते हैं, शहरों में रहने लगते हैं, खेती के स्थान पर अन्य पेशो को अपनाते है जो नगर मे उपलब्ध हैं, और अपने व्यापार प्रतिमान मे अपेक्षाकृत परिवर्तन का समावेश करते हैं।'[2] उपर्युक्त परिभाषा … स्पष्ट है कि नगरीकरण के कारण जीवन का ढंग (mode of life) परिवर्तित …ता है। कृषि जो भारत के लोगों का मुख्य पेशा है उसमे परिवर्तन कर लोग नये … पेशों को अपनाते है ताकि वे नये ढंग से जीवन-यापन कर सकें।

एक अन्य विचारक का मत है कि 'नगरीकरण एक प्रक्रिया है जिसके कारण

[1] 'Urbanisation does not only mean the great concentration of human …gs in small areas…it requires certain types of socio-economic relation…s.' —M. N. Srinivas, *Caste in Modern India*, 77.

[2] 'Urbanisation as being the process of becoming Urban, moving to cities, changing from agriculture to other pursuits common to cities and corresponding changing of behaviour patterns.' —Gerald Breese.

ग्रामीण लोग नगरीय व्यवहारों को अपनाते हैं।' व्यवहार अपनाने की स्थिति दो दशाओं में सम्भावित है : प्रथम—ग्रामीण लोग नगरों को जायें, और दूसरा—वह ग्राम नगर में परिवर्तित हो जाय।

डेविस ने लिखा है कि 'नगरीकरण एक निश्चित प्रक्रिया है—परिवर्तन का वह चक्र है जिससे कोई समाज खेतिहर से औद्योगिक समाज में परिवर्तित होता है।'[1] प्रस्तुत परिभाषा में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि नगरीकरण के कारण औद्योगीकरण होता है और एक समाज खेतिहर से औद्योगीकृत कहलाने लगता है। दूसरी बात जो अधिक महत्त्वपूर्ण है वह यह कि नगरीकरण निश्चित ढंग से चक्रवत् होता रहता है।

इसी विचारक ने आगे लिखा है कि 'नगरीकरण मानवीय सामाजिक उद्विकास का एक मूलभूत चरण है।' यह उद्विकासी प्रक्रिया है। यही कारण है कि नगरीकरण की प्रक्रिया सरल से जटिल होती जा रही है। यद्यपि नगरीकरण की प्रक्रिया आज से 5,500 वर्ष पहले शुरू हो गई थी फिर भी उसका स्वरूप जो आज है उसकी कल्पना लोगों ने पहले कभी नहीं की थी। आज के नगरीकृत समाज की विशेषता है कि कस्बों तथा नगरों में अधिकांश लोग भीड़ बढ़ाते जा रहे हैं। ऐतिहासिक आधार पर कहा जा सकता है कि नगरीकरण और शहरों का उद्भव साथ-साथ हुआ है। नगरीकरण की प्रक्रिया कार्यशील है अथवा नहीं, इसकी जानकारी सम्पूर्ण जनसंख्या के उस भाग से लगायी जाती है जो नगरों में रह रही है। यदि ऐसे लोगों की संख्या, जो नगरों में रहते हैं, बढ़ती है तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि नगरीकरण की प्रक्रिया कार्यशील है। डेविस का मत है कि 1 लाख या इससे अधिक व्यक्ति जहाँ रहते हैं, यदि वहाँ जनसंख्या का घनत्व बढ़ता है तो उसे नगरीकरण का द्योतक माना जाना चाहिए।

एक अन्य विचारक के अनुसार 'नगरीकरण संस्कृति का एक आश्रित कारक है (Urbanisation as a dependent variable of culture)।' इस विवेचन में इस बात पर बल दिया गया है कि संस्कृति में विकास नगरीकरण में विकास को जन्म देता है। विशेषकर संस्कृति के भौतिक पक्ष और नगरीकरण में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। नगरीकरण भी संस्कृति के भौतिक पक्ष में उल्लेखनीय विकास करता है।

एक अन्य अध्ययन में नगरीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'आधुनिक नगरीकरण वह प्रक्रिया है जिससे किसी समाज में आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।' इस परिभाषा में यह स्पष्ट किया गया है कि सभी समाज जो आर्थिक विकास करना चाहते हैं उन्हें नगरीकरण की प्रक्रिया को स्वीकार करना होगा। चूंकि अब सभी समाज भौतिक समृद्धता को अपना प्रमुख उद्देश्य मानने लगे हैं, यही कारण है कि वे नगरीकरण को भी आवश्यक मानकर अपना रहे हैं।

नगरीकरण का एक अर्थ नगरों की संख्या में वृद्धि से है। नगरों की संख्या में वृद्धि से तात्पर्य गाँवों तथा कस्बों का नगरों के रूप में रूपान्तरण से है। इसके अतिरिक्त किसी स्थान-विशेष पर अन्य किसी कारणवश (साधारणतया उद्योगों की स्थापना के कारण) जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि भी नगरीकरण का द्योतक है। यह स्थिति नये नगरों को जन्म देती है। भारतवर्ष में नगरीकरण की जो प्रक्रिया कार्य-

[1] 'Urbanisation is a finite process, a cycle through which nations go in their transition from agrarian to industrial society.' —K. Davis.

शील है उसमें उपर्युक्त वर्णित दोनों विशेषताओं को देखा जा सकता है। प्रोफेसर श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'Caste in Modern India' में लिखा है कि दक्षिणी भारत में गाँवों को नगरों की ओर उन्मुख करने का श्रेय ब्राह्मणों को है। ब्राह्मण वर्ग के लोगों ने सर्वप्रथम पश्चिमी शिक्षा को अपनाया और जो लोग गाँव छोड़कर नगर में इस शिक्षा के लिए गये उन्होंने अध्यापक, प्रशासक, वकील, डाक्टर तथा न्यायाधीशों के पदों को प्राप्त किया। जिस प्रकार ग्रामीण समुदायों में ब्राह्मणों की सर्वोच्च सामाजिक प्रस्थिति बनी रही उसी प्रकार नगरों मे भी सर्वोच्च पदों को प्राप्त करने के कारण उनका बोलबाला बना रहा। सभी बड़े-बड़े पदों पर उनका एकाधिकार सा हो गया। अतः भारतवर्ष में नगरीकरण को प्रोत्साहित करने का श्रेय ब्राह्मणों को है।

डेविस का मत भारतवर्ष मे चल रहे नगरीकरण की प्रक्रिया के लिए भी उपयुक्त प्रतीत होता है। उनके अनुसार नगरीकरण की व्याख्या जीवन के ढंग से की जा सकती है। सामाजिक दृष्टिकोण से नगर जीवन का एक तरीका है (Socially speaking, the city is a way of life)। कोई स्थान नगरीकृत हुआ है अथवा नहीं, इसका निर्धारण जनसंख्या के घनत्व तथा जितनी दूरी में वह जनसंख्या रहती है उससे तय किया जाता है। नगरीकरण की प्रक्रिया को निम्नलिखित सूत्र से व्यक्त किया जा सकता है।

$$U=f\left(\frac{P}{A}.P.\ A\right)$$

U=Urbanity, P=Population, A=Area

किस सीमा का नगरीकरण हो रहा है, उसका निर्धारण इस सूत्र से किया जा सकता है। यदि क्षेत्र (A) पूर्ववत् है और जनसंख्या वहाँ की (P) बढ़ी है तो नगरीकरण की तीव्रता भी अधिक होगी। इसके विपरीत, यदि जनसंख्या किसी कारणवश पहले के समान ही रह गयी तो कहा जा सकता है कि नगरीकरण की प्रक्रिया तीव्र नहीं है।

नगरीकरण के कारण समुदाय का आकार तो विस्तृत होता ही है, साथ ही साथ सामाजिक संगठन के अन्तर्गत सम्बन्ध भी द्वैतीयक होते जाते हैं। सम्बन्ध मे परिवर्तन नगरीकरण का प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। भारतीय ग्रामीण समुदाय के लोग नगरीकरण द्वारा प्रस्तुत प्रभावों से प्रभावित होकर उसकी तरफ आकर्षित होते चले जा रहे हैं। यद्यपि यह प्रक्रिया विश्व के अन्य देशों में भी है, फिर भी उन देशों में जहाँ औद्योगीकरण का विकास अभी हाल मे ही प्रारम्भ हुआ है, नगरीकरण की प्रक्रिया तीव्र गति से कार्य कर रही है। अधिक संख्या मे लोग गाँवों से नगरों की ओर दौड़ते चले जा रहे हैं। निम्न जाति के लोग अधिकतर इसलिये जाते हैं ताकि उनकी सामाजिक प्रस्थिति में कुछ सुधार हो जाय। उनमें इस प्रकार के व्यवहार का एक दूसरा कारण यह भी है कि उन्हें यह विदित है कि उच्च जाति के लोगों की सामाजिक प्रस्थिति इसलिए ऊँची हुई क्योंकि उनका सम्पर्क नगरों से भी रहा। अतः हम लोग भी (निम्न जाति के लोग) नगरों में क्यों न चलकर प्रस्थिति को ऊँचा कर लें। उच्च जाति के लोग पश्चिमी सभ्यता के वशीभूत होकर नगरों से सम्पर्क बनाये रखना चाहते हैं।

एक स्थान नगरीकरण को बढ़ावा दे रहा है ...

जनसंख्या के घनत्व के आधार पर नहीं कह सकते । क्योंकि विभिन्न विचारकों ने जनसंख्या के घनत्व को भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है । यदि किसी समाज में 90 हजार की आबादी वाले स्थान को नगर कहा जाता है तो अन्य समाज में 50 हजार आबादी वाले स्थान को नगर कहा जाता है । इसी प्रकार जापान में जनसंख्या के इससे भी अधिक घनत्व को नगर बनने के लिए आवश्यक बतलाया गया है । विलकॉक्स ने लिखा है कि प्रति वर्गमील एक हजार व्यक्तियों वाले उन स्थान को नगर कहेंगे जहाँ खेती नहीं होती है । कुछ विचारकों का मत है कि विभिन्न सामा-

जहाँ न केवल भारतीय जाति के लोग अपितु अनेक प्रजातियों के लोग रहते हैं । आज तीव्र नगरीकरण विश्व को एक सार्वभौमिक घटना हो गई है जिसके अन्तर्गत अत्यधिक संख्या में लोग गाँवों से नगरों को जा रहे हैं । 1971 की जनगणना रिपोर्ट से पता चलता है कि अब नगरों में 10 करोड़ 90 लाख लोग रहते हैं । यह संख्या भारत में बढ़ते हुए नगरीकरण का द्योतक है । नगरीकरण की इस प्रक्रिया के कारण लोग एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तथा प्रभावित होते हैं ।

किंग्सले डेविस ने नगरीकरण के प्रभावों की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'इसके द्वारा विपरीत तथा अपरिचित लोग एक-दूसरे के निकट सम्बन्ध में आते हैं जिससे कि विभिन्न व्यवहारों तथा लोकाचारों का आदान-प्रदान होता है, अत्यधिक मात्रा में व्यक्तिवादिता का विकास होता है, अन्वेषण, सामाजिक गतिशीलता तथा धर्मनिरपेक्षता की मात्रा में वृद्धि होती है, आर्थिक व्यवस्था अधिक जटिल होती जाती है और उसके साथ-साथ सामान तथा सेवाओं का आदान-प्रदान भी तीव्र हो जाता है । श्रम-विभाजन तथा तार्किक साहस की मात्रा में वृद्धि भी स्वाभाविक है ।'

नगरीय जीवन यद्यपि अप्राकृतिक तथा निर्वाण होता है, फिर भी वह अधिक आकर्षक तथा प्रभावकारी होता है । ग्रामीण समुदाय से आये हुए लोगों को बाध्यरूप से नगरीय जीवन के तौर-तरीकों को स्वीकार करना होता है । यह स्थिति भी देखने को मिलती है कि नगरों की परिस्थितियों से सभी लोग सफल अनुकूलन नहीं कर पाते । फिर भी सभी अनुकूलन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं जिससे विदित होता है कि नगरीय जीवन अधिक प्रभावकारी है, तभी तो अन्य समुदायों के लोग उसकी तरफ आकर्षित होकर उसे अपनाने का सतत प्रयत्न करते रहते हैं । जिन समस्याओं को हम नगरीय कहते हैं, वह वास्तव में नगरीय समस्यायें नहीं होतीं । अधिकांश समस्यायें उन लोगों के द्वारा उत्पन्न की जाती हैं जो नगरीय परिस्थितियों से

सामंजस्य नहीं कर
-महीरूप भारतीय

की कमी आदि कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कारक है, जिन्होंने भारतवर्ष में नगरीकरण को प्रोत्साहित किया है। इन्ही कारकों के कारण भारतवर्ष के अधिकाश छोटे-छोटे नगर महानगरों में परिवर्तित हो रहे हैं जबकि विभिन्न स्थान, जो कभी निर्जन पड़े थे, आज एक विकसित नगर के रूप मे दृष्टिगत हो रहे हैं। वे परिवार, जिनमें सदस्यो के बीच प्राथमिक सम्बन्ध था,-(जब वे ग्रामीण समुदाय में रहते थे) अब उन्ही परिवारो में नगरीकरण के कारण द्वितीयक सम्बन्ध पाया जाता है। एक ही परिवार के लोग विभिन्न पेशो को करते हैं, जिससे उन्हें अपने काम पर विभिन्न स्थानों को तथा भिन्न-भिन्न समय मे जाना होता है। उन्हें एक साथ समय नहीं मिल पाता कि वे बैठ कर विचारों का आदान-प्रदान करें। ऐसी स्थिति में सदस्यों के बीच घनिष्ठता का होना सम्भव नहीं। खेती के साधनों में मशीनों के आ जाने के कारण अब ग्रामीण कृषकों तथा मज़दूरों के बीच परम्परागत सम्बन्ध नही रहे। अब ग्रामीण कृषक भी अपने प्रत्येक व्यवहार के लिए पास के नगरों की ओर देखते हैं। वे प्रत्येक व्यवहार को नगरीय व्यवहार के समान देखना चाहते हैं। अतः ऐसी स्थिति में नगरीय समुदाय का प्रभाव ग्रामीण समुदाय को अछूता नही छोड़ सकता।

भोजन का काम चल जाता था। उनके पास अधिक अनाज न होने के कारण वे अपने जीवन-स्तर को ऊँचा नहीं उठा पाते थे। यही स्थिति भारत मे नगरीय

भारतवर्ष में नगरीकरण के कारण नगरों में जनसंख्या-वृद्धि

1971 की जनगणना रिपोर्ट से विदित होता है कि भारत की कुल जनसंख्या 54 करोड़ 70 लाख है जिसमें 43 करोड़ 80 लाख लोग गाँवों मे तथा 10 करोड़ 90 लाख लोग नगरों में रह रहे हैं। नगरों में रहने वाले लोगों की संख्या 1961 की रिपोर्ट से बहुत अधिक है। नगरों में रहने वाले लोगो की संख्या निरन्तर बढ़ रही है जिसे नगरीकरण का द्योतक कहा जा सकता है। अगले पृष्ठ पर दी हुई तालिक हमारे उपर्युक्त वक्तव्य का समर्थन करती है।

तालिका से स्पष्ट है कि प्रत्येक 10 वर्ष में (जनगणना रिपोर्ट) नगरीय जनसंख्या बढ़ी है। जनसख्या के घनत्व में वृद्धि भी चूंकि एक आधार है अतः कहा जा सकता है कि नगरीकरण की प्रक्रिया भारत में विकासोन्मुख है।

क्रम संख्या	जनगणना रिपोर्ट वर्ष	कुल जनसख्या का प्रतिशत	
		नगरीय	ग्रामीण
1.	1921	11 4	88 6
2.	1931	12·1	87·9
3.	1941	13 9	86·1
4.	1951	17 3	82·7
5.	1961	18 1	81·9
6.	1971	19 9	80 1

क्या नगरीकरण और औद्योगीकरण एक-दूसरे के पूरक हैं ?

अधिकाशतया लोग नगरीकरण तथा औद्योगीकरण को एक-दूसरे का पर्यायवाची मान लेते है जबकि वास्तविकता यह है कि दोनो अलग-अलग धारणाएँ हैं। यद्यपि यह बात सही है कि कही-कही नगरीकरण तथा औद्योगीकरण की प्रक्रिया साथ-साथ कार्यशील रही है फिर भी इसे एक सार्वभौमिक नियम के रूप मे नही स्वीकारा जा सकता। कही-कही नगरीकरण पहले हुआ जबकि औद्योगीकरण बहुत बाद मे प्रारम्भ हुआ। भारत के अधिकाश नगर ऐसे है (जैसे बनारस, इलाहाबाद, आगरा आदि) जहाँ औद्योगीकरण आधुनिक अर्थ मे अब भी नही के बराबर है। यही स्थिति चीन के अधिकाश नगरो की है। इसके साथ-साथ इस बात की भी सम्भावना अधिक हो सकती है कि औद्योगीकरण पहले हो और फिर बाद में नगरीकरण प्रारम्भ हो। भारत के कुछ नगरों (जैसे भिलाई, दुर्गापुर आदि) मे यह स्थिति देखी गयी थी। अतः कहा जा सकता है कि दोनों प्रक्रियाएँ न तो समान हैं और न ही एक-दूसरे की पूरक। लेकिन यह बात सत्य है कि दोनो लगभग एक साथ ही किसी समाज में कार्यशील हो सकती हैं। अधिकांश नगरो मे उद्योगों की स्थापना इसलिए की जाती है ताकि अधिक बेकार लोगों को रोजगार उपलब्ध हो सके। यह स्थिति जिसमे अधिकाश लोग नगरों में बेकार हैं अति नगरीकरण (over urbanisation) से व्यक्त किया जाता है। विकासशील देशो (जैसे भारतवर्ष आदि) की यह विशेषता है कि वहाँ कभी-कभी या तो तीव्र गति से अथवा धीमी गति से नगरीकरण की प्रक्रिया कार्य करती है जिसके कारण समाज का एक पहलू प्रभावित होता है तो अन्य पूर्ववत्

बने रहते हैं । ऐसा भी अनुभव किया जाता है कि वह भाग जो परिवर्तित हो रहा था स्थिर अवस्था में तब तक बना रहता है जब तक कि अन्य भाग उसकी बराबरी में नही आ जाते । अविकसित राष्ट्र जहाँ नगरीकरण की प्रक्रिया को अब कार्यशील माना जाता है, उसकी तुलना पश्चिमी देशों में हो रहे नगरीकरण से की जाती है। जो विचारक यह मानते हैं कि औद्योगीकरण नगरीकरण को जन्म देता है उनका मत है कि 'यदि औद्योगीकरण को आधुनिक युग की प्रथम महान् और कार्यशील क्रान्ति माना जाय तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रकार की दूसरी महान् क्रान्ति नगरीकरण है ।' भारतवर्ष मे नगरीकरण की प्रक्रिया के कारण केवल नगरों में जनसख्या की वृद्धि ही विशेष उल्लेखनीय नहीं है अपितु नये-नये स्थान भी नगरीय विशेपताओ को धारण कर रहे हैं । आज इस ब्रह्माण्ड में जो विश्व-व्यापी नगरीकरण की प्रक्रिया कार्यशील है उसकी कई विशेपताएँ होनी चाहिए । सम्भवतः इन्ही विशेपताओ की प्राप्ति के लिए विकासशील देश नगरीकरण की प्रक्रिया को अपना रहे है । दूसरा कारण यह है कि इन विकासशील राष्ट्रों को विदित है कि इन विशेपताओं की प्राप्ति पश्चिमी देशों को नगरीकरण के कारण ही सम्भव हो सकी है । जिन उपलब्धियो के लिए भारतवर्ष मे नगरीकरण को अपनाया जा रहा है वह निम्नलिखित हैं—

(1) राजनीतिक स्थिरता,
(2) आर्थिक सुदृढ़ता,
(3) उच्च रहन-सहन का स्तर, तथा
(4) व्यवस्थित तथा गतिशील सामाजिक ढांचे का निर्माण ।

अधिकाश देश जहाँ नगरीकरण की प्रक्रिया सदियों से कार्यशील है उपर्युक्त विशेपताओं को न्यूनाधिक अंशो में प्राप्त करने मे सफल रहे है । नगरीकरण के कारण किसी देश की सम्पूर्ण जनसख्या प्रभावित होगी, निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। इस बात की सम्भावना हो सकती है कि तीव्र नगरीकरण की प्रक्रिया किसी समाज में कार्यशील हो फिर भी कम सख्या में लोग उससे प्रभावित हुए हों । इसके अतिरिक्त किसी समाज की जनसख्या का घनत्व कम होते हुए भी वहाँ पर नगरीकरण की प्रक्रिया तीव्र हो सकती है । इसके विपरीत किसी समाज में जनसख्या का घनत्व अधिक होते हुए भी उस समाज में नगरीकरण की प्रक्रिया धीमी हो सकती है जैसा कि भारतवर्ष मे है । श्रम-विभाजन जो नगरीकरण की विशेपता है—उसकी प्राप्ति औद्योगीकरण के बिना भी की जा सकती है जैसे भारतवर्ष में श्रम-विभाजन और विशेपीकरण उस समय भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये थे जब यहाँ औद्योगीकरण का श्रीगणेश भी नही हुआ था । इसका यह अर्थ कदापि नही कि औद्योगीकरण नगरीकरण को प्रभावित ही नही करता । औद्योगीकरण नगरीय क्षेत्र में वृद्धि के लिए ही जिम्मेदार नहीं होता अपितु नगरीकरण के प्रकार को भी तय करता है । इसके अतिरिक्त आर्थिक विकास भी औद्योगीकरण से प्रभावित होता है ।[1] नगरीकरण के प्रारम्भिक दिनो में जैसा कि भारतवर्ष मे आजकल हो रहा है अधिकाशतया आवश्यक उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन पर बल दिया जाता है अथवा उन चीजों

[1] 'Industrialisation is likely to affect, in a very significant way, not only the rate of growth of particular Urban areas but also the type of growth in Urbanisation, as well as the relative level of economic development involved in Urbanisation.'

के उत्पादन पर जिस पर लागत कम लगती है लेकिन जैसे-जैसे अवधि बढ़ती जाती है अधिक महत्त्वपूर्ण तथा सुख सुविधा की चीजों का निर्माण भी बढ़ता जाता है । आधुनिक नगरीकरण आवश्यक रूप से औद्योगीकरण को बढ़ावा दे रहा है, क्योंकि बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए रोजगार की सम्भावना औद्योगीकरण से ही हल हो सकती है ।

नगरीकरण और नगरवाद

नगरीकरण (Urbanisation) और नगरवाद (Urbanism) दो अलग-अलग धाराएँ हैं जिनका विवेचन आवश्यक है । नगरीकरण एक प्रक्रिया है जिससे कोई स्थान नगरीय विशेषताओं को धारण करता है जबकि नगरवाद नगरीय जीवन ढंग को व्यक्त करता है। नगरीय जीवन ढंग का निर्धारण वे व्यवहार के ढंग, संगठन के प्रकार, मूल्य तथा व्यवहार प्रतिमान तय करते हैं जो पूर्व निश्चित हैं । किसी नगर में लोगों का व्यवहार किस प्रकार का होगा इसका निर्धारण सामाजिक मूल्य के अनुरूप पहले से ही तय होता है जिसका पालन उस नगर के रहने वाले लोगों को करना होता है । नगरवाद एक सापेक्षिक शब्द है यही कारण है कि ग्रामीण व्यवहार किस प्रकार नगरीय व्यवहार से भिन्न है उसे व्यक्त किया जाता है । एक व्यक्ति जो अभी तक गाँव में रहा है उसका व्यवहार नगरीय व्यवहार प्रतिमान से भिन्न होता है । नगरवाद के माध्यम से व्यक्ति नगरीय व्यवहारों को अपनाता है । प्रक्रिया की विशेषता यह है कि उसमे परिवर्तन के साथ-साथ निरन्तरता भी पायी जाती है । यही कारण है कि नगरीकरण प्रक्रिया में भी निरन्तरता पायी जाती है । यह अवश्य है कि परिवर्तन की गति स्थान तथा समय के साथ-साथ बदलती रहती है । एक व्यक्ति किसी कस्बे अथवा नगर में कितने दिनो से है यही उसके नगरवाद को तय करेगा । नगरीकरण इसी नगरवाद को व्यक्त करता है कि कोई व्यक्ति जो नगर के सम्पर्क में आया है वह किस प्रकार प्रभावित हुआ है । प्रो० राव के शब्दो मे नगरीकरण जहाँ एक प्रक्रिया है वहीं पर नगरवाद जीवन ढंग को व्यक्त करता है । ग्रामीण लोग, समीपवर्ती कस्बे अथवा नगर से किस प्रकार का सम्बन्ध रखते हैं यह नगरीकरण के अध्ययन का एक आधार हो सकता है । इसे अन्य शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है : प्रथम—वह प्रत्यक्ष तरीका जिससे कि ग्रामीणवासी नगर के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में भाग लेते हैं । इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि ग्रामीणवासी नगरों में जाकर रहें ही । वे गाँव में रहते हुए भी नगरीय संस्कृति से प्रभावित हो सकते हैं । दूसरा—अन्तर-वैयक्तिक सम्बन्ध जो ग्रामीण लोग नगरीय लोगों के साथ रखते हैं ।

यद्यपि नगरीकरण सामाजिक परिवर्तन का एक कारक है फिर भी वह स्वतः परिवर्तित होता रहता है । भारत के नगरो मे रहने वाले लोगों में भी ग्रामीण जीवन ढंग दृष्टिगत होता है । यह भारतीय नगरीकरण की अपनी विशेषता है । इस प्रकार के नगरीकरण को जिसे परम्परागत नगरीकरण कहते हैं आधुनिक नगरीकरण प्रभावित कर रहा है । एम० एम० ए० राव ने लिखा है कि जब ब्रिटिश शासन काल मे नगरीकरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई तो उसने परम्परागत नगरवाद को प्रभावित किया ।[1]

[1] 'When modern Urbanisation was introduced, especially under British rule, it had its initial impact on traditional Urbanism.'

नगरीकरण का प्रभाव

इससे पहले कि नगरीकरण के प्रभावों का उल्लेख किया जाय यहाँ यह लिखना विशेष लाभकारी होगा कि भारतवर्ष में नगरीकरण की अपनी अलग परम्परा नहीं रही है—यही कारण है कि नगरीकरण का प्रारूप यहाँ भी कुछ वैसा ही है जैसा कि अन्य विकसित देशों में है। वास्तविकता तो यह है कि यहाँ लोग पश्चिमी नगरीकरण के तौर-तरीकों को अपना रहे हैं। भारतीय नगरीकरण की जो बाह्य विशेषता परिलक्षित हो रही है वह यह है कि अपेक्षाकृत कम क्षेत्र में बहुत अधिक लोग रहते हैं। जैसे दिल्ली मे जनसंख्या का घनत्व क्षेत्रफल के अनुपात में बहुत अधिक है। यद्यपि भारतीय नगरीकरण पश्चिम के नगरीकरण से कुछ भिन्न है फिर भी नगरीकरण का प्रभाव यहाँ भी वैसा ही पड़ रहा है जैसा कि पश्चिमी समाजो पर पड़ रहा है।

(1) आर्थिक क्षेत्र—नगरीकरण के कारण आर्थिक ढाँचा परिवर्तित होता है। प्रत्येक नगर के लिए आर्थिक आधार हुआ करता है जिसकी प्राप्ति नगरीकरण के कारण होती है। यह बात सही है कि खाद्यान्न आस-पास के गाँवों से नगरों को मिल जाता है लेकिन अन्य आवश्यकता की चीजें वही पर निर्मित करनी होती हैं। यही कारण है कि अब प्रत्येक प्राप्य जगह का प्रयोग उत्पादन कार्य के लिए किया जा रहा है। जैसे-जैसे आवश्यकताएँ बढ़ी उत्पादन की मात्रा भी बढ़ती गयी। पहले वाष्प क्ति का प्रयोग मशीनों को चलाने के लिए किया जाता था अब शक्ति का उत्पादन स तथा परमाणु से किया जा रहा है। तेज, सुरक्षित तथा सस्ते यातायात के साधनों क कारण आधुनिक शहरों का विस्तार तेजी से हो रहा है। साथ ही साथ उत्पादित वस्तु के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार उपलब्ध है। यही कारण है कि अब नगरो में उत्पादन केवल उपभोग के लिए न होकर व्यापार के लिए भी किया जा रहा है। नगरीकरण के कारण आर्थिक पहलू समृद्ध होने लगा है। बड़ी-बड़ी मशीनों के लग जाने के कारण अब कोई भी कार्य असम्भव नहीं रहा। अधिक उत्पादन के कारण विशेषीकरण की सम्भावना बढ़ती जा रही है जो आधुनिक युग की सर्वाधिक चर्चित विशेषता है।

(2) सामाजिक क्षेत्र—नगरीकरण का सामाजिक जीवन पर सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह पडा है कि इसके कारण अब सम्बन्ध द्वितीयक अथवा अवैयक्तिक होता जा हा है। व्यक्ति अब अपनी आवश्यकताओं को सीमित करता जा रहा है तथा उसके सामने अब विकल्प भी कम होता जा रहा है। अब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर विश्वास नही करता। इसका कारण यह है कि मनुष्य का जीवन भी मशीनो की भाँति तेज हो गया है और उन्हे अब इतना समय नही मिल पाता कि वे आपस में मिल-जुलकर किसी समस्या का समाधान ढूँढ सकें। अब व्यक्ति का जीवन घड़ी की सूई से नियन्त्रित होने लगा है—उसे कब सोना है, कब जागना है और कब काम करना है ह सभी घडी से तय होता है। अब काम करना इतना अधिक यन्त्रीकृत हो गया है के व्यक्ति अपने द्वारा निर्मित वस्तु पर अपनी छाप नहीं लगा पाता। वह अपने रक्तसम्बन्धियों से भी मिलने में अपने को असमर्थ पाता है। काम के अतिरिक्त उसे जो समय मिलता है उसको वह किताबों को पढने अथवा सिनेमा आदि देखने मे लगाता है। पड़ोस आदि की अवधारणा अब समाप्त हो रही है। नगरीकरण अब ऐसे वृहद्

समाज (mass society) को जन्म दे रहा है जहाँ कोई भी एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की परवाह नहीं करता। व्यक्ति की स्वतन्त्रता बढ़ी है। अब वह उन लोगों से भी सम्बन्ध रख सकता है जिनसे सम्बन्ध रखना वर्जित था। 'सामाजिक और स्थानिक दोनों ही प्रकार की गतिशीलता अब पायी जा रही है (There is a mobility, both in the spatial and social sense)।' नगरों में जनसंख्या का घनत्व बढ़ जाने के कारण अब व्यक्ति कभी-कभी अपने को अकेला पाने लगता है क्योंकि भीड़ में एक-दूसरे को ठीक से जानना सम्भव नहीं। परिवार के ऊपर इसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। परिवार के जो परम्परागत सामाजिक और आर्थिक कार्य थे वे अब नहीं रहे। अब परिवार केवल उपभोग की इकाई रह गयी है जबकि पहले यह उत्पादन की भी इकाई थी। अब परिवार का आकार भी छोटा हो रहा है। नगरीकरण के कारण परिवार का मुख्य कार्य जैसे धार्मिक शिक्षा, छोटों को उपदेश, मनोरंजन तथा सामाजिकता मे वृद्धि आदि अब अन्य एजेन्सियों द्वारा पूरे किये जा रहे हैं चूंकि अन्य एजेन्सी ठीक से इसे पूरा नहीं कर पा रही हैं यही कारण है कि व्यक्तिगत विघटन अब अधिक मात्रा मे हो रहा है। एक अन्य अध्ययन में यह सिद्ध किया गया है कि नगरीकरण संयुक्त परिवार प्रणाली को एकाकी परिवार में परिवर्तित कर रहा है। ऐसा सम्भवतः आवास व्यवस्था की कठिनाई तथा रहन-सहन के बारे में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति है। अब व्यक्ति द्वैतीयक समूहों से अधिक नियन्त्रित होने लगा है। विवाह की आयु अब बढ़ती जा रही है। पहले कम उम्र में विवाह करना उचित माना जाता था, आज उम्र जितनी ही अधिक हो उसे ठीक माना जाता है। नगरीय व्यक्ति विवाह के लिए तब तक तैयार नहीं होता जब तक कि वह आर्थिक दृष्टिकोण से स्वतन्त्र नहीं हो जाता। अधिक आयु में विवाह के कारण अब सामंजस्य में कठिनाई हो रही है जिसके कारण पारिवारिक विघटन स्वाभाविक है। अधिक आयु मे विवाह अनेक सामाजिक समस्याओं को जन्म देता है—जिसका समाधान नगरीय लोगो के लिए आवश्यक है।

[illegible] लोगों की आवश्यकताएँ बढ रही हैं [illegible] हिक जीवन से अब वे दूर हैं अतः उन्हे सरकार पर आश्रित रहना पड़ता है कि वह उनकी आवश्यकताओं को पूरा करेगी। यही कारण है कि नगरो में शिक्षा की व्यवस्था, मनोरंजन की व्यवस्था, चिकित्सा की व्यवस्था सरकार द्वारा की जा रही है। पीने का पानी, बिजली, यातायात के लिए बसें इन सबकी व्यवस्था अब सरकार की जिम्मेदारी हो गयी है। पहले इन आवश्यकताओं की पूर्ति व्यक्ति अकेले कर लेता था।

(५) सामाजिक विजातीयता—नगरीकरण के कारण समुदाय के सदस्य विजातीय (heterogeneous) दिखाई देते हैं। यह विजातीयता उनके जीवन के प्रत्येक पटल [illegible] में विजातीयता, रहन-सहन, खान-पान [illegible] को मिलती है। एक नगर में विभिन्न भाषा [illegible] जते है। यह विजातीयता आधुनिक समय में [illegible] के लिए आवश्यक भी हो सकती है। इस स्थिति के कारण नगरीय लोगो के सम्बन्ध साधारणतया घनिष्ठ न होकर साधारण ही बने रहते हैं जिन्हे किसी भी परिस्थिति मे तोड़ा जा सकता है। लोगों को मालूम होता है कि एक परिवार थोड़े समय के लिए ही नगर मे आया है (जैसे नौकरी पेशे

वाले लोग दो या तीन वर्ष तक साधारणतया एक स्थान पर रहते हैं), अतः ऐसी स्थिति में सम्बन्ध प्रगाढ़ करने से क्या लाभ ?

(5) जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि—नगरीकरण के कारण जनसंख्या का घनत्व निरन्तर बढ़ता जाता है। जनसंख्या इतनी अधिक हो जाती है कि सभी नागरिक एक निश्चित स्थान पर बसाये नही जा सकते। जनसंख्या की अधिकता के कारण ही नगरों में गन्दी बस्तियों (slums) का विकास हुआ है जिनकी अनेक समस्याएँ हैं। भारतवर्ष के कुछ नगर जनसंख्या की दृष्टि से विश्व के प्रथम 10 नगरों में अपना स्थान रखते हैं।

(6) अवैयक्तिक सामाजिक सम्पर्क—नगरीकरण के कारण जैसे जनसंख्या का घनत्व बढ़ रहा है वैसे-वैसे व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध घनिष्ठ न होकर द्वैतीयक होते जा रहे हैं। मौरिस के शब्दों में, जैसे-जैसे नगर बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे इस बात की सम्भावना भी बढ़ती जाती है कि दो व्यक्ति एक दूसरे को नही जानेंगे। नगरों में सामाजिक सम्पर्क अवैयक्तिक, क्षणिक, अनावश्यक तथा खण्डात्मक होता है।[1] एक व्यक्ति इस बात की ओर कभी ध्यान नही देता कि उसे कभी दूसरों की आवश्यकता पड़ सकती है।

(7) विकसित श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण—नगरीकरण के साथ-साथ श्रम-विभाजन भी बढ़ता जाता है। श्रम-विभाजन की आवश्यकता बढ़ती हुई सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनिवार्य मानी जाती है। श्रम-विभाजन इसलिये भी आवश्यक माना जाता है ताकि समाज का कोई भी कार्य अछूता न रह जाय। कुछ कार्य ऐसे होते है जिन्हे करने के लिए कोई तैयार नही होता। अतः श्रम-विभाजन ही केवल वह माध्यम है जिससे उन कार्यों को करने के लिए भी लोगों को तैयार कर लिया जाता है। नगरीय आवश्यकतायें असीमित होती जा रही हैं, अतः उनकी पूर्ति श्रम-विभाजन के माध्यम से ही सम्भव है। श्रम-विभाजन के कारण एक व्यक्ति एक ही प्रकार के कार्यों को करते-करते उसमें दक्षता प्राप्त कर लेता है जिससे विशेषीकरण की प्रक्रिया जन्म लेती है। अब छोटे-छोटे कुटीर उद्योग धन्धों का स्थान बड़े-बड़े उद्योगों द्वारा लिया जा रहा है। विभिन्न उद्योग-धन्धे विशेषीकरण के साथ-साथ आपस में एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित हैं जिसके कारण नगरीय सन्तुलन स्थिर नहीं रह पाता।[2] यह नगरीकरण का प्रभाव है कि अब अंशों का विशेपीकरण (specialisation in degrees) देखने को मिल रहा है।

(8) आर्थिक वर्गों का निर्माण—आर्थिक आधार पर नगरीय जनता विभिन्न वर्गों में विभक्त दीखती है। प्रत्येक वर्ग की सामाजिक-अन्तःक्रिया अपने ही वर्ग के सदस्यों के साथ होती है, यही कारण है कि एक आर्थिक वर्ग अपने सदस्यों के कल्याण के लिए अधिक चिन्तित रहता है। आर्थिक विषमता के कारण ही उनके रहन-सहन

[1] 'As a town or city grows, it becomes less likely that any resident will know all the others personally. Social contacts are, therefore, impersonal, superficial, transitary and segmental.'

[2] 'As the density of population in an area increases, greater differentiation and specialisation tends to result. Extreme specialisation and interdependence is associated with an unstable equilibrium in the city.' —R. N. Morris

के स्तर में महान् अन्तर देखने को मिलता है। एक व्यक्ति, जो उच्च आर्थिक वर्ग का सदस्य है, वह विशाल प्रासादों में रहता है तो वहीं पर निम्न आर्थिक वर्ग का सदस्य सड़कों और गलियों में लेटा हुआ मिलेगा। भारतीय नगरीकरण की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ पर एक नवीन वर्ग, जिसे मध्यम वर्ग कहते हैं, पनप रहा है। इस वर्ग की महत्ता सामाजिक नीति-निर्धारण में निरन्तर बढ़ती जा रही है।

(9) प्रतिस्पर्द्धा की भावना—नगरीकरण के परिणामस्वरूप प्रतिस्पर्द्धा की भावना में विकास हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए एक दूसरे से प्रतियोगिता में लगा है। इस स्थिति के कारण सदस्यों में सहयोग तथा एक होने की भावना निरन्तर कम होती जाती है। यह नगरीकरण का प्रभाव है कि सहयोग के स्थान पर प्रतिस्पर्द्धा तथा संघर्ष की मात्रा बढ़ती जा रही है।

(10) विभिन्न वर्गों से सम्पर्क—नगरीकरण के कारण एक व्यक्ति विभिन्न समूहों में अपना सम्पर्क बनाकर उसके क्रिया-कलापों में भाग लेता रहता है। एक व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति उसकी उस स्थिति से लगायी जाती है कि वह अधिकतम कितने संगठनों का सदस्य है। सामाजिक सम्बन्धों की निरन्तरता के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति विभिन्न स्थितियों में अपनी प्रस्थिति के अनुरूप अलग-अलग व्यवहार करे, लेकिन साधारणतया ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। यही कारण है कि कभी-कभी सामाजिक सम्बन्धों में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है।

(11) द्वैतीयक सम्बन्ध—नगरीकरण के कारण प्राथमिक सम्बन्ध के स्थान पर द्वैतीयक सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण होते जाते हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से तभी तक सम्बन्ध कायम रखना चाहता है जब तक कि उसके स्वार्थ पूरे नहीं हो जाते। परिवार तथा अन्य प्राथमिक समूहों में भी सम्बन्ध घनिष्ठ तथा प्राथमिक नहीं रह पा रहा है। सामाजिक संगठन की गतिशीलता का एक कारण सम्बन्धों का द्वैतीयक होना है।

(12) औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के साधन—नगरीकृत स्थानों में व्यक्तियों के व्यवहारों का नियन्त्रण प्रत्यक्ष साधन द्वारा न होकर अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा होता है। साधारणतया व्यक्तियों के व्यवहार औपचारिक नियन्त्रण के साधनों द्वारा नियमित किये जाते हैं, जैसे कानून तथा राज्य द्वारा समय-समय पर निर्मित नियम। कानून के माध्यम से व्यक्ति अपने व्यवहार का नियन्त्रण करने लगा है। द्वैतीयक सामाजिक नियन्त्रण के साधनों में वे चीजें आती हैं जो व्यक्ति से दूर होते हुए भी उन पर बाध्यतामूलक प्रभाव डालती हैं।

(13) सामाजिक गतिशीलता—नगरीकरण के कारण सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि होती है। कभी-कभी तो लम्बवत् गतिशीलता (vertical mobility) भी देखने को मिलती है जिससे व्यक्ति की प्रस्थिति समूल रूप से परिवर्तित हो जाती है। एक व्यक्ति जो आज निर्धन है और इस कारण वह निम्न वर्ग का सदस्य माना जाता है। यदि वही कहीं से किसी प्रकार धनी हो जाता है तो उसके सामाजिक सम्पर्क भी बदल जायेंगे। इस प्रकार का परिस्थिति-परिवर्तन लम्बवत् सामाजिक गतिशीलता को जन्म देता है। डेविस ने लिखा है कि नगरीय व्यक्ति अपनी प्रस्थिति को ऊँचा-नीचा कर सकते हैं।[1] मौरिस ने लिखा है कि नगरीय लोग भौगोलिक तथा

[1] 'The Urban person can, therefore, raise or lower his status to a remarkable degree and the competition for status becomes a perpetual preoccupation.'

सामाजिक दृष्टिकोण से गतिशील होते हैं।[1]

(14) व्यक्तिवादिता में वृद्धि—प्रत्येक व्यक्ति अपने में ही लगा रहता है। 'स्वहित' 'समूह हित' से प्रबल होता है। नगरीकरण की यह विशेषता है कि निरन्तर लोगों में 'समूह हित' की भावना क्षीण होती जा रही है और उसके स्थान पर 'व्यक्तिगत हित' महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसी व्यक्तिवादिता के कारण अब अधिकांश व्यवहार ऐसे किये जा रहे हैं जो समाज के लिए उचित नहीं कहे जा सकते।

(15) कृत्रिमता—नगरीकरण के कारण अब कृत्रिम चीजों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। अब प्रकृति-प्रदत्त चीजो को इन्ही कृत्रिम चीजो से स्थानापन्न किया जाता है। इन कृत्रिम चीजों का निर्माण मशीनो से होता है। यही कारण है कि नगरीय लोग मशीनों पर अधिक आश्रित होते हैं। दिखावा नगरीय जीवन की आज सर्वाधिक विशेषता होती जा रही है।

(16) तार्किक निष्कर्ष—शिक्षा के प्रचार तथा अन्य सभ्यताओं के सम्पर्क के कारण नगरीय व्यक्ति अधिक तार्किक दृष्टिकोण रखते है। वे परम्परागत व्यवहारों को न अपनाकर साधारणतया उन व्यवहारो को अपनाते है जो तार्किक, वैज्ञानिक तथा आधुनिक आवश्यकता के अनुरूप हैं।

(17) सामाजिक सहिष्णुता—नगरों में विभिन्न विचारों के लोग होते हैं। एक व्यक्ति यदि आस्तिक है तो दूसरा नास्तिक। एक यदि पूंजीवाद को चाहता है तो दूसरा साम्यवाद को। इन असीमित भिन्नताओं के होते हुए भी नगरीय लोग अपने-अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर लेते हैं। इसे सामाजिक सहिष्णुता (social tolerance) से सम्बोधित किया जा सकता है। डेविस ने लिखा है कि नगरीय लोगों की राय तथा हितों मे उग्रता है, धन तथा कंगाली दोनों ही सीमा से परे की हैं, शिक्षा तथा पिछड़ापन दोनों है, फिर भी लोग साथ-साथ रह लेते हैं।[2]

(18) निम्न जाति के सदस्यों का नगरों के प्रति झुकाव—आर्थर निहाफ ने लिखा है कि नगरीय जीवन निम्न जाति के सदस्यो के लिए आकर्षक केन्द्र है क्योकि यहाँ उसे परिस्थिति में परिवर्तन की गुंजाइश दृष्टिगत होती है। उच्च जाति के लोगों के लिए नगर इसलिए अधिक आकर्षक नही बन सके क्योकि उनके लिये वहाँ रोजगार के सीमित अवसर है। उच्च जाति के लोग सभी कार्यों को स्वीकार नही करते।

(19) अपराध-दर में वृद्धि—नगरों मे जनसंख्या के घनत्व के बढ़ जाने के कारण व्यक्ति अपराधी कार्यों को इसलिए करता है क्योकि वह इस धारणा से नियन्त्रित होने लगता है कि उसे वहाँ कोई पहचानता नही है। इस स्थिति के कारण व्यक्ति उन कार्यों को भी आसानी से करने लगता है जिसे वह सामान्यतया नही करता। चोरी, डाका, हत्या, आगजनी, व्यभिचार तथा बलात्कार सभी नगरों में देखे जाते हैं।

(20) नगरीय व्यवहार अपनाने में बाधायें—भारतीय नगरीकरण की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ नगरों मे रहने वाले नगरीय व्यवहार न करके परम्परागत व्यवहार को ही ढोते हैं। सोवानी ने लिखा है कि लोग अभी भी सुसंस्कृत नागरिक

[1] 'City people are geographically and socially mobile.'

[2] 'Extremes of opinion and interest, extremes of poverty and wealth, extremes of education and backwardness.'

नहीं हैं (The man are not yet cultured city residents)। एक अन्य अध्ययन में यह सिद्ध किया गया है कि इस व्यवहार का कारण नगरों की उस व्यवस्था की कमी है जो अल्प विकसित देशों के नगरों में पाये जाते हैं (There is no system of cities in keeping with the pattern found in the more

[illegible]

लगे है। नगरीय व्यवहारों को अपनाने में कठिनाई का एक अन्य कारण यह है कि यहाँ अधिकांश लोग ग्रामीण क्षेत्रों से आते हैं जिनके व्यवहार करने का तरीका

[illegible]

वह परम्परागत व्यवहार के स्थान पर नये व्यवहारों को नहीं अपना पाता (The dependency load per earner is higher in the urban than in the rural areas)।

नगरीकरण से उत्पन्न सामाजिक समस्याएँ

नगरीकरण जहाँ एक ओर जीवन की गतिविधि (mode of life) में परिवर्तन करने के लिए जिम्मेदार है, वहीं पर उसने अनेक ऐसी समस्याओं को जन्म दिया है, जो उचित नहीं है। भारतीय नगरीकरण के कारण भी अधिकांशतया वही समस्याएँ अवतरित हो रही हैं जो अधिक विकसित समाजों में हैं। यातायात तथा आवागमन के साधनों में विकास के कारण नगरीकरण का प्रभाव अब अधिक व्यापक होता जा रहा है। यही कारण है कि सामाजिक समस्याएँ भी उसी अनुपात में बढ़ रही हैं।

(1) यातायात-सम्बन्धी समस्या—नगरीकरण के कारण अब यातायात (traffic) की समस्या अधिक प्रमुख हो गई है। प्रत्येक सड़क पर हजारों की संख्या में मोटर, बसें, कार, ट्रक आदि चलते रहते हैं। इसके अतिरिक्त लाखों की संख्या में लोग पैदल आते-जाते रहते हैं। नगरों में सवारी की उचित व्यवस्था न होने के कारण तथा आने-जाने वालों की संख्या में निरन्तर वृद्धि के कारण दुर्घटनाएँ हो जाती हैं। आज नगरों के प्रशासकों के सामने यह समस्या है कि इन बढ़ती हुई दुर्घटनाओं को किस प्रकार कम किया जाय।

(2) आवास की समस्या—आवास व्यवस्था का प्रत्यक्ष सम्बन्ध कार्यक्षमता तथा आदत से है। यदि व्यक्ति के लिए आवास व्यवस्था उचित है तो उसकी कार्यक्षमता बढ़ सकती है तथा वह अच्छी आदतों को सीख सकता है। लेकिन यदि आवास व्यवस्था अनुपयुक्त है तो उससे व्यक्ति की आदत गन्दी पड़ सकती है तथा उसकी कार्यक्षमता घट सकती है। नगरों में रहने वालों की प्रमुख समस्या आवास ही है। [illegible] में रहते हैं जहाँ आवास [illegible] इन का खर्च इतना अधिक है कि लोग मौलिक आवश्यकता जैसे—भोजन, वस्त्र तथा आवास की उचित व्यवस्था

नही

सम-

की

... देश का स्थिति

है। मकान निर्माण की कीमत निरन्तर बढ़ती जा रही है। यह भी एक प्रमुख कारण है कि लोग अब अधिक संख्या मे भवन निर्माण नही कर रहे हैं। सरकार अब स्वयं आवास योजना लागू करके इससे सम्बन्धित समस्याओं के निराकरण का प्रयत्न कर रही है।

(3) सुरक्षा तथा कल्याण की समस्या—नगरीकरण के कारण व्यक्तिवाद पनप रहा है, अतः सामाजिक सुरक्षा तथा कल्याण कार्य के लिए सरकार को आगे आना पड़ रहा है। पहले प्राथमिक इकाइयाँ इन आवश्यकताओं को पूरा कर देती थीं। संयुक्त परिवार, सुरक्षा तथा कल्याण कार्य का एक आदर्श नमूना था। लेकिन अब स्थिति बदली हुई है। संयुक्त परिवार अब एकाकी परिवार मे परिवर्तित हो रहा है। यही कारण है कि सरकार को अब स्वयं सुरक्षा तथा कल्याण कार्यों के लिए आगे

पढ़ने वालों की संख्या कई गुनी बढ़ गयी है। इस स्थिति के कारण अधिकांश लोग शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाते। फलस्वरूप वे उन कृत्यों में लग जाते हैं जो उचित नहीं है। बढ़ती हुई शिक्षा की आवश्यकता को पूरा करने के लिए अधिक धन भी चाहिए जिसे सरकारें दे नही पातीं। शिक्षा की समस्या का निराकरण आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से भी आवश्यक है।

उपसंहार

यद्यपि यह बात सही है कि भारत में नगरीकरण पश्चिमी समाजों में हो रहे नगरीकरण से किन्हीं अर्थों मे समान है फिर भी भारतीय नगरीकरण की अपनी कुछ विशेषता है। एक विज्ञप्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि एशिया के बड़े-बड़े नगर अधिक जनसंख्या का घनत्व रखते हैं, विस्तृत क्षेत्र में जाते हैं, विजातीय भी हैं

फिर भी वे आपसी सम्बन्धों में, उस परिवर्तन को जन्म नहीं दे सके हैं जो पश्चिमी समाजों में है। यही स्थिति सामाजिक संस्थाओं की भी है। नगरों में धर्मनिरपेक्षीकरण भी उस सीमा तक नहीं है। श्रम-विभाजन तथा विभिन्नीकरण का स्वरूप भी पहले जैसा है। इन नगरों में यद्यपि विजातीयता है फिर भी लोगों में तार्किकता, उदार दृष्टिकोण तथा आविष्कार के कारण परिवर्तन की प्रवृत्ति नहीं है।[1] फिर भी नगरीकरण ने सांस्कृतिक तत्त्वों में परिवर्तन को जन्म दिया है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण न केवल नगरीय लोगों के अपितु उसके आस-पास के ग्रामीण लोगों के बदलते हुए रहन-सहन के ढंग से लगाया जा सकता है। एक अन्य अध्ययन में यह प्रमाणित किया गया है कि एशिया के नगर आर्थिक विकास, उच्च शिक्षा स्तर, नये प्रकार के व्यापारिक संस्थान, नये प्रशासनिक व्यवहार, तथा उन प्रविधियों को देने में सफल रहे हैं जिसकी समाज को आवश्यकता है।[2]

अन्त में यह कहा जा सकता कि नगरीकरण एक अवश्यंभावी सामाजिक प्रक्रिया है जिसके कारण सामाजिक पुनर्निर्माण तथा व्यक्ति का परिवर्तन (transformation of man) प्रायः निश्चित है। डेविस ने उचित ही लिखा है कि जब सम्पूर्ण विश्व नगरीकृत हो जायेगा जैसा कि आज परिस्थिति से विदित होता है तब मानव समाज को निश्चित रूप से प्रमुख परिवर्तनों को स्वीकार करना होगा। विभिन्न देशों में आज आधे से अधिक जनसंख्या नगरीय स्थानों पर रह रही है।[3]

[1] 'Despite the great heterogeneity of the population in many of these cities, both for exogenous and indigenous ethnic groups, little has occurred in the way of increased sophistication, rationality in behaviour, cosmopolitanism of outlook or innovation and social change.'

[2] 'The cities of Asia are most important centres of cultural change, specially in those fields which vitally affect economic development, advanced education and new forms of business organisation.'

[3] 'When the whole world becomes urbanised, as it seems, it surely will, then human society will have undergone a major transformation. In many countries over half the population now lives in urban places.'

आठवाँ अध्याय

औद्योगीकरण

भारतीय सामाजिक परिवर्तन पर औद्योगीकरण का जितना प्रभाव इस बीसवीं शती में पड़ रहा है उतना किसी अन्य कारक का नहीं पड़ रहा है। औद्योगीकरण से तात्पर्य बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों के विकास से लगाया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उस स्थान पर (जहाँ उद्योग लगाया गया है) जनसंख्या का घनत्व तेजी से बढ़ने लगता है। औद्योगीकरण के कारण वाणिज्य और व्यापार में तीव्र वृद्धि होती है; अधिकांश लोगों को रोजगार मिल जाता है। नगरीकरण की प्रक्रिया भी इसके कारण तीव्र हो जाती है। परिवहन तथा संचार के साधनों में विकास होता है, परिणामस्वरूप लोगों की गतिशीलता बढ़ती है। ग्रामीण जीवन का मूल आधार धीरे-धीरे नष्ट होने लगता है। घरेलू उद्योग-धन्धो का महत्त्व भी कम हो जाता है और यही कारण है कि वे धीरे-धीरे नष्ट होने लगते है। विश्व का प्रत्येक समाज आज सामाजिक प्रगति की दौड़ में भाग ले रहा है। सफलता का मापदण्ड क्या होगा? इसके लिए औद्योगीकरण की ओर संकेत किया जाता है। जो समाज जितना ही अधिक औद्योगीकृत हो जायगा उसे उतना ही अधिक प्रगतिशील माना जायगा। लोगो की धारणा अब बलवती होती जा रही है कि समाज की अर्थव्यवस्था को तभी सुदृढ बनाया जा सकता है जब समाज मे औद्योगीकरण की प्रक्रिया तीव्र गति से कार्यान्वित होगी। यही कारण है कि कृषि-प्रधान देश भी अब औद्योगीकरण को प्राथमिकता देने लगे हैं। भारतवर्ष में चल रही पचवर्षीय योजनाएँ औद्योगीकरण के लिए कृतसंकल्प हैं। द्वितीय पचवर्षीय योजना में तो अधिकांश व्यय बड़े-बड़े उद्योगो की स्थापना के लिए हुआ। पंचम पचवर्षीय योजना जो 1974 में शुरू हुई तथा छठी पंचवर्षीय योजना जो चल रही है उनमें औद्योगीकरण की समुचित व्यवस्था है।

औद्योगीकरण का अर्थ

सामान्य अर्थ मे औद्योगीकरण से तात्पर्य समाज मे बड़े और मूलभूत (basic) उद्योगों के विकास से है ताकि छोटे-मोटे उद्योग उसके कारण स्वतः विकसित हो जायें। संयुक्त राष्ट्र सघ की व्याख्या के अनुसार, 'औद्योगीकरण से तात्पर्य बड़े-बड़े उद्योगों के विकास तथा छोटे और कुटीर उद्योग-धन्धों के स्थान पर बड़े पैमाने की मशीनो की व्यवस्था से है। औद्योगीकरण आर्थिक विकास की व्यापक प्रक्रिया का केवल अंग मात्र है जिसका उद्देश्य उत्पादन के साधनों की क्षमता में वृद्धि करके जन-जीवन के स्तर को ऊँचा उठाना है।

औद्योगीकरण के द्वारा किसी समाज के सामाजिक जन-जीवन को मूलरूप से बदला जा सकता है। उन समाजों मे जहाँ की आर्थिक व्यवस्था कृषि पर मुख्य रूप

से आधारित है, वहाँ के लिए कृषि के क्षेत्र में यन्त्रीकरण को औद्योगीकरण से व्यक्त किया जा सकता है।

एक अन्य परिभाषा में पी-कांग-चांग ने लिखा है कि 'औद्योगीकरण से अर्थ उस प्रक्रिया से है जिसके अन्तर्गत उत्पादन-कार्यों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते रहते हैं। इनमे वे आधारभूत परिवर्तन भी सम्मिलित किये जाते हैं जिसका सम्बन्ध किसी औद्योगिक उपक्रम के यन्त्रीकरण, नवीन उद्योगों के निर्माण, नये बाजार की स्थापना तथा किसी नवीन क्षेत्र के शोषण से है। यह एक प्रकार से पूँजी को गहन तथा व्यापक बना देने की विधि है।'

गेराल्ड ब्रीज ने लिखा है कि 'औद्योगीकरण वह क्रिया है जो किसी समाज के न केवल नगरीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करता है अपितु वह वहाँ के आर्थिक विकास को भी निर्देशित करता है। किसी समाज मे औद्योगीकरण का प्रथम चरण छोटी-छोटी मशीनों के विकास पर बल देता है जबकि अन्तिम चरण बड़ी-बड़ी मशीनों के विकास पर ही केन्द्रित होता है।'

एक परिभाषा में कहा गया है कि 'औद्योगीकरण वह प्रक्रिया है जो न केवल मूलभूत निर्माण उद्योगों की स्थापना करता है अपितु वह समाज की सम्पूर्ण आर्थिक पृष्ठभूमि को भी परिवर्तित करता है।'

मिर्डल ने लिखा है कि 'औद्योगीकरण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उत्पादकता से है और दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते है। जहाँ औद्योगीकरण के कारण उत्पादन की दर तथा मात्रा प्रभावित होती है वही पर अधिक उत्पादन स्वयं औद्योगीकरण की प्रक्रिया को तीव्र करता है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन से यह स्पष्ट है कि किसी भी समाज के आर्थिक विकास के लिए औद्योगीकरण की महत्ता को नकारा नही जा सकता। औद्योगीकरण के कारण उत्पादन में वृद्धि होती है जिसके कारण राष्ट्रीय तथा प्रति-व्यक्ति आय बढ़ती है। औद्योगीकरण के कारण जहाँ एक ओर आयात-निर्यात मे सतुलन बनता है वहीं पर दूसरी ओर इसके कारण कुछ लोगों को अतिरिक्त रोजगार सुलभ हो पाता है और सामाजिक जन-जीवन का स्तर ऊँचा उठता जाता है। भारतवर्ष में पिछले 25 वर्षों मे जो रहन-सहन के स्तर में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है उसका अधिकांश श्रेय यहाँ हो रहे औद्योगीकरण को है।

औद्योगीकरण का उदविकास

औद्योगीकरण एक उदविकासीय प्रक्रिया है। इसे गति प्रदान करने का श्रेय औद्योगिक क्रान्ति को है। वाष्प तथा विद्युत्-चालित यन्त्रों के आविष्कार ने औद्योगीकरण की नीव को अधिक मजबूत किया। एडम स्मिथ तथा जेम्स वॉट का नाम इन आविष्कारों के लिए विशेष उल्लेखनीय है। उद्योग-धन्धों की आवश्यकता समाज में अति प्राचीन काल से रही है लेकिन बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों का जन्म औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप सम्भव हो सका जिसका श्रेय औद्योगिक क्रान्ति को है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने उत्पादन के साधनों में परिवर्तन करके उत्पादन की मात्रा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। अब उत्पादन केवल उपभोग के लिए न होकर विनिमय के लिए होने लगा है।

1760 तक उद्योग हस्तकला स्तर में ही थे। साधारण मशीनों तथा

किसका भता किया जाय, कितने लोगों को भर्ती किया जाय, कहाँ पर उद्योग प्रारम्भ किया जाय। इसके अतिरिक्त जिन चीजों का वे निर्माण करते थे उसे वे स्वय उपभोक्ताओं को बेच भी दिया करते थे अथवा उस व्यक्ति को बेच दिया करते थे जो इन कारीगरों के सामानों को खरीद कर उसे बाजार में बेचने का काम करते थे। इस स्थिति में औद्योगिक संघर्ष (हड़ताल और तालाबन्दी) की सम्भावना बिल्कुल नहीं थी। मालिक और श्रमिक के बीच का सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ तथा व्यक्तिगत होता था। यही स्थिति उत्पादक तथा उपभोक्ता के बीच भी होती थी। इस व्यवस्था मे 'श्रमिक' उत्पादन के सबसे महत्त्वपूर्ण कारक माने जाते थे और वही साधारणतया उत्पादित वस्तु की प्रत्येक दशा, जैसे कच्चे माल का प्रकार, उत्पादन का स्थान,

क्रान्ति के प्रथम चरण की विशेषता यह थी कि वहाँ हाथ से चलाये जाने वाले हथौड़ों या मशीनों के स्थान पर कृत्रिम शक्ति-चालत साधारण मशीनों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ जबकि आधुनिक युग की औद्योगिक क्रान्ति की यह विशेषता है कि अब साधारण मशीनों के स्थान पर अधिक जटिल तथा कीमती मशीनों का प्रयोग शुरू हो गया है। औद्योगिक राष्ट्र वह है जहाँ ऐसी मशीनों की संख्या बहुत अधिक हो। जब हम अपने जीवन में औद्योगिक क्रान्ति के प्रभावों का विश्लेषण करते हैं तो हमे उसके दो स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होते हैं—

(1) उत्पादन की प्रक्रिया तथा विधि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन।

(2) उत्पादित वस्तु तथा मशीनों के स्वामित्व के प्रकार और स्वभाव में परिवर्तन।

प्रथम प्रकार में कारखाना-व्यवस्था और दूसरे प्रकार में कार्पोरेशन व्यवस्था

इसके अधि

महत्त्वपूर्ण

इसके साथ

आज ग्रस्त है।

औद्योगीकरण तथा कारखाना-व्यवस्था

औद्योगीकरण ने अब जिस कारखाना-व्यवस्था (factory system) को जन्म दिया उसके कारण श्रमिक सबसे अधिक प्रभावित आ । श्रमिकों में जो

कारीगरी का भाव (craftsmanship) होता था वह समाप्त हो रहा है और अब वह केवल किसी मशीन का सहायक मात्र रह गया है। पहले श्रमिक जब किसी वस्तु का निर्माण करता था तो उस पर वह अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ना चाहता था यही कारण था कि वह वैसी वस्तुओं का निर्माण कर देता था जिसे विश्व में अद्भुत कहा जाता था और ऐसा करने में उसे एक सन्तोष की अनुभूति होती थी। लेकिन औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप अब वह स्थिति नहीं रही। आज का श्रमिक उत्पादन-प्रक्रिया में एक पुर्जा मात्र रह गया है। अब निरन्तर श्रमिकों को यह भय बना रहता है कि कहीं उनका स्थान कोई अन्य बालक, महिला या मशीन न ले ले। यही अनिश्चितता की स्थिति कारीगरों की कारीगरी के ह्रास का कारण है। अब प्रति श्रमिक के पीछे लगायी गयी धनराशि में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। औद्योगिक क्रान्ति के पहले उत्पादन-प्रक्रिया में श्रमिक सबसे महत्त्वपूर्ण कारक रहा है लेकिन अब औद्योगीकरण के कारण उत्पादन प्रक्रिया की सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई पूंजी हो गयी है। अब यह नहीं पूछा जाता कि श्रमिक अधिक से अधिक कितने घण्टे काम कर सकता है बल्कि उसके स्थान पर यह देखा जाता है कि मशीन कितनी टिकाऊ है, यह अधिक से अधिक कितना उत्पादन कर सकती है। पिछली दो तीन दशाब्दियों में जितनी बड़ी-बड़ी मशीनों का निर्माण हुआ है उनके बारे में किसी ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। मनुष्य और मशीन तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच सम्बन्ध जटिल, अनिश्चित तथा तनावपूर्ण होता जा रहा है। बड़ी-बड़ी मशीनों ने जरूरत से अधिक वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है जिसके कारण अब मिल प्रबन्धकों को कुछ दिनों के लिए कारखानों को बन्द रखना पड़ता है। परिणामस्वरूप अधिकांश श्रमिक बेकार हो जाते हैं। चूंकि अब सभी देश औद्योगीकृत हो रहे हैं अतः ऐसी स्थिति में विश्व बाजार में कहाँ का माल बिके इसकी होड़ शुरू हो गयी है।

निगम (कारपोरेशन) नियन्त्रण विधि

औद्योगीकरण के पहले की अवस्था (Handicraft stage) में श्रमिक, उद्योगपति तथा उपभोक्ता के बीच सम्बन्ध वैयक्तिक होता था लेकिन निगम नियन्त्रण विधि के कारण अब इन इकाइयों के बीच व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहा। अब इस व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिकों तथा मशीनों की स्थिति समान मानी जाती है। अब उद्योगपति श्रमिकों की सुरक्षा तथा उपभोक्ताओं के कल्याण के बारे में अधिक चिन्तित न होकर अपने धन तथा मशीन (investment) के बारे में अधिक चिन्तित होता है। अब वह उस लाभ के बारे में अधिक चिन्तित रहता है जिसके कारण उसने उद्योग की स्थापना की है। औद्योगीकरण के कारण धनी व्यक्ति अधिक धनी होते जा रहे हैं। इस स्थिति के कारण अब वह नींव ही गिर रही है जो किसी भी समाज की सामाजिक और आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अब उत्पादक, तथा उपभोक्ता के बीच सम्बन्ध द्वैतीयक होता जा रहा है जो किसी भी संगठन की सुदृढ़ता के लिए घातक है।

विश्व समाज में औद्योगीकरण

यदि विश्व के समाजों में औद्योगीकरण के उद्भव पर प्रकाश डाला जाय तो विदित होता है कि इंग्लैण्ड में सर्वप्रथम औद्योगीकरण का श्रीगणेश अठारहवीं शती

यहाँ यह कहा जाता है कि उद्योगों में आज आधे श्रमिक जिन वस्तुओं का उत्पादन तथा वितरण करते हैं उनकी जानकारी 50 वर्ष पहले लेशमात्र भी नहीं थी। यह अनुमान किया जा सकता है कि 1980 तक अमरीका में ऐसी वस्तुओं का उत्पादन हो सकेगा जिसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह स्थिति केवल औद्योगीकरण की ही देन है। औद्योगीकरण समाज में केवल अच्छाइयों को ही ला रहा है,

गहरा धक्का लगता है। समाज में घरेलू उद्योग-धन्धों में लगे लोग अपने-अपने कार्यों मे कम रुचि लेने लगते हैं, उसका प्रमुख कारण यह है कि उनके माल की माँग कम होती जाती है। लघु उद्योग-धन्धों से निर्मित वस्तुओं के दाम भी अपेक्षाकृत अधिक होते है, क्योंकि उत्पादन सीमित मात्रा में होता है, अतः विशेषीकरण की प्राप्ति भी सामान्यतया वहाँ सम्भव नहीं हो पाती। प्रत्येक समाज में यह पाया जाता है कि बड़े-बड़े उद्योगों के कारण छोटे-मोटे उद्योग समाप्त हो जाते है और उन पेशों में लगे लोगों को अन्य पेशों को चुनना पड़ता है। यह स्थिति विशेषीकरण की प्रक्रिया में गतिरोध उत्पन्न करती है।

औद्योगीकरण का उद्देश्य

औद्योगीकरण का प्रमुख उद्देश्य समाज के आर्थिक पहलू में विकास करना है जिसके कारण अन्य सामाजिक पहलू स्वतः प्रभावित होते रहते है। उत्पादन के उच्चतर स्तर की प्राप्ति औद्योगीकरण द्वारा ही सम्भव है। उच्चतर उत्पादन स्तर प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तियों के रहन-सहन से सम्बन्धित है। अति संक्षेप में औद्योगीकरण के उद्देश्यों को निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है :

(1) समाज के उन लोगो को रोजगार प्रदान करना, जो अभी इच्छुक होते हुए भी रोजगार में नहीं लगे है।

(2) उत्पादन में वृद्धि करना जिससे राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में स्वतः वृद्धि हो सके।

(3) जन-जीवन के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना।

(4) समाज से दरिद्रता, गरीबी तथा अन्धविश्वासों को दूर करना।

(5) विदेशी विनिमय की व्यवस्था जिससे निर्यात में स्थिरता बनी रहे।

औद्योगीकरण की गति तथा दिशा

औद्योगीकरण की दिशा क्या होगी तथा उसकी गति किस प्रकार की है, इसके लिए कोई सार्वभौमिक मापदण्ड नहीं है, फिर भी कुछ कारक अवश्य ऐसे हैं जिनके द्वारा औद्योगीकरण की गति तथा दिशा पर प्रभाव पड़ सकता है। अब हम उन कारकों का संक्षेप में वर्णन करेंगे—

(1) **विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास की गति**—जिन समाजों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास जितनी ही अधिक तीव्र गति से होगा, उस समाज मे औद्योगीकरण की गति भी उतनी ही अधिक तीव्र होती जाती है। नयी-नयी मशीनों का आविष्कार, विज्ञान तथा तकनीकी के आविष्कार पर आधारित है।

(2) **राजकीय नीति**—किसी समाज विशेष की सरकारी नीति क्या है? इसका प्रभाव औद्योगीकरण की गति पर पड़ता है। सरकार अब औद्योगीकरण के लिए अधिक प्रयत्नशील होगी तभी औद्योगीकरण को इच्छित दिशा प्राप्त हो सकती है।

(3) **औद्योगीकरण के साधन**—विभिन्न साधन जो किसी समाज के औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक हैं, वे उपलब्ध है अथवा नहीं, इसका प्रभाव भी औद्योगीकरण की गति पर पड़ता है। अधिकांश समाज जो अभी औद्योगीकृत नही हो सके हैं उसका एक मुख्य कारण औद्योगीकरण के साधनों की कमी है। आधुनिक युग में परमाणु शक्ति अब औद्योगीकरण के लिए एक आवश्यक दशा बन गयी है।

(4) **जनसंख्या का घनत्व**—जिस समाज मे जनसख्या के घनत्व तथा आर्थिक साधनो में अधिक विषमता नही है, वहाँ औद्योगीकरण आसानी से सम्भव हो पाता है। लेकिन जहाँ आर्थिक साधन तो कम मात्रा में उपलब्ध है और जनसंख्या का घनत्व बहुत अधिक है, वहाँ औद्योगीकरण की गति में बाधा पडती है। अत: जनसंख्या का उचित वितरण औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक है।

(5) **औद्योगीकरण की बाधाओं का हल**—प्रत्येक समाज मे औद्योगीकरण का पहले बहिष्कार किया जाता है। अत: लोगो की मनोवृत्तियो मे इस प्रकार परिवर्तन किया जाना चाहिए जिससे कि वे औद्योगीकरण को बिना किसी विरोध के स्वीकार कर लें। अर्थव्यवस्था की संरचना मे उस प्रकार का परिवर्तन होना चाहिए जिससे कि औद्योगीकरण को मदद मिल सके।

औद्योगिक समाज और यान्त्रिक युग

औद्योगिक विकास यान्त्रिक विकास पर आश्रित है। आधुनिक समाज को अब यान्त्रिक समाज भी कहा जाता है। उन्नीसवीं और बीसवीं शती में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में विकास के कारण सामाजिक सम्बन्धों में महान परिवर्तन हुआ है। आज हमारी आवश्यकताएँ निरन्तर बढती जा रही हैं जिसका समाधान केवल प्रौद्योगिकी तथा विज्ञान द्वारा प्रदत्त साधनों से किया जा सकता है। प्रौद्योगिकी मे होने वाला परिवर्तन समाज में नये-नये प्रकार की परिस्थितियो को जन्म देता है। सामाजिक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि लोग इन परिस्थितियो से सामंजस्य स्थापित करें। पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था का अनुकरण कर आज प्रत्येक समाज अधिक आर्थिक उत्पादन में विश्वास करने लगा है। समाज की समृद्धता आर्थिक उत्पादन पर आश्रित

है। छोटी-छोटी मशीनों के स्थान पर बड़ी-बड़ी मशीनों का लगाया जाना इसी सिद्धान्त पर आधारित है कि समाज में अधिक आर्थिक उत्पादन किया जाय। एक वस्तु जिसका हम निर्माण कर लेते हैं, फिर उसके पूरक के बारे में चिन्तित हो जाते हैं। हमारी इच्छा पूरी नही होती, हम नित्य-प्रति प्रयोगशालाओं मे लगे रहते हैं। अनुसन्धान कार्यों में लोग व्यस्त है। आज का व्यक्ति उपग्रहों का निर्माण कर रहा है। चन्द्रमा पर पहुँच कर अन्य ग्रहों पर पहुँचने की तैयारी में लगा है। इन सभी उपलब्धियों का श्रेय प्रौद्योगिकीय विकास को है। प्रौद्योगिकी के विकास ने सामाजिक जीवन के असम्भव-क्रिया-कलापों, सुख-सुविधाओं को सम्भव बना दिया है। जो काम पहले शक्तिशाली पुरुष कर पाते थे, अब उसे निर्बल पुरुष यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी कर लेती हैं। अब शारीरिक शक्ति की अधिक आवश्यकता वस्तु-निर्माण के लिए नही रही, विजली से चालित मशीनों का बटन दबाया और गतिविधि शुरू हो गयी। महीनों और वर्षों के काम को अब केवल चन्द दिनों में पूरा किया जा सकता है। 'कम्प्यूटर' निर्माण ने तो आज समाज मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रारम्भ कर दिया है। बड़े से बड़े और जटिल से जटिल समीकरणों का हल 'कम्प्यूटर' के द्वारा कुछ ही मिनटों मे सम्भव है जिसको हल करने के लिए वैज्ञानिक पहले महीनों तक उलझा रहता था। इस यान्त्रिक विकास के कारण मानव सम्बन्धों तथा समाज के रूप में भी जटिलता आती जा रही है। व्यक्ति मशीनों की तरह काम करना सीख जाता है जिसके परिणामस्वरूप उसके सम्बन्ध समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ द्वितीयक होते जा रहे हैं। उसका सम्पूर्ण जीवन मशीनों पर आश्रित हो जाता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रौद्योगिकी मे विकास और परिवर्तन की दर मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। प्रौद्योगिकी का विकास और प्रसार हमारे रहन-सहन के स्तर को प्रभावित करता है। साधारणतया लोग नगरीय समुदायों में रहना चाहते है, विशेषकर बड़े शहरो के प्रति सभी आकर्षित हैं। हमारे युग का नवीनतम और सुव्यापक तत्त्व पूँजीवाद नही है, बल्कि यन्त्रीकरण है; जिसका परिणाम आधुनिक पूँजीवाद हो सकता है। अब हम यह अनुभव करने लगे हैं कि उस यन्त्रीकरण ने हमारे जीवन के प्रकारों तथा विचार-पद्धति को परिवर्तित कर दिया है।[1] मशीनों के कारण विचारों मे परिवर्तन की जो तीव्र गति कार्यशील है उसी से सामाजिक परिवर्तन होता है।

औद्योगीकरण तथा सामाजिक परिवर्तन

औद्योगीकरण को सरल से जटिल बनाने का श्रेय यन्त्रीकरण को है। यन्त्रीकरण के अभाव मे वास्तविक औद्योगीकरण की कल्पना नही की जा सकती। यन्त्रीकरण में विकास के कारण हमारे सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित हो रहे है। पहले समाज मे परम्परा, रूढ़ि, प्रथा आदि की प्रधानता थी। साधारणतया लोगों का यह विचार था कि मनुष्य की मनोवृत्ति, भावना, विश्वास तथा समाज की जनरीतियाँ, प्रथाएँ तथा परम्पराएँ जनसमूह की अपनी ही प्रकृति का परिणाम हैं। प्लेटो, हीगल, दुर्खीम-जैसे सामाजिक विचारकों का मत था कि समाज अथवा राजा की स्वेच्छाचारी शासन-पद्धति दैविक शक्तियो का परिणाम है। समाज में वर्ण-व्यवस्था के कारण जो ऊँच-नीच का भेदभाव है वह भी स्वाभाविक तथा उचित है। कुछ लोग दैविक

[1] L. Mumford, *Techniques and Civilisation*; and K. Mannheim, *Man and In an Age of Re-construction.*

कारणों से तथा भगवान् की विशेष कृपा से उत्कृष्ट होते हैं तो कुछ लोग दैविक प्रकोपों के कारण नीच बन जाते हैं। अतः आजीवन उन्हें अपने को नीच मानना चाहिए। पर यान्त्रिक युग ने इन धारणाओं में मूलभूत परिवर्तन किया है। अब ऊँच-नीच का भेदभाव अलौकिक शक्ति की देन न मानकर दोषपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का फल माना जाता है, जिसके निर्माण का सारा श्रेय उच्च वर्ग के लोगों को है। अब लोगों में यह धारणा विशेष बलवती होती जा रही है कि सामाजिक प्रस्थितियों का निर्धारण व्यक्तियों के अर्जित गुणों पर आश्रित होना चाहिए, जन्म से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। स्त्रियों की स्थिति, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, धार्मिक विश्वासों तथा सामाजिक संगठन के विभिन्न भागों पर औद्योगीकरण तथा यन्त्रीकरण का प्रभाव पड़ा है। नये-नये उत्पादन के तरीकों के कारण व्यक्तियों के विचारों, विश्वासों, धारणाओं, मान्यताओं तथा रीति-रिवाजों में विशेष रूप से परिवर्तन हो रहा है जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन स्वाभाविक है। आज हमारा जीवन मशीनों पर पूरी तरह से आश्रित है। घड़ी को ले लीजिए, यदि उसमें कोई खराबी हो गयी और वह एक घण्टा देर से समय बताने लगी तो व्यक्ति का प्रत्येक कार्य एक घण्टा देर से होगा; क्योंकि उसका दैनिक कार्यक्रम घड़ी के समय पर आश्रित है। यन्त्रीकरण और औद्योगीकरण ने पारिवारिक सम्बन्धों को प्रभावित किया है। उदाहरण के तौर पर स्त्रियाँ पहले घर के आन्तरिक क्रियाकलापों तक अपने को सीमित रखती थीं। अब वे प्रत्येक सामाजिक क्रियाकलापों में भाग ले रही हैं। कार्यालयों, औद्योगिक संस्थानों, संसद भवनों तथा अन्य ऐसे ही स्थानों पर वे काम कर रही हैं। अब तो स्त्रियों को सेना और पुलिस में भी भर्ती किया जा रहा है। इन सब कारणों से उनमें नये-नये प्रकार के विचार अवतरित हो रहे हैं जो परम्परागत सम्बन्धों तथा मान्यताओं को परिवर्तित कर रहे हैं। यन्त्रीकरण के कारण श्रम-विभाजन के क्षेत्र में कठोरता आयी है। एक मशीन एक ही प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करती है। उन मशीनों पर काम करने वाला व्यक्ति भी एक ही प्रकार के कार्यों को करते-करते उसमें दक्षता प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार विशेषीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यद्यपि यह बात भी सही है कि औद्योगीकरण में जटिल मशीनों के आ जाने के कारण एक व्यक्ति उस मशीन के सभी भागों पर काम नहीं कर सकता। यन्त्रीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक संगठन में जटिलता आ रही है। जीवन के प्रति नये-नये आदर्श अवतरित हो रहे हैं, जिसके अनुरूप व्यक्ति व्यवहार भी करने लगा है और यही स्थिति सामाजिक परिवर्तन को जन्म दे रही है।

कार्ल मार्क्स तथा वेबलन दोनों ही प्रौद्योगिकी में परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन का कारण मानते हैं जो औद्योगीकरण की प्रक्रिया के कारण सम्भव हो पाता है। मार्क्स का यह मत है कि प्रौद्योगिकी में परिवर्तन आर्थिक कारक को प्रभावित करता है और वह फिर सम्पूर्ण समाज को प्रभावित कर परिवर्तित करता है। मार्क्स के अनुसार प्रौद्योगिकी का प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पादन के तरीकों (mode of production) पर पड़ता है। उत्पादन के तरीके उत्पादन की शक्तियों (forces of production) को प्रभावित करते हैं। उत्पादन की शक्ति में परिवर्तन के कारण सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित होते हैं जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि पहले करघा से कपड़े का निर्माण जुलाहा परिवार किया करता था। उत्पादन-प्रणाली में जो लोग भाग लेते थे उनमें प्रत्यक्ष तथा प्राथमिक

सम्बन्ध होता था लेकिन जब अधिक तथा विभिन्न प्रकार के कपड़े की माँग हुई तो उसे बनाने के लिए 'करघे' के स्थान पर 'मिल' की स्थापना की गयी। इस प्रकार के परिवर्तन को उत्पादन की शक्ति में परिवर्तन से सम्बोधित किया जाता है। अतः मिल लग जाने के कारण अब कर्मचारियों में सम्बन्ध पहले की तरह न होकर बदल जाते है (प्रत्यक्ष तथा प्राथमिक सम्बन्ध के स्थान पर अप्रत्यक्ष तथा द्वैतीयक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं)। सदस्यों में 'हम-भावना' के स्थान पर 'वे-भावना' विकसित हो जाती है जिससे सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित होते हैं। इसी प्रकार समाज में आये दिन उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन (औद्योगीकरण) के कारण सामाजिक परिवर्तन होता रहता है।

वेवलन प्रौद्योगिकी मे परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन का कारण मानता है। काम करने की प्रविधि मे परिवर्तन के कारण भौतिक पर्यावरण (मशीन, कल-पुर्जे) परिवर्तित होता है, जिसके कारण व्यक्ति को अपनी पुरानी आदतों, विचारों तथा व्यवहार के तरीकों मे परिवर्तन करना पड़ता है। यही परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन को जन्म देता है। वेवलन के सिद्धान्त को निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

(1) काम करने की प्रवृत्ति मे परिवर्तन (Change in Instinct of Workmanship)
↓
(2) प्रौद्योगिकीय प्रविधियों मे परिवर्तन (Change in Technological Techniques)
↓
(3) भौतिक पर्यावरण में परिवर्तन (Change in Physical Environment)
↓
(4) आदतों तथा विचारों में परिवर्तन (Change in Habits and Thoughts)
↓
(5) सामाजिक संरचना में परिवर्तन (Change in Social Structure)
↓
(6) सामाजिक परिवर्तन (Social Change)

इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स तथा वेवलन दोनों ही क्रमशः प्रौद्योगिकी को अप्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक परिवर्तन के लिये जिम्मेदार मानते हैं।

औद्योगीकरण का प्रभाव

औद्योगीकरण समाज के प्रत्येक पहलू को प्रभावित कर रहा है। भारतवर्ष में भी ये सभी प्रभाव स्पष्ट तथा बाह्य हैं। आजकल अधिकांश नगरीय समस्याएँ इसी औद्योगीकरण के कारण हैं। नगरीय व्यक्ति आज अपने को किंकर्त्तव्यविमूढ़ पा रहा है। मानसिक रूप से वह कुंठाओं का शिकार हो गया है। उद्वेग, मानसिक अशान्ति तथा अन्तर्द्वन्द्व से वह परेशान है। पारिवारिक बन्धन शिथिल पड़ रहे हैं। धार्मिक तथा नैतिक मूल्य लोगों को नियन्त्रित करने मे अपने को असमर्थ पा रहे हैं। मनुष्य का जीवन अब मशीन की भाँति हो गया है। उसका प्रत्येक क्रिया-कलाप मशीनों पर आश्रित है। ये समस्याएँ उन समाजों में अत्यन्त जटिल रूप धारण करती जा रही हैं जहाँ पर औद्योगीकरण अब अपने चरम विकास को प्राप्त करता जा रहा है। साधारणतया औद्योगीकरण के अग्रलिखित प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण हैं :

(1) सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन—औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने सामाजिक मूल्य को प्रभावित किया है। भारतवर्ष में पहले ब्राह्मणों को परम आदरणीय स्थान प्राप्त था। उनके कार्य को पवित्र तथा सर्वोच्च महत्त्व का बताया जाता था। ऐसा इसलिए था क्योंकि सामाजिक मूल्य इन्हीं व्यवहारों को उच्च मानते थे। औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने अब इन मूल्यों में परिवर्तन किया है। अब उस व्यक्ति को अधिक सम्मान दिया जाता है जो अधिक समृद्ध तथा अर्जित योग्यता वाला है। तार्किक व्यवहार को अब अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया के कारण अब कर्मकाण्डीय व्यवहार को पिछड़ेपन की निशानी माना जाता है।

(2) नगरीकरण की प्रक्रिया में वृद्धि—औद्योगीकरण नगरीकरण को बढ़ावा दे रहा है। जो नगर अधिक घने नही बसे थे वहाँ उद्योगों की स्थापना के कारण अब जनसख्या का घनत्व अधिक बढ़ता जा रहा है। लोगों की आवश्यकताएँ अधिक बढ़ रही हैं, जिनकी पूर्ति के लिये विभिन्न द्वैतीयक समूहों का निर्माण आवश्यक हो गया है। इन समूहों मे सम्बन्ध द्वैतीयक तथा अवैयक्तिक होने के कारण जीवन के आदर्श परिवर्तित होते हैं और वे सामाजिक परिवर्तन को जन्म देते हैं।

(3) कृषि में परिवर्तन—भारत में औद्योगीकरण का सबसे अधिक प्रभाव कृषि कार्य तथा ग्रामीण समुदाय पर पड़ा है। अब विभिन्न मशीनों का प्रयोग कृषि कार्यों के लिए किया जा रहा है। सिंचाई की मशीनें अधिक उल्लेखनीय हैं जिसके कारण लोगों की मनोवृत्तियों में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है। पहले वर्षा के अभाव में खेती का कार्य सम्भव नही था। और वर्षा अलौकिक शक्ति की कृपा मानी जाती थी। अब सिंचाई की मशीनों के आ जाने के कारण किसान अपनी इच्छानुसार फसलों को पानी देकर उपज बढ़ा रहा है। यह स्थिति उसकी मनोवृत्ति को अब इस प्रकार प्रभावित कर रही है कि वह अब भाग्य या ईश्वर पर आश्रित न होकर प्रत्येक उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न करने लगा है। बीजों की किस्मों मे सुधार, उनके रखने के लिए उचित गोदामों का प्रबन्ध, उचित बाजार का प्रबन्ध, अन्य स्थानों से सम्पर्क सभी औद्योगीकरण के कारण सम्भव हो सका है। प्रो० स्टेली ने लिखा है कि 'कृषि की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने का सबसे ठोस साधन है। वास्तव मे पर्याप्त आधुनिकीकरण किये बिना बहुत से अल्पविकसित देशों में औद्योगिक विस्तार, बाजारों की कमी के कारण रुक जायेगा, क्योंकि अधिकाश जनसख्या के पास क्रय-शक्ति का अभाव रहेगा। इसके विपरीत कृषि मे पर्याप्त सुधार तब तक नही हो सकता जब तक अधिक श्रम-शक्ति लगाने तथा कृषि के आधुनिकीकरण के लिये औद्योगिक विकास न किया जाये।' औद्योगीकरण (Industrial[illegible]) [illegible] खेती (mechanised farming) सम्भव

ही विशेष वृद्धि हुई है जिसके परिणामस्वरूप कृषि की अर्थव्यवस्था तथा कृषकों के जीवन-स्तर मे अनेक परिवर्तन हुए हैं। इसके अतिरिक्त उद्योग और कृषि के सम्बन्ध गाँव से शहरों को निष्क्रमण, नये बाजारों की तलाश आदि कुछ प्रमुख सामाजिक समस्याएँ भी उपस्थित हुई हैं, और इस प्रकार समाज के अन्य पहलुओं में इसके द्वारा मूलभूत परिवर्तन हुए हैं।

(4) सामुदायिक भावना में कमी—औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप उस स्थान पर जहाँ कि उद्योग की स्थापना हुई है जनसख्या का घनत्व बहुत बढ जाता है। जैसे-जैसे किसी समुदाय का आकार बढता जाता है वैसे-वैसे सम्बन्ध अवैयक्तिक होते जाते है। लोगो मे सामुदायिक भावना (Community Sentiment) की कमी हो जाती है। समुदाय में लोगों की प्रस्थिति और सामाजिक प्रतिष्ठा उनके व्यक्तिगत गुणों पर तय होने लगती है। जिसके कारण लोगों मे व्यक्तिवाद पनपने लगता है। समुदाय के ऊपर अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के साधन जैसे जाति, धर्म, प्रथा आदि की महत्ता लुप्त हो जाती है। औद्योगीकरण के कारण जनसंख्या एक स्थान पर बढ़ जाती है लेकिन आवास-व्यवस्था उस अनुपात में नहीं बढ पाती जिसके कारण लोगों को गन्दी बस्तियो मे रहना पड़ता है और इस प्रकार लोग विभिन्न समस्याओं के शिकार हो जाते है। लोगों का स्वास्थ्य गिर जाता है जिसके कारण कार्यक्षमता क्षीण होने लगती है। अधिकाश पुरुष जो अपना गाँव छोड़कर इन औद्योगिक केन्द्रों को आते है, अपने साथ महिलाओं को नहीं लाते, जिसके कारण स्त्रियों और पुरुषों की सख्या मे विषमता आ जाती है। अधिकाश पुरुष जुआ, शराब और वेश्यावृत्ति के शिकार हो जाते है। व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के कारण लोग अधिक सोचते हैं, प्रकृति की उपेक्षा करते हैं, सोने के समय जागते हैं, जिसके कारण अनेक मानसिक रोग से पीड़ित हो जाते हैं। मनोरंजन के साधन चूंकि व्यावसायिक हो गये है अतः एक श्रमिक जिसकी आय बहुत कम है उसका उपयोग नहीं कर पाता। चलचित्रों की अश्लील बातें कभी-कभी उसे अधिक प्रभावित कर देती है जिससे वैयक्तिक विघटन देखने को मिलता है। औद्योगिक केन्द्रों पर व्यक्ति यह सोचकर कि हमें कोई पहचानता नहीं अधिकांश सामाजिक बुराइयों को अपनाने लगता है।

(5) पारिवारिक जीवन पर प्रभाव—औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप अब खर्चे बढ रहे हैं क्योंकि उपभोग की वस्तुओं की सख्या बढ रही है। इस खर्चे को पूरा करने के लिए स्त्री-पुरुष सभी नौकरी या व्यवसाय करने लगे हैं जिसके परिणाम-स्वरूप बच्चों का लालन-पालन, देख-भाल उचित ढग से नही हो पा रही है। साथ ही संयुक्त परिवार प्रणाली का पतन हो रहा है क्योंकि एक परिवार के सभी सदस्य अब चाहते हुए भी साथ-साथ नही रह सकते, उन्हे अपने जीविकोपार्जन हेतु अन्यत्र स्थानों पर जाना पडता है। स्त्रियाँ आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो रही हैं, अतः किसी भी मसले पर अब वे पुरुषो से अपने को कम नही समझती। पति-पत्नी अब अलग-अलग रहने पर विवश हो रहे हैं जिसके कारण उनके आपसी सम्बन्ध क्षीण हो रहे हैं, व्यक्तिगत तनाव बढ़ रहा है और वह पारिवारिक विघटन को जन्म दे रहा है। समाज में 'औद्योगिक वर्गों' के निर्माण के कारण अन्तर्जातीय विवाह देखने को मिल रहा है, जो स्थायी नहीं हो पाते और विवाह-विच्छेद जैसी सामाजिक समस्या को जन्म देते हैं। धर्म का प्रभाव औद्योगीकरण के कारण कम हो रहा है, व्यक्ति अब

कार्य-कारण सम्बन्ध को प्राथमिकता दे रहा है, तार्किकता उसके जीवन का अंग बनती जा रही है। इन्ही सब कारणो से सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन हो रहा है।

(6) आर्थिक जीवन पर प्रभाव—औद्योगीकरण की सबसे मूलभूत विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत अधिकतम उत्पादन पर जोर दिया जाता है जिसके लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है। अतः केवल वे लोग उत्पादन-क्रिया में भाग ले सकते हैं जिनके पास पूंजी है, और इस प्रकार समाज की उत्पादन-प्रणाली पर पूंजीपतियों का एकाधिकार बढ़ता जा रहा है। श्रम-विभाजन और विशेषीकरण की प्राप्ति भी हो रही है, जो समाज के विकास के लिए आवश्यक है। समाज में अधिकांशतया उन लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा हो रहा है जिनके पास पूंजी है। श्रमिकों का जीवन-स्तर गिरता जा रहा है। अधिक उत्पादन के कारण राष्ट्रीय आय बढ़ती है, फिर भी औद्योगिक झगड़ों हड़ताल तालाबन्दी के कारण समाज में उचित सामञ्जस्य नहीं रह पाता।

(7) जीवन में प्रतिस्पर्द्धा—औद्योगीकरण के कारण समाज में प्रतिस्पर्द्धा की मात्रा बढ़ रही है। पूंजीवादी तथा औद्योगिक देशों में प्रतिस्पर्द्धा मानव-जीवन का उद्देश्य बन जाती है। अधिक धन की प्राप्ति के लिए प्रतिस्पर्द्धा आवश्यक बतलाई जाती है। अब तो 'गलाकाट प्रतियोगिता' को भी उचित बतलाया जाता है। इस प्रतिस्पर्द्धा के कारण आर्थिक उत्पादन में तीव्र वृद्धि होती है जिससे राष्ट्रीय आय बढ़ती है। इस प्रकार प्रतिस्पर्द्धा समाज में समृद्धता तथा खुशहाली आर्थिक पहलू को मजबूत करके प्रदान करती है। लेकिन जहाँ एक ओर प्रतिस्पर्द्धा उत्पादन के लिए वरदान है वही पर दूसरी ओर इसके कारण समाज में लोगों के आपसी सम्बन्ध द्वेषपूर्ण हो जाते हैं। प्रतिस्पर्द्धा जब व्यक्तिगत हो जाती है तो वह संघर्ष का स्थान ले लेती है। प्रतिस्पर्द्धा व्यक्तियादिता को भी बढ़ावा देती है जिसके कारण लोग अलग-अलग आदर्शों को लेकर व्यवहार करने लगे हैं। इस स्थिति के कारण नये और पुराने सामाजिक मूल्यों में संघर्ष स्वाभाविक है जिसके कारण सामाजिक सम्बन्ध तेजी से परिवर्तित हो रहा है।

(8) बेकारी में वृद्धि—अधिक उत्पादन के लिए यह आवश्यक है कि बड़ी-बड़ी मशीनों को लगाया जाय। इन मशीनों के अभाव में अधिक उत्पादन सम्भव नहीं। इन मशीनों पर अब अधिक लोगों की आवश्यकता नहीं होती। उद्योगों में 'ऑटोमेशन' आज के प्रत्येक विकसित समाज की योजना है, लेकिन श्रमिक वर्ग इसके

सम्बन्धों पर पड़ता है। आज प्रत्येक समाज के सामने बेकारी एक महान् समस्या के रूप में उपस्थित है, जिसका समाधान आवश्यक है।

(9) औद्योगिक वर्गों का निर्माण—औद्योगीकरण के कारण स्तरीकरण का आधार भी परिवर्तित हो रहा है। अब अर्जित गुणों के आधार पर प्रस्थिति

(status) का निर्धारण उचित माना जाता है। परम्परागत समाज जैसे भारतवर्ष पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। अब जाति के स्थान पर वर्ग का सदस्य कहना लोग अधिक उचित मानते हैं क्योंकि यह व्यक्ति के अर्जित गुण का द्योतक है। वर्गों के उदय के कारण जात-पात, धर्म तथा अन्य परम्परागत मूल्यों एवं आदर्शों का प्रभाव कम होता जा रहा है। सामाजिक संगठन नये-नये मूल्यों पर आधारित होकर नयी-नयी सामाजिक नीति को अपना रहे हैं। अब जिस मशीन पर लोग साथ-साथ काम करते हैं उनमें आपसी सम्बन्ध इतना दृढ़ हो जाता है कि उसे 'औद्योगिक वर्ग' अथवा 'पेशागत वर्ग' से सम्बोधित किया जाता है। इस वर्ग का व्यवहार परम्परागत व्यवहार प्रतिमानों से मेल नहीं खाता। यही कारण है कि सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित हो रहे हैं।

(10) धार्मिक जीवन पर प्रभाव—औद्योगीकरण के विकास के कारण आज हर व्यक्ति का दृष्टिकोण वैज्ञानिक होता जा रहा है। परम्परागत तथा रूढ़िवादी धार्मिक विचारों का महत्त्व कम होता जा रहा है। पहले प्रत्येक सामाजिक घटना को किसी अलौकिक शक्ति की देन माना जाता था—लेकिन—अब—प्रत्येक घटना के वास्तविक कारण से सभी परिचित हैं। अब विभिन्न धर्मों के अनुयायी साथ-साथ एक ही उद्योग में काम करते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनके बीच की सामाजिक दूरी कम हो रही है। अब औद्योगिक संस्थानों में धर्म द्वारा व्यवहार-नियन्त्रण न होकर कानून द्वारा लोगों का व्यवहार नियन्त्रित किया जाता है। अब कर्मकाण्डीय व्यक्ति को पिछड़ा हुआ व्यक्ति कहा जाता है। इन्हीं सब कारणों से लोगों में अब धर्म के प्रति आस्था कम हो रही है।

अन्त में संक्षेप में कहा जाता है कि औद्योगीकरण के प्रभाव निम्नलिखित हैं—

1. हम-भावना मे कमी।
2. सामाजिक संस्थाओं (परिवार, विवाह) में परिवर्तन।
3. एक स्थान-विशेष पर जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि।
4. व्यक्तिगत सम्पर्क की कमी।
5. अपराधों में वृद्धि।
6. जनसंख्या का एक स्थान से दूसरे स्थान को निष्क्रमण।
7. लघु उद्योग-धन्धों में ह्रास।
8. प्रतिस्पर्द्धा में वृद्धि।
9. वर्ग-संघर्ष की निरन्तरता।
10. यातायात तथा संचार साधनों में विकास।
11. तार्किक व्यवहार को प्राथमिकता।
12. स्त्रियों का प्रस्थिति मे परिवर्तन।

भारतवर्ष के लिए औद्योगीकरण निम्नलिखित कारणों से आवश्यक है—

1. उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के लिए।
2. राष्ट्रीय तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि के लिए।
3. विदेशी वस्तुओं पर निर्भरता को दूर करने के लिए।
4. निर्यात बढ़ाने के लिए।
5. जनजीवन के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए।
6. अन्ध-विश्वासों के अन्त के लिए।

भारतवर्ष में औद्योगीकरण की प्रक्रिया को स्वीकार करते समय उन बुराइयों को नहीं आने देना चाहिए जिनसे अन्य औद्योगिक देश परेशान हैं। साधारणतया निम्नलिखित दशाओं को यदि कायम रखा गया तो निश्चय ही औद्योगीकरण से आशातीत लाभ हो सकेगा—

1. सभी उद्योगों को केवल बड़े-बड़े नगरों में ही स्थापित न किया जाय।
2. उत्पादित वस्तु के लिए बाजार का समुचित प्रबन्ध, जिससे कि उत्पादन की मात्रा निरन्तर बढ़ती जाय।
3. उतना ही उत्पादन किया जाय जिससे आर्थिक मन्दी न आने पाये।
4. उन बुराइयों को बढ़ने से रोका जाय जो औद्योगिक संस्थाओं में अपने आप उपस्थित हो जाती हैं।

औद्योगीकरण से सम्बन्धित समस्याएँ

औद्योगीकरण अब सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक माना जा रहा है, यही कारण है कि अब सभी विकासशील तथा अविकसित राष्ट्र औद्योगीकरण को बढ़ावा दे रहे हैं। भारतवर्ष में द्वितीय पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य औद्योगीकरण को बढ़ावा देना था और वही काल भारतवर्ष के लिए वास्तविक औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश माना जाना चाहिए। औद्योगीकरण यद्यपि भौतिक संस्कृति के विकास में सहायक है, फिर भी उससे कुछ ऐसी सामाजिक समस्याएँ अवतरित होती हैं जो समाज के लिए उचित नहीं कही जा सकती। अब हम यहाँ उन समस्याओं का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे :

(1) **श्रमिक तथा पूँजी के बीच द्वन्द्व**—औद्योगीकरण के कारण अब श्रमिक तथा पूँजी के बीच संघर्ष की प्रक्रिया कार्यशील है। श्रमिक जो अभी तक उत्पादन-प्रणाली में सबसे महत्त्वपूर्ण माने जाते रहे हैं, अब उनका स्थान पूँजी ने ले लिया है। ऐसी स्थिति में अपने हितों की रक्षा के लिए श्रमिक विभिन्न प्रकार के ऐसे कार्यों को करने लगे हैं जिन्हें उचित नहीं कहा जा सकता। एक तरफ उद्योगपति आपस में संगठित हो रहे हैं ताकि वे अपनी उच्चता को कायम रख सकें। वहीं पर दूसरी ओर श्रमिक भी विभिन्न प्रकार के संघों का निर्माण इसलिए कर रहे हैं ताकि वे उद्योगपतियों के उन कार्यों के विरुद्ध उन कार्यों को कर सकें, जिनको वे उचित समझते हैं। यह स्थिति आवश्यक रूप से संघर्ष को जन्म देती है जिससे समाज विघटित होता है। अब श्रमिकों में 'वर्ग-चेतना' का उद्भव तेजी से हो रहा है जिसके कारण अब वे अपने परम्परागत व्यवहार-प्रतिमान को त्याग कर नये व्यवहार-प्रतिमान को धारण कर रहे हैं। श्रमिक संघों के माध्यम से अब श्रमिकों की सौदेबाजी की स्थिति अधिक सुदृढ़ हुई है। औद्योगिक संघर्ष (हड़ताल तथा तालाबन्दी) का मुख्य कारण भी यही श्रमिक तथा पूँजी के बीच द्वन्द्व है।

विभिन्न प्रकार के औद्योगिक परिवर्तनों के कारण श्रमिकों में अनिश्चितता तथा असन्तोष की भावना अधिक व्यापक होती जा रही है। अधिक मात्रा में स्वचालित मशीनों के प्रयोग के कारण लाखों की संख्या में श्रमिक प्रत्येक वर्ष बेकार हो सकते हैं क्योंकि जो काम अभी तक श्रमिक करते रहे हैं, उन्हें अब मशीनें कर रही हैं। मशीनों की कीमतों में प्रति वर्ष वृद्धि के कारण अब उद्योगपतियों की संख्या भी घटती जा रही है। जैसे—यदि हजार रुपये की मशीन लगाकर एक व्यक्ति

अपने को उद्योगपति कहता रहा है तो दूसरे वर्ष वही व्यक्ति यदि उसमें नया स्वयं की मशीन खरीदने की क्षमता नहीं है, अपने को उद्योगपति नहीं कह सकेगा। यह स्थिति भी अनिश्चितता को जन्म देकर सामाजिक समस्या के रूप में अवतरित हो सकती है। अब सभी को 'समता के आधार' पर बराबरी का अवसर देने की बात नहीं रही और न ही 'संविदा की स्वतन्त्रता' श्रमिकों का अधिकार रहा। यह स्थिति श्रमिकों को विवश करती है कि वे अपनी जीविका, सम्पत्ति तथा सुरक्षा के लिए मिल-मालिकों से संघर्ष करें।

प्रत्येक श्रमिक अपने तथा अपने परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण के लिए वेतन का वह मान सुरक्षित करवाना चाहता है जो सभी के सामान्य जीवन-स्तर के लिए आवश्यक है। यद्यपि श्रमिक की यह इच्छा भी बढ़ती जाती है कि उसका स्तर
इसके अतिरिक्त वह काम करने की दशा में सुधार
अवधि कम कराना चाहता है ताकि अधिक से अधिक समय वह उन लोगों के साथ बिता सके जिनसे कि उसका प्रेम-भाव अधिक है। वह उस माहौल में भी काम नहीं करना चाहता जहाँ उसका स्वास्थ्य गिरता है। अतः यदि ऐसी स्थिति है तो वह उसमें सुधार चाहता है। कौन उद्योगपति अपने उद्देश्य में अधिक सफल रहा है? वह जो अधिक लाभ कमाता है अथवा वह जो श्रमिकों के लिए उचित वेतन तथा कार्य करने की उचित दशा प्रस्तुत करता है? सम्भवतः आधुनिक समय में उसी उद्योगपति को सफल माना जाता है जो श्रमिकों के लिए उचित वेतनमान तथा स्वस्थ कार्य करने की दशा प्रदान करता है। श्रमिक तथा पूंजी के बीच संघर्ष में श्रमिकों को शोषण से बचाया जा सके इसके लिए सरकारी प्रयत्न भी किये जा रहे हैं।

(2) **वेतनमान तथा काम करने की अवधि सम्बन्धी समस्या**—श्रमिकों के सामने एक महत्त्वपूर्ण समस्या उचित वेतनमान को प्राप्त करना है। साथ ही साथ उन्हें वेतन नियमित रूप से मिले एक समस्या यह भी महत्त्वपूर्ण है। अब श्रमिकों को स्थानापन्न करने के लिए मशीनें उपलब्ध हैं, अतः मिल-प्रबन्धक श्रमिकों की महत्ता की कम परवाह करते हैं। आये दिन आवश्यक वस्तुओं की कीमतें बढ़ती जा रही हैं अतः वेतनमान में वृद्धि भी उसी अनुपात में आवश्यक है। वास्तविक आय में वृद्धि रहन-सहन की दशा में सुधार के लिए आवश्यक है। गिलिन का मत है कि 'वेतनमान में वृद्धि मूल्य-वृद्धि के साथ-साथ नहीं हो पाती और यह अन्तर औद्योगिक अशान्ति तथा श्रमिक संघर्ष को जन्म देता है।' आय की निरन्तरता तथा निश्चितता ही औद्योगिक तनाव को कम कर सकती है। यदि आय की निश्चितता नहीं है तो श्रमिक का व्यय भी योजनाबद्ध तरीके से नहीं होगा और वह औद्योगिक संघर्ष को जन्म दे सकता है। इसी स्थिति के कारण वह ऋण लेने पर बाध्य होता है जिसके अनेक दुष्परिणाम हैं। श्रमिक अधिक वेतनमान प्राप्त करना चाहता है और प्रबन्धक कम से कम देना चाहता है। यह स्थिति भी औद्योगिक संघर्ष को जन्म देती है। जैसे-जैसे औद्योगीकरण की मात्रा बढ़ती जा रही है वैसे-वैसे अब वेतनमान के लिए संघर्ष केवल अस्तित्व के लिए न होकर उच्च जीवन-दशा (standards) के लिए हो रहा है। वेतनमान के लिए संघर्ष का प्रमुख कारण यह है कि जहाँ समाज परिवार को एक इकाई मानता है वहीं पर उद्योग एक व्यक्ति को इकाई मानकर ... चीज का निर्धारण करता है जैसे वेतन का निर्धारण परिवार के भरण-पोषण

के लिए न मानकर एक व्यक्ति के भरण-पोषण के लिए किया जाता है जबकि एक विवाहित श्रमिक अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए केवल विकल्प है। वह वेतनमान जो व्यक्ति को इकाई मानकर तय किया गया है पारिवारिक आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता और इस स्थिति से विवश होकर श्रमिकों को अनेक पारिवारिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी तो विवाह-विच्छेद तथा पारिवारिक विघटन भी इस कारणवश हो जाता है।

काम करने के घण्टे कितने हों, यह भी एक समस्या है। पहले एक श्रमिक के कार्य करने का समय सूरज निकलने से लेकर सूरज डूबने तक का होता था और उसे काम का उचित समय (fair days of work) बतलाया जाता था लेकिन आज का श्रमिक इसके लिए तैयार नहीं है। यही कारण है कि कारखाना अधिनियम, 1948 के अन्तर्गत एक श्रमिक को अधिकतम 9 घण्टे काम करने के लिए तय किया गया है। काम करने के घण्टे यदि उद्योग-विशेष पर भिन्न-भिन्न प्रकार है तब तो सामाजिक समस्या के उत्पन्न होने का भय नहीं होगा लेकिन यदि यह सभी उद्योगों के लिए समान हैं तो इससे सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं। जैसे एक व्यक्ति खेत में 10–12 घण्टे काम कर सकता है लेकिन वही व्यक्ति लोहे के कारखाने में उतनी देर तक काम नहीं कर सकता। मशीनों के शोरगुल तथा नवीन प्रकार के पर्यावरण में काम करने की अवधि वह नहीं हो सकती जो खेतों में या लघु उद्योग-धन्धों में हुआ करती है। अतः काम करने के घण्टे काम के स्वभाव तथा श्रमिकों के कल्याण को सामने रखकर तय किये जाने चाहिए। यदि एक श्रमिक अधिक घण्टे काम करता है तो उसकी कार्य-क्षमता तो गिरेगी ही साथ ही साथ दुर्घटना की [illegible]

[illegible] है। कार्य करने के घण्टों में कटौती उस सीमा तक ही वाञ्छनीय है जहाँ तक वह उद्योग को घाटे में नहीं डालता। यदि उत्पादन दर कम है तो कार्य करने के घण्टे में कटौती वांछनीय नहीं है। क्योंकि यदि उत्पादन कम है तो इसके कारण वेतन में कमी भी स्वाभाविक है। अतः उचित कार्य करने का घण्टा सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए आवश्यक है।

(3) बेरोजगारी की समस्या—बेरोजगारी से तात्पर्य उस दशा से है जिसमे एक श्रमिक काम को करना चाहता है फिर भी उसे काम नहीं मिलता। औद्योगीकरण के कारण बेरोजगारी की समस्या भी विकट होती जा रही है। बड़ी-बड़ी मशीनों के लग जाने के कारण अब कुछ श्रमिक प्रत्येक उद्योग के लिए बेकार साबित हो रहे हैं। यह स्थिति उन श्रमिकों को मिल से अलग करने के लिए विवश है। अति उत्पादन (over-production) औद्योगीकरण के कारण पाया जा रहा है यह स्थिति भी बेरोजगारी को जन्म देती है। जिस उत्पादन के लिए पहले 100 श्रमिकों की आवश्यकता होती थी अब वही उत्पादन बड़ी-बड़ी मशीनों के लग जाने के कारण 50 श्रमिकों से सम्भव है। यह स्थिति बेरोजगारी के लिए अवश्यम्भावी है। कारखाने को नये ढंग से व्यवस्थित करके तथा उसमें नयी-नयी मशीनों को लगाकर कुछ श्रमिकों के काम को समाप्त किया जा सकता है। वास्तव में यह स्थिति भी बेरोजगारी के लिए जिम्मेदार है। कुछ मौसमी उद्योग भी ऐसे हैं जहाँ पूरे वर्ष के लिए सभी श्रमिकों को रोजगार नहीं मिल पाता जैसे चीनी उद्योग। ऐसे श्रमिकों को

केवल 4–5 महीने के लिए रोजगार मिल पाता है बाकी वे 7–8 महीने या तो बेकार रहते हैं अथवा वे खेती-बारी का काम करते हैं। खेती-बारी के काम के लिए ऐसे लोग इसलिए उपयुक्त नही माने जाते क्योंकि उद्योग में काम करने के कारण वे खेती-बारी का काम करना अपनी प्रतिष्ठा के विपरीत मानते हैं। कुछ उद्योगपति बेरोजगारी को जान-बूझ कर इसलिए दिखाते हैं ताकि श्रमिकों को कम से कम वेतन पर रखा जा सके। यद्यपि यह अनैतिक व्यवहार है फिर भी उद्योगपति ऐसा करते हैं। यह स्थिति जहाँ श्रमिकों में असन्तोष को जन्म देती है वहीं पर जनमत भी उनके विरुद्ध हो जाता है जो उद्योग के विकास के लिए उचित नही है। औद्योगिक मन्दी के समय भी बेरोजगारी की समस्या अधिक विकट रूप धारण कर लेती है। यह स्थिति केवल श्रमिकों की समस्या न होकर सम्पूर्ण समाज की एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन जाती है। विभिन्न अधिनियमों के पारित हो जाने के कारण अब उद्योगपति बेरोजगारी को अपने ढंग से लाद नही सकते। फिर भी यह समस्या महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसे सुरक्षा साधनों के माध्यम से भी पूर्णतया हल नही किया जा सकता।

(4) वृद्धावस्था की समस्या—औद्योगिक क्रान्ति के पहले जब एक कारीगर हथौड़े या छोटी-मोटी मशीनों के द्वारा (जो उसका स्वयं का हुआ करता था) वस्तुओं का निर्माण करता था। साथ-साथ काम करने वाले कारीगरों में यह आवश्यक नही था कि सभी लोग आवश्यक रूप से समान कार्य करें। कोई कम काम करता था तो दूसरे अधिक भी कर दिया करते थे। एक वृद्ध कारीगर भी काम पा जाता था और वह अपनी क्षमता के अनुसार काम करता था। उसमें यह भावना बनी रहती थी कि वह स्वयं पर आश्रित है। लेकिन आधुनिक औद्योगीकरण के कारण स्थिति अब बदल गयी है। अब यह आवश्यक है कि एक श्रमिक अधिकतम (जितना कि उद्योग द्वारा निश्चित है) काम करेगा। अब उन कारीगरों की माँग अधिक नही है जो अनुभवी हैं बल्कि उन कारीगरों की माँग है जो मशीन के साथ-साथ काम कर सकें। इसीलिए अब एक अवधि (45 वर्ष या 50 वर्ष) के बाद श्रमिकों को उद्योगों में नये सिरे से भर्ती नही किया जाता। अब औद्योगिक नीति ऐसी बन रही है जिसमें वृद्ध श्रमिकों को कहीं भी स्थान नही है। अब औद्योगिक श्रमिकों के लिए एक निश्चित अवधि (18 वर्ष से 50 वर्ष तक) में ही रोजगार प्राप्त करना सम्भव है। आज के श्रमिक की औसत आयु कल्याणकारी कार्यों के कारण कुछ बढ़ी है लेकिन उसके सेवा-काल में कोई वृद्धि नही हुई है, कहीं-कहीं तो यह उल्टे घट भी गयी है। यह स्थिति श्रमिकों के लिए एक ऐसी समस्या को जन्म देती है जिसका निराकरण आवश्यक है। जब संयुक्त परिवार की बहुलता थी तो वृद्धावस्था की समस्या का यह रूप नही था क्योंकि वृद्ध व्यक्ति परिवार का मुखिया होता था और उसका काम चारपाई पर बैठे-बैठे केवल निर्देश देना होता था। लेकिन अब एकाकी परिवार की स्थापना के कारण इस व्यक्ति को जो अकेले अपनी पत्नी और बच्चों के साथ रहा है कोई सहायता नही देता। विशेषकर औद्योगिक संस्थानों के ऐसे कर्मचारी जो सेवा से निवृत्त होते हैं उनके लिए बुढ़ापा एक अभिशाप बन जाता है। इसका कारण यह है कि अपने सेवा-काल में वह केवल अपने आश्रितों के भरण-पोषण में ही अपनी आमदनी लगा देते हैं, अपनी वृद्धावस्था के लिए वे कुछ भी बचा नही पाते। अतः सरकारी प्रयत्न ही इस समस्या का हल ढूंढ सकता है। जिन उद्योगों में पेन्शन की व्यवस्था नही है श्रमिकों को सेवा-काल समाप्ति [illegible] साथ नियमित रूप [illegible] आजीवन एक ऐसी

धनराशि मिलनी चाहिए जो उनके तथा कम से कम उनके प्रत्यक्ष आश्रितों के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त हो। श्रमिकों के लिए कुछ सामाजिक सुरक्षा अधिनियम आवश्यक हैं। यद्यपि जीवन-निर्वाह निधि की व्यवस्था है जिसमें श्रमिक को अपने वेतन से कुछ प्रतिशत जमा करना होता है और उतना ही वह उद्योग भी उन्हें देता है लेकिन केवल यही एक व्यवस्था पर्याप्त नहीं है।

(5) बीमारी तथा औद्योगिक दुर्घटना की समस्या—औद्योगीकरण के बढ़ने के साथ-साथ औद्योगिक दुर्घटना की सख्या भी बढ़ रही है जिसके कारण श्रमिक या तो चोट खा जाता है, अपंग हो जाता है अथवा मर जाता है। आये-दिन आजकल औद्योगिक दुर्घटनाएँ जैसे कारखाने मे विस्फोट, आग आदि के कारण सैकड़ो लोग मर जाते हैं या अपंग हो जाते हैं। इन औद्योगिक दुर्घटनाओं के लिए यद्यपि मुआवजे की व्यवस्था है लेकिन सभी स्थितियों में मुआवजा नही मिल पाता। जैसे यदि कोई श्रमिक दुर्घटना के बाद काम पर लौटने में समर्थ है तो उसे मुआवजा नही मिलेगा, भले ही उसी चोट के कारण वह कुछ दिन बाद काम करने के अयोग्य हो जाये। ऐसा देखने को मिलता है कि दुर्घटना के काफी दिन के बाद एक श्रमिक काम करने के योग्य नहीं रह पाता, यद्यपि दुर्घटना के तुरन्त बाद वह काम करता रहा है ऐसी स्थिति में उसे कुछ भी मुआवजा नहीं दिया जाता। कभी-कभी यह धनराशि इतनी कम होती है कि उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है।

आये-दिन मशीनों में परिवर्तन के कारण श्रमिक उनसे सामंजस्य नहीं कर पाता और वह कही ऐसी गलती कर बैठता है जिससे दुर्घटना हो जाती है। यह दुर्घटना केवल उद्योग से ही सम्बन्धित नहीं रहती किन्तु उसका सामाजिक प्रभाव भी पड़ता है। अधिकांश आश्रित लोग, यदि श्रमिक की मृत्यु हो जाती है तो अपने भरण-पोषण के लिए उन कार्यों को करने लगते हैं जो अनैतिक हैं। वेश्यावृत्ति, चोरी, डाका आदि कार्यों में ऐसे परिवारों के सदस्यों का फँस जाना स्वाभाविक है। कुछ उद्योग ऐसे हैं जहाँ काम करने वाले स्वयं तो रोगी हो ही जाते हैं साथ ही साथ उनके बच्चे भी उन्ही रोगों से ग्रसित हो जाते हैं जैसे शीशे और सीमेंट के कारखानों अथवा जूते के कार्य में लगे श्रमिक। इसके अतिरिक्त कुछ पेशेगत रोग भी हैं जो विभिन्न पेशों को करने वालो को अपने-आप हो जाते हैं। अतः ऐसे स्थानों पर कार्य करने वालों को या तो सुरक्षात्मक उपकरण मिलना चाहिए या विभिन्न प्रकार के अनुसधान कार्यों से ऐसी सुविधा प्रदान की जानी चाहिए जहाँ श्रमिक इन रोगों से मुक्त रह सकें। औद्योगिक संस्थानों में श्रमिकों को दवा की तो व्यवस्था होती है, लेकिन उनके आश्रितों की व्यवस्था नहीं होती अतः अधिकांश रुपया वे उनकी दवा-दारू में लगा देते हैं जिससे अन्य आवश्यक वस्तुओं का क्रय वे नही कर पाते और उन चीजों के रखने मे कटौती करते हैं जो उनके लिए आवश्यक हैं।

इन औद्योगिक सस्थानों में दुर्घटना का कारण श्रमिक की लापरवाही हो सकती है फिर भी अकेला यही कारक दुर्घटना का नहीं होता। अपर्याप्त रोशनी, सफाई, उपकरण का अभाव, काम की अपर्याप्त जानकारी भी दुर्घटना के कारण हो सकते हैं अतः इनकी पर्याप्त व्यवस्था आवश्यक है। साथ ही बीमारियों से बचने के लिए धूल तथा धुएँ से बचाव आवश्यक है। इसके साथ ही अधिक तापमान, आर्द्रता तथा हवा के कारण भी कुछ बीमारियाँ हो जाती हैं। तेजाब, रंग तथा तेल के प्रयोग के कारण भी कुछ रोग हो जाते हैं अतः इसके कुप्रभावों से भी बचाव

आवश्यक है। कभी-कभी मनचाहा काम न मिलने के कारण भी लोग लापरवाही से काम करते है जिससे दुर्घटना हो जाती है। औद्योगिक श्रमिक चूंकि एक सामाजिक प्राणी भी है अतः सम्पूर्ण समाज का यह उत्तरदायित्व है कि वह श्रमिकों के कल्याण के लिए कार्य करे। जिन कारणों से ये दुर्घटनाएँ होती हैं उनको दूर करना समाज का प्रथम दायित्व है।

(4) व्यावसायिक सामंजस्य—श्रमिक जिस स्थान पर कार्य करने जाता है वह उसके लिए नवीन होता है। यह आवश्यक नही कि उस प्रकार की परिस्थिति से वह पहले भी अवगत रहा हो अतः कार्य करने के स्थान से उसे सामजस्य स्थापित करना होगा। जो श्रमिक ऐसा नहीं कर पाते वे भविष्य में व्यवस्थापन न करने के कारण अपने काम से अलग कर दिये जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपने व्यवसाय के प्रति पूर्ण ज्ञान न होने के कारण भी श्रमिक सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता अतः ऐसी स्थिति से निवटने के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण आवश्यक होता है। व्यक्तित्व के विकास के लिए सामाजिक-सास्कृतिक पर्यावरण से समायोजन आवश्यक है। एक श्रमिक का

स्थिति

गत अथवा पारिवारिक नहो रह गया है अतः ऐसी स्थिति में व्यावसायिक सामजस्य और भी आवश्यक हो गया है। पहले पुत्र उसी पेशे को चुनता था जो उसके पिता का पेशा होता था। पुत्री को विवाह के बाद पति के साथ रहना होता था अतः उसके पेशे के चुनाव का प्रश्न ही नही उठता। लेकिन आज का नवयुवक और नवयुवती व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के अधिक होने में कारण अपनी-अपनी इच्छा से पेशो को चुन रहे है। अतः पेशेगत ज्ञान की पृष्ठभूमि उनमें न होने के कारण वे सफल उपयोजन नही कर पाते और इस कारणवश विभिन्न समस्याओं को जन्म देते हैं। व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था आजकल इसी कारणवश की जा रही है ताकि औद्योगिक व्यक्ति अपने नवीन सामाजिक पर्यावरण से सफल उपयोजन कर सके। व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के कारण अधिकाश युवक-युवतियाँ उन्ही पेशो को स्वीकार करते हैं जिसमे अधिक पैसा शुरू से ही मिले, भले ही उसका भविष्य अच्छा न हो। लेकिन बाद मे वे उस पेशे को यह कहकर छोड़ देते है कि उसका भविष्य अच्छा नही है अतः ऐसे लोग समाज मे अव्यवस्था फैलाते हैं। इस बात की आवश्यकता है कि कालेज तथा विश्वविद्यालयों मे ऐसे प्रशिक्षण दिये जायें जिनसे लोग अपनी इच्छानुसार उचित पेशे को चुन सकें। जो श्रमिक पहले से काम कर रहे हैं उनके सामने भी व्यवस्थापन की समस्या तब खड़ी होती है जब वे नयी मशीनों पर काम करने के लिए कहे जाते हैं। अधिकाश श्रमिक ऐसा करने मे अपने को असमर्थ पाते हैं जिसके कारण उनकी छँटनी कर दी जाती है। कुछ ऐसे परिवर्तनो का विरोध करने लगते हैं उन्हें यह भय बना रहता है कि कही इसके कारण उनकी वर्तमान प्रस्थिति नीची न हो जाय। उद्योग

गा

भी

...ओं

ने भी औद्योगिक-उत्पादन-क्रिया मे भाग लेना प्रारम्भ किया। अब तो वे प्रत्येक प्रकार के क्रियाकलापों मे पुरुषो के समान हैं। पहले महिलाएँ केवल घरेलू कार्यों को किया

करती थी लेकिन युद्ध के दौरान लड़ाई के लिए अधिक साज-सामान की माँग को देखते हुए महिलाओं की भी भर्ती प्रारम्भ हुई। अब इनकी संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। औद्योगिक संस्थानों में इन महिलाओं के लिए विशेष प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता होती है। अतः उन्हें पूरा करने के लिए उद्योग को आगे आना होता है। सबसे प्रमुख सामाजिक समस्या इन श्रमिक महिलाओं की यह है कि वे अपने बच्चों की देखभाल ठीक से नहीं कर पाती। यही कारण है कि वे बच्चे उन कार्यों को करने लगते हैं जो वाछनीय नही है। यद्यपि महिलाएँ (विशेषकर वैश्य और शूद्र वर्ण की) खेती कार्यों में पुरुषों की मदद करती रही है लेकिन उद्योगों मे जाकर काम करना उनके लिए भी एक नयी बात है। पैसे के प्रलोभन में वे काम करने जाती है लेकिन अब भी इन औद्योगिक संस्थानो में वह माहौल नही है जहाँ वे पुरुषों के साथ-साथ सफलता से अपना कार्य कर सकें। अतः असामंजस्य की स्थिति उनके लिए तथा स्वयं उद्योग के लिए लाभकारी नहीं रह पाती और इसके बदले मे कुछ ऐसी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जिनका निदान उद्योग के लिए आवश्यक होता है। विभिन्न विचारकों ने अपना यह मत व्यक्त किया है कि 'उद्योगों मे श्रमिकों की नियुक्ति तथा वह दशा जिसमें वे काम करती हैं उपयुक्त नही है।' अधिक सख्या मे महिला श्रमिको के मिल जाने के कारण उनका वेतन भी कम तय हो पाता है, यद्यपि उनके कार्य करने के घण्टे तथा कार्य करने की दशा दोनों ही पुरुष श्रमिकों से अच्छी है। फिर भी वेतन का कम मिलना उनके सामाजिक तथा आर्थिक विकास मे बाधक है। कुछ महिलाएँ केवल आंशिक समय के लिए काम करना चाहती है क्योंकि वे सफल गृहणी की भी भूमिका निभाना चाहती हैं। ऐसी स्थिति में वे किसी भी वेतनमान में काम करना प्रारम्भ कर देती हैं। अब महिला श्रमिकों मे भी यह भावना बलवती होती जा रही है कि 'समान कार्य के लिए समान वेतन' (equal pay for equal work) मिले अतः इसके लिए वे अब आन्दोलन भी कर रही हैं यद्यपि अभी सफल महिला श्रमिक संघ का निर्माण केवल अपने हितों की रक्षा के लिए नही हो सका है। मिल प्रबन्धकों के लिए औपचारिक निर्देश इस आशय के साथ दिया जाना चाहिए कि वे उन स्थानों तथा कार्यों के लिए महिला श्रमिकों को नियुक्त न करें जो उनके लिए अहितकर हैं।

(8) वायु, पानी तथा पर्यावरण की अशुद्धता—औद्योगीकरण से उत्पन्न सबसे प्रमुख समस्या आज वायु और पानी की अशुद्धता है। रासायनिक पदार्थों को नालियों द्वारा नदी मे या समुद्र में मिलाने के कारण पानी अशुद्ध हो जाता है और उसके इस्तेमाल से लोग विभिन्न बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। मिलो के धुएँ से हवा अशुद्ध हो जाती है जिसके कारण विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। टाइटस ने लिखा है कि इससे बड़ा और कोई अपराध नही हो सकता जितना कि हवा जिसमें लोग श्वास लेते हैं और पानी जिसे पीते हैं, को जहरीला बनाने से।[1] टाइटस का मत है कि प्रकृति का दुरुपयोग प्रगति के नाम पर किया जा रहा है। यदि औद्योगीकरण के कारण अशुद्धि की मात्रा इसी क्रम मे बढ़ती रही तो विचारकों का मत है कि आगामी 30 वर्षों में मानव प्रजाति समाप्त हो जायेगी। अतः इन समस्याओं का समाधान समाज की निरन्तरता के लिए आवश्यक है।

[1] 'What greater crime is there than to poison the air that people breathe and water they drink ?' W. S. Titus, *The Ecological Crisis*.

नवाँ अध्याय

संस्कृतीकरण

संस्कृतीकरण एक प्रक्रिया है जिसमें कोई निम्न हिन्दू जाति या जनजाति किसी उच्च अथवा द्विज या प्रभु जाति के अनुरूप अपने कर्मकाण्ड, रीति-रिवाज, विचारधारा या जीवन की गतिविधि को बदलता है। संस्कृतीकरण चूँकि एक प्रक्रिया है यही कारण है कि इसमे निरन्तरता पायी जाती है। संस्कृतीकरण की प्रक्रिया भारत के लिए नवीन न होकर अति प्राचीन है। केवल एक दृष्टिकोण से इसे लोग नवीन कहते हैं और वह यह कि सस्कृतीकरण का स्पष्ट रूप स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अधिक सबल हुआ है। संस्कृतीकरण के माध्यम से कोई जाति या उसके सदस्य समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त करते हैं। ऊँची जातियो को ही 'प्रभुजाति' कहा गया है, जिसका अनुकरण अन्य जातियाँ करती हैं। इस प्रक्रिया के कारण अन्य जातियों की स्थिति उच्चता की ओर अग्रसर होती है। यह आवश्यक नही है कि इस प्रक्रिया में लोग ब्राह्मणों का ही अनुकरण करें। हो सकता है कि शूद्र वर्ण का व्यक्ति क्षत्रिय या वैश्य का अनुकरण करे। जहाँ क्षत्रिय अपने को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ मानते है वहाँ ब्राह्मणों का अनुकरण संस्कृतीकरण से सम्बोधित नही होगा। जैसे बौद्ध और जैन धर्म के अनेक ग्रन्थों में क्षत्रियो को ब्राह्मणों से उच्च माना गया है अतः लोगों को अपनी प्रस्थिति मे परिवर्तन के लिए क्षत्रियों का अनुकरण उपयुक्त बतलाया गया है। एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'सस्कृतीकरण एक ऐसी सांस्कृतिक और सामाजिक प्रक्रिया है, जो भारत के विभिन्न भागों के हिन्दुओ के बीच व्यापक रूप में पायी जाती है। यह भी सूचना मिली है कि वह भील और ओराव जैसे कुछ जनजाति समूहों मे भी सक्रिय है।'

परिभाषा

संस्कृतीकरण प्रक्रिया के अन्तर्गत एक निम्न जाति का सदस्य अथवा वह जाति अपने से उच्च जाति के व्यवहार प्रतिमान का अनुकरण इसलिए करती है ताकि उसकी भी प्रस्थिति उच्च हो जाय। सस्कृतीकरण की प्रक्रिया यद्यपि प्राचीन है फिर भी इस अवधारणा और शब्द का समाजशास्त्रीय विवेचन सर्वप्रथम एम० एन० श्रीनिवास ने किया। अतः उन्हीं के द्वारा परिभाषित इस शब्द का विवेचन अधिक उचित होगा।

एम० एन० श्रीनिवास के अनुसार, 'सस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई 'नीच' हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति की दिशा मे अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन-पद्धति

को बदलता है।'[1]

इस प्रकार के व्यवहार प्रतिमान में परिवर्तन के कारण वह जाति (निम्न जाति) अब उच्च सामाजिक प्रस्थिति का दावा करने लगती है। हो सकता है कि ऐसा निरन्तर करते रहने के कारण एक या दो पीढ़ी के बाद समाज में उनकी प्रस्थिति वास्तव में ऊँची हो जाय। क्योंकि 'प्रस्थिति' के लिए सामाजिक मान्यता आवश्यक है जिसे उच्च व्यवहार आदर्श को दिखाकर लोग प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

कभी-कभी व्यवहार-प्रतिमान में परिवर्तन करने के बाद भी किसी जाति विशेष की स्थिति पूर्ववत् कायम रहती है। जैसे मैसूर में हरिजन जातियाँ लुहारों, सुनारों आदि के हाथ का बना भोजन ग्रहण नहीं करते जबकि वे स्पृश्य जातियाँ हैं। ऐसा करने के बाद भी हरिजन को उन दस्तकारों से नीचा ही माना जाता है, क्योंकि उनके उच्च व्यवहार को सामाजिक मान्यता प्राप्त नही हो सकी।

अपनी स्थिति में सुधार हेतु कम महत्त्वपूर्ण जातियाँ निरन्तर इस प्रक्रिया को अपनाती रही हैं। वास्तव में संस्कृतीकरण भारतीय इतिहास मे सांस्कृतिक परिवर्तन की एक प्रधान प्रक्रिया है और वह भारतीय उपमहाद्वीप के प्रत्येक भाग में होती रही है। यह सम्भव है कि वह कुछ युगों में अधिक प्रबल रही हो और भारत के कुछ भागो में अन्य भागों की अपेक्षा अधिक संस्कृतीकरण हुआ हो, पर इसमें कोई सन्देह नही कि यह प्रक्रिया सर्वव्यापी रही है।

एक अन्य स्थान पर प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'संस्कृतीकरण का अभिप्राय केवल नयी प्रथा और आदतों को ग्रहण करना नही है बल्कि नये विचारों और मूल्यों को भी व्यक्त करना है जिसका सम्बन्ध पवित्रता तथा धर्मनिरपेक्षता से है और जो संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है। कर्म, धर्म, पाप, पुण्य, माया, मोक्ष आदि ऐसे शब्द हैं जिनका सम्बन्ध धार्मिक संस्कृत साहित्य से है। जब लोगो का संस्कृतीकरण हो जाता है तो अनायास ही उनके द्वारा इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है।'

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हुआ कि संस्कृतीकरण के कारण निम्न जाति उच्च व्यवहारों के प्रदर्शन के कारण अपनी सामाजिक स्थिति को कुछ ऊँचा उठा पाती है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है जनजातीय लोग जिन्हें पिछड़ा हुआ माना जाता है अपने व्यवहार मे परिवर्तन यदि सवर्ण लोगो के अनुरूप करते हैं तो उनमें भी यह प्रक्रिया कार्यशील हो जाती है। संस्कृतीकरण हिन्दू जातियों तक ही सीमित नही है, बल्कि जनजाति और अर्द्ध-जनजाति समूहो मे भी होता है, जैसे पश्चिमी भारत के भीलों में, मध्य भारत के गोंड और ओरावो मे, तथा हिमालय की पहाड़ी जनजातियों मे भी प्राप्त है। इसके परिणामस्वरूप जिस जनजाति मे संस्कृतीकरण होता है, वह अपने को अब एक जाति और इस प्रकार 'हिन्दू' होने का दावा करने लगती है। पारम्परिक व्यवस्था में हिन्दू होने का एकमात्र उपाय किसी जाति में शामिल होना था और गतिशीलता की इकाई आमतौर पर व्यक्ति या परिवार नही बल्कि एक समूह हुआ करती थी।

संस्कृतीकरण और ब्राह्मणीकरण

संस्कृतीकरण का अर्थ कुछ लोग केवल ब्राह्मणों के अनुरूप व्यवहार करने से

caste or tribal
way of life in the
Srinivas, *Social*

लगाते हैं जो भ्रामक है। इस प्रक्रिया को ब्राह्मणीकरण से सम्बोधित किया जा सकता है। संस्कृतीकरण अधिक व्यापक अवधारणा है। यद्यपि यह भी उच्च व्यवहार प्रतिमान की ओर इंगित करता है फिर भी उच्चता की अन्तिम कसौटी प्रस्तुत नहीं करता। यह आवश्यक नहीं है कि सभी स्थानों और कालों में ब्राह्मणों को ही सर्वोच्च माना जाय। जैसा कि कहा जा चुका है बौद्ध काल में क्षत्रियों को ब्राह्मण से उच्च माना जाता था। अ

आवश्यक नहीं ड

के व्यवहारों के

द्वारा प्रभु-जाति अथवा सवर्ण जाति के व्यवहार प्रतिमान के अनुकरण स सम्बन्धित था।

(1) संस्कृ

यह

बिना

इसी

जाति

तो अ

विवाह के कारण क्षैतिज गतिशीलता देखने को मिलती है (जैसे 'क' जाति का लड़का विवाह के बाद अपने को पति की 'ख' जाति का लिखने लगती है), जबकि इस स्थिति में संस्कृतीकरण की बात नहीं उठती। एम० एन० श्रीनिवास ने 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'सामान्यतः संस्कृतीकरण के साथ-साथ और प्रायः उसके परिणामस्वरूप सम्बद्ध जाति ऊपर की ओर गतिशील होती है; पर गतिशीलता संस्कृतीकरण के बिना भी अथवा गतिशीलता के बिना संस्कृत

व्यवस्

संरचन

पास की जातियों से ऊपर उठ जाती है, और दूसरी नीचे आ जाती है, पर यह सब एक मूलतः अचल सोपान में घटित होता है। स्वयं व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता।— केवल पदमूलक परिवर्तन, संरचनात्मक नहीं।

(2) वर्ण, जाति एवं संस्कृतीकरण

भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था श्रम-विभाजन के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण रही है। प्रत्येक वर्ण के सदस्य अपने-अपने कार्यों को करते थे। कार्यों के आधार पर ही सदस्यों को प्रस्थिति प्रदान की जाती थी। ब्राह्मण सर्वोच्च सामाजिक प्रस्थिति का व्यक्ति माना जाता था, उसके बाद क्षत्रिय, फिर वैश्य और बाद में शूद्र वर्ण का स्थान आता था। इस प्रकार हम पाते हैं कि वर्ण-व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :

(1) यह सम्पूर्ण समाज के लिए एक जैसी थी—यही कारण है कि यह व्यवस्था सम्पूर्ण भारतवर्ष में विद्यमान थी।

(2) वर्ण चार रहे हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र (अस्पृश्य वर्ण अलग

मान लिया जाय तो इनकी संख्या पाँच हो जायेगी)।

(3) सोपान, वर्णों के उतार-चढ़ाव का क्रम प्रस्तुत करता है।

(4) यह क्रम अटल और अपरिवर्तनीय है।

वर्ण-व्यवस्था में सस्कृतीकरण का अर्थ होता था; ब्राह्मणों का अनुकरण क्षत्रिय या अन्य वर्ण के करें। इसी प्रकार क्षत्रियो का अनुकरण वैश्य या शूद्र वर्ण के लोग करें। यह अनुकरण इसलिए किया जाता था ताकि उच्च व्यवहार-प्रतिमान को धारण करके अपेक्षाकृत निम्न प्रस्थिति के लोग अपनी प्रस्थिति में सुधार कर सकें।

लेकिन जाति व्यवस्था में संस्तरण तथा जातियो की प्रस्थिति अस्पष्ट तथा जटिल होती गयी। ब्राह्मणों में ही कुछ उपवर्ग ऐसे अवतरित हुए जिनको केवल सामुदायिक या क्षेत्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उसी प्रकार क्षत्रिय कही-कही अपने को ब्राह्मणो से श्रेष्ठ कहने लगे। वे उनके हाथ का भोजन ग्रहण नही करते थे। इसी प्रकार कहीं-कहीं वैश्य क्षत्रियों से और शूद्र वैश्यों से अपने को श्रेष्ठ मानते रहे। इस स्थिति मे कौन किसका व्यवहार प्रतिमान अपनाये यह अधिक जटिल होता गया और उसी के फलस्वरूप सस्कृतीकरण की प्रक्रिया भी अधिक स्पष्ट नही रही। एक ही जाति एक क्षेत्र में उच्च मानी जाती है तो वही जाति अन्य क्षेत्रों में हेय दृष्टि से देखी जाती है। अतः व्यवहार-प्रतिमान का अनुकरण क्षेत्रीय आधार पर होने लगता है। वर्ण-व्यवस्था मे जहाँ एक वर्ण का स्थान अटल है वहीं पर जाति-व्यवस्था में एक जाति का स्थान परिवर्तित होता नजर आता है। अंग्रेजों के सामने भी इस प्रकार के विवाद लाये जाते थे कि अमुक जाति अन्य से श्रेष्ठ बतलाती है। वे अपना निर्णय इस विवाद पर देते थे और वह मान्य होता था। अतः यह निश्चित हुआ कि वर्ण-व्यवस्था में चूँकि विभिन्न वर्णों की प्रस्थिति उच्चता और न्यूनता के क्रम मे सुनिश्चित है अतः उच्च वर्ण का अनुकरण अन्य वर्णों को करना होता था। चूँकि जाति-व्यवस्था में विभिन्न जातियों की प्रस्थिति उच्चता और न्यूनता के लिए विवादास्पद है अतः सम्पूर्ण समाज के सन्दर्भ में कौन जाति किस जाति का अनुकरण करे निश्चितता के साथ नहीं कहा जा सकता।

अब हम यहाँ किन्हीं उदाहरणों को प्रस्तुत करेगे जिससे स्पष्ट हो सकेगा कि विभिन्न जातियों में अपनी-अपनी प्रस्थिति की उच्चता के लिए किस प्रकार अलग-अलग विचार हैं। प्रो० एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि जाति मुख्यतः एक प्रादेशिक व्यवस्था के रूप में ही मौजूद व कार्यशील है। वास्तव मे भारत के समस्त ब्राह्मण की तो बात ही क्या, एक ही प्रादेशिक भाषा बोलने वाले समस्त ब्राह्मणों का भी एक अन्तर्गामी समूह नही होता। उसमें भी एक दर्जन या उससे भी अधिक अन्तर्गामी समूह हो सकते हैं। इसी तरह एक छोटे प्रदेश के भीतर भी एक जाति साधारणतः केवल कुछ एक अन्य जातियों के साथ पारस्परिक व्यवहार रखती है, सबके साथ नहीं। इसके अतिरिक्त औसत किसान के लिए अन्य भाषायी क्षेत्रो मे जातियों के नाम सर्वथा अपरिचित होते है। आधुनिक भारत के प्रत्येक भाषायी क्षेत्र मे सैकड़ों जातियाँ अथवा अन्तर्गामी समूह हैं। चार या पाँच वर्ण केवल मोटी-मोटी अखिल भारतीय श्रेणियाँ सूचित करते हैं कि जिनमें असंख्य जातियो को कुछ अत्यन्त सीमित उद्देश्यों के लिए ही समूहित किया जा सकता है। वास्तव मे जाति-व्यवस्था के दोनों छोर भी उतने अचल नही हैं जितने बताये जाते हैं। जैसे हरिजनों के छूने मात्र से व्यक्ति के अपवित्र बन जाने की धारणा रही है। वहीं पर हरिजन सवर्ण व्यक्तियों

के यहाँ खेतीवाड़ी का काम करते रहते है। इसी प्रकार कुछ ब्राह्मण समूहों का इतना नीचा माना जाता है कि हरिजन तक उनके हाथ का बना भोजन ग्रहण नहीं करते। दो जातियों का एक दूसरे से श्रेष्ठ होने का दावा करना कोई असाधारण नहीं, बल्कि एक ऐसी गतिशील व्यवस्था की स्वाभाविक उपज है जिसमें आगे बढ़ने के प्रयास में कुछ धक्कममुक्का और संघर्ष होता ही रहता है।

घुर्ये ने लिखा है कि उत्तरवैदिक काल मे (600 ई० पू० से 300 ई० पू० तक) वर्ण-धर्म का अधिक विस्तार हुआ। इस काल मे ब्राह्मण वर्ण की स्थिति बहुत दृढ़ हुई और ब्राह्मणों की बढ़ती हुई श्रेष्ठता की तुलना में शूद्रों की अवनति और भी तीव्रता से उभर आयी। क्षत्रियों का पूरी तरह पराभाव हो गया और वैश्यों की स्थिति गिरती गयी यहाँ तक कि वह शूद्रों के समीप पहुँच गयी। तीनों निम्न वर्णों को यह आदेश था कि वे ब्राह्मण के उपदेशों के अनुसार रहें और वही उनके कर्त्तव्यों को भी निर्धारित करेगा। इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण सर्वोपरि थे और वे ही अन्य वर्णों तथा यहाँ तक कि राजा (शासक) के कर्त्तव्यों को निश्चित करते थे। यह वर्ण आदर्श अंग्रेजी शासन-काल में भी अधिक लोकप्रिय रहा। अंग्रेजों ने न्यायालयों में पण्डितों को भी न्याय के लिए रखा और यह स्थिति 1864 तक रही। धार्मिक संस्कृत साहित्य का अंग्रेजी में अनुवाद भी हुआ। जाति पंचायतों के माध्यम से उच्च आदर्शात्मक व्यवहार-प्रतिमान को ग्रहण कर संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को सक्रिय रखा गया।

लेकिन बाद मे चलकर, यह दृष्टिगत हुआ कि उच्च व्यवहार-प्रतिमान के लिए केवल 'ब्राह्मण आदर्श' ही नहीं होता, हो सकता है कि क्षत्रिय आदर्श या अन्य प्रभुता-सम्पन्न अ-ब्राह्मण जाति आदर्श काम कर रही हो। डी० एफ० पोकाक ने लिखा है कि जिस प्रकार ब्राह्मण के साथ-साथ क्षत्रिय या राजा, वैश्य या शूद्र वर्णों से उच्चतर हैं, वैसे ही हम हिन्दू समाज में राजकीय आदर्श भी मान सकते हैं, जो कुछ बातों में ब्राह्मण आदर्श के ऊपर निर्भर होते हुए भी उसका पूरक होता है। किसी काल या स्थान विशेष में राजकीय आदर्श की प्रतिनिधि किसी क्षेत्र की प्रभुता-सम्पन्न अ-ब्राह्मण जाति या जातियाँ माध्यम का काम करती हैं। इस भाँति लौकिक मामलों में विभिन्न कालों में मुगलों और अंग्रेजों ने वह मानक प्रस्तुत किया जिससे लौकिक प्रतिष्ठा नापी जाती है।

एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि भारत के प्रत्येक अंचल मे इस बारे में में तो कुछ सहमति मिलती है कि कौन ब्राह्मण है और कौन अछूत; क्षत्रियों और वैश्यों के बारे में ऐसी सर्वसम्मति नहीं मिलती। क्षत्रिय तथा वैश्य के दर्जे का दावा वे सब समूह करते हैं जिनकी क्रमशः सैनिक कार्य और व्यवसाय की परम्पराएँ रही है। देश के विभिन्न भागों के सभी क्षत्रियों और सभी वैश्यों मे अपना-अपना सामान्य कर्म-काण्ड नही है। उनमें से बहुतेरों के वे सब संस्कार नही होते जो द्विज वर्णों के लिए आवश्यक समझे जाते हैं। जाति की जटिलता और बढती गयी। कुछ विचारकों ने तो प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि क्षत्रिय नाम की कोई जाति नन्दवंश के बाद नहीं हुई। के० एम० पणिक्कर का मत है कि पिछले दो हजार वर्षों में क्षत्रिय जैसी कोई जाति ही नही हुई। नन्दवंशीय ही अन्तिम सच्चे क्षत्रिय थे, और वे ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी से ही समाप्त हो गये। तब से प्रत्येक ज्ञात राजपरिवार किसी न किसी अ-क्षत्रिय जाति से आया है, जिसमे मध्ययुगीन भारत के प्रसिद्ध भी शामिल हैं। ऐसा लगता है कि अधिक अर्वाचीन युगों में भी शूद्रों ने बड़ी

भारी संख्या में राजपरिवार पैदा किये हैं। बंगाल के पाल तो निःसन्देह ऐसी ही जाति के थे। चारण या भाट जाति स्वरचित चौपाइयों के माध्यम से ऐसे लोगों की प्रतिष्ठा को कायम रखने का काम करता थी। इसी प्रकार कहार, अहीर आदि ऐसी जातियाँ हैं जिन्हें कहीं-कहीं तो वैश्य और कहीं-कहीं शूद्र कहा जाता है। एक जाति जो किसी क्षेत्र में दूसरी से ऊँची है उसका अनुकरण संस्कृतीकरण का द्योतक होगा।

अब जाति के बारे में कहा जा सकता है—

(1) यह सम्पूर्ण समाज के लिए एक जैसी नहीं है।
(2) जातियाँ हजारों की संख्या में हैं।
(3) जातियों की उच्चता-न्यूनता का आधार क्षेत्रीय अधिक है।
(4) जातियों का संस्तरण यद्यपि स्थिर दृष्टिगत होता है लेकिन वह स्थिर नहीं है क्योंकि एक क्षेत्र में एक जाति ऊँची है तो दूसरे क्षेत्र में वही जाति नीची है।

(3) संस्कृतीकरण का उद्देश्य एवं आदर्श

संस्कृतीकरण का उद्देश्य किसी जाति अथवा समूह द्वारा उच्च व्यवहारों को अपना कर अपनी प्रस्थिति में सुधार करना है। यह सुधार क्षणिक तथा स्थायी कुछ भी हो सकता है।

क्या इस उद्देश्य-प्राप्ति के आदर्श निश्चित हैं? इसका उत्तर है 'नहीं'। क्योंकि विभिन्न जातियों में श्रेष्ठता के बारे में कोई एक मत नहीं है। एक ही जाति विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न सामाजिक स्थिति को प्राप्त किये हुए है। जैसे, कहीं-कहीं क्षत्रिय ब्राह्मणों से उच्च माने जाते हैं तो कहीं-कहीं क्षत्रियों को वैश्यों से भी नीच माना जाता है। कुछ जातियाँ एक स्थान पर वैश्य कही जाती हैं जिसके कारण उनके हाथ [illegible]

[illegible]

ऊपर के तीन वर्णों अथवा उनमे से किसी एक का व्यवहार-प्रतिमान हो सकता है। इसके अतिरिक्त संस्कृतीकरण के लिए 'प्रभु' जातियों का अनुकरण भी एक आदर्श का काम कर सकता है। एम० एन० श्रीनिवास ने भी लिखा है कि 'सस्कृतीकरण के आदर्श एक नहीं, तीन-चार रहे हैं।' एक से अधिक आदर्शों का कारण विभिन्न जातियों के बीच आपसी सघर्ष प्रतिष्ठा हेतु रहा है। जैसे वैदिक ग्रन्थों मे ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच संघर्ष का उल्लेख मिलता है। कभी-कभी क्षत्रिय ब्राह्मणो की सर्वोच्चता को चुनौती देते थे और उनका कहना था कि क्षत्रिय से श्रेष्ठतर कोई नहीं। पुजारी या पुरोहित राजा का अनुयायी मात्र है। इसी प्रकार का अवलोकन डा० घुर्ये का भी है। वे लिखते हैं कि महावीर और बुद्ध के मूल उपदेशों में जाति के सम्बन्ध में निश्चित वक्तव्य जो भी हो, इन धार्मिक आन्दोलनों के प्रारम्भिक साहित्य के सूक्ष्म

अध्येता को यह निश्चित रूप से लगेगा कि उसके लेखकों का मुख्य सामाजिक लक्ष्य क्षत्रियों की प्रधानता पर आग्रह करना था। यह सर्वविदित तथ्य है कि कोई भी जैन तीर्थंकर क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी परिवार मे कभी पैदा नही हुआ। बौद्ध साहित्य में भी ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जिनमें चार जातियों की गणना में शीर्ष स्थान क्षत्रिय का है, ब्राह्मण का उसके बाद। इन नये धर्मों (जैन और बौद्ध) ने अनेक व्यापारियों (वैश्य) को भी आकर्षित किया जो क्षत्रियों की भांति ही, ब्राह्मणो की प्रभुता से क्षुब्ध थे और अपने ऊपर जाति-व्यवस्था द्वारा थोपी गयी अक्षमताओं को दूर करने का कोई रास्ता चाहते थे। ब्राह्मण सर्वोपरि सामाजिक प्रस्थिति को प्राप्त करने के बारे मे जागरूक थे, साथ ही साथ वे अपने प्रत्येक व्यवहार को उच्च एवं आदर्शात्मक रखना चाहते थे। उन्होने अपनी जीवन-पद्धति मे परिवर्तन किया जैसे पहले ब्राह्मण भी मांस तथा मदिरा का सेवन करते थे लेकिन मदिरापान जो वैदिक कर्मकांड तथा ब्राह्मण आहार दोनों का ही अंग था, उत्तर-वैदिक भारत मे बन्द हो गया। आज कोई भी ब्राह्मण समूह परम्परा से मदिरासेवी नही है और केवल कुछ ही ब्राह्मण मास का सेवन करते हैं। गो मास का सभी के लिए निषेध है। एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि ब्राह्मणों की जीवन-पद्धति मे यह परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि दूसरी जातियाँ जिस ब्राह्मण आदर्श [illegible]
क्षत्रिय व वैश्य आदर्श भी मह[illegible]
क्योंकि कुछ क्षत्रिय और लगभग सभी वैश्य आहार और कर्मकांड के मामले मे ब्राह्मण आदर्श को मानते हैं।

(4) लम्बवत् और क्षैतिज एकीकरण

वर्ण व्यवस्था मे चारों वर्णों के व्यवहार-प्रतिमान अलग-अलग बतलाये गये हैं। इनमें द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) और शूद्र के व्यवहार-प्रतिमान अधिक स्पष्ट हैं। वास्तव मे एक वर्ण के सदस्यों से समान व्यवहार की आशा की जाती है। उसे क्षैतिज समीकरण (horizontal solidarity) से सम्बोधित किया जाता है। यह स्थिति अधिक सामान्य होती है। इसके विपरीत स्थानीय प्रभाव के कारण एक ही क्षेत्र के ब्राह्मण और शूद्र समान बोली बोलते है, समान त्यौहारो को मानते हैं, और न्यूनाधिक अशों मे समान रहन-सहन के ढग को अपनाते हैं। इस समीकरण को लम्बवत एकीकरण (vertical solidarity) कहा जाता है। एम० एन० श्रीनिवास के शब्दो मे, 'एक क्षेत्र में रहने वाले ब्राह्मण और हरिजन दोनो एक ही भाषा बोलेंगे, समान त्यौहार मनायेंगे और कुछ सामान्य स्थानीय देवताओं और मान्यताओं को स्वीकार करते होगे। मैं इसे उदग्र एकीकरण कहता हूँ और यह क्षैतिज एकीकरण से भिन्न है जो एक ही जाति या वर्ण के लोगों मे पाया जाता है।' उन्होने आगे लिखा है कि कुछ ब्राह्मण समूह, जैसे—कश्मीरी, बंगाली और सारस्वत मासाहारी हैं जबकि अन्य स्थानो मे ब्राह्मण परम्परा से शाकाहारी होते हैं। विभिन्न ब्राह्मण समूहों में धन्धों की भी पर्याप्त अनेकरूपता पायी जाती है। देश के विभिन्न भागो में ब्राह्मणों की अपेक्षा अन्य जातियो मे स्थानीय सास्कृतिक तत्त्व अधिक देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त अपने को क्षत्रिय या वैश्य कहने वाले लोगों के व्यवहारो मे भी समानता नही है। जैसे एक क्षेत्र मे क्षत्रिय का यदि एक प्रकार का व्यवहार है तो

यह आवश्यक नहीं कि दूसरे क्षेत्र में भी क्षत्रियों का व्यवहार वैसा ही होगा। इसी प्रकार वैश्यों का भी व्यवहार समाज के सभी क्षेत्रो मे समान नहीं है। अतः इन अन्तरो के कारण हम पाते हैं कि उनमे क्षैतिज एकीकरण नहीं है। फिर भी इस बात की सम्भावना हो सकती है कि वैश्य और क्षत्रिय जाति के विभिन्न स्थानों के व्यवहारों में समानता हो। इसे लम्बवत् एकीकरण कहा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षैतिज एकीकरण जो वर्ण-व्यवस्था में अपेक्षित है कभी-कभी नहीं हो पाता, जबकि लम्बवत् एकीकरण जो अपेक्षित नहीं है, पाया जाता है। ऐसा संस्कृतीकरण के कारण होता है। एक उच्च जाति के व्यवहार का अनुकरण नीची जाति अपनी प्रस्थिति में सुधार के लिए करती है।

प्रभुजाति ✓

द्विज वर्ण, जिसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है और जिसका अनुकरण शूद्र करते हैं, उसी प्रकार कुछ प्रभुजातियाँ भी हैं, जो साधारण लोगों के व्यवहारों को निर्देशित और नियन्त्रित करती है। ये प्रभुजातियाँ स्थानीय आधार पर अनुकरण के प्रारूप को तय करती हैं (The dominant peasant castes provide local models for imitation)। ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों का मुख्य पेशा अब भी कृषि है, और वह जाति, जो परम्परागत प्रतिष्ठा के साथ-साथ अधिक मात्रा में खेती पर भी अधिकार रखती है, वह उस क्षेत्र के लिए प्रभुजाति (dominant caste) कही जाती है और अन्य लोग उसी जाति के व्यवहार-प्रतिमान को उचित मानते हुए उसका अनुकरण करते हैं। एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'भारत के विभिन्न भागों में ग्रामीण जीवन की एक विशेषता प्रभुसम्पन्न, भूस्वामी जातियों की उपस्थिति है' (A feature of rural life in many parts of India is the existence of dominant, landowning castes)।

प्रभुजाति की आवश्यक शर्तें निम्नलिखित हैं—

1. स्थानीय क्षेत्र में उस जाति को उच्च स्थान प्राप्त हो।
2. कृषि योग्य भूमि में से बड़े भाग पर उन्हीं का अधिकार हो।
3. उस जाति की सदस्य-संख्या (जनसंख्या की घनत्व) पर्याप्त हो (अधिक मतभ
4. पश्चिमी शिक्षा-प्राप्त किये लोगों की संख्या।
5. प्रशासनिक सेवाओं में कार्यरत अधिकांश लोग।
6. खेती के अतिरिक्त आर्थिक आय का कोई अन्य स्रोत, जैसे सूद पर रुपया देना, लघु उद्योग-धन्धों का खोलना, सहकारी समितियों की स्थापना आदि।
7. खेती योग्य भूमि को खरीदने की प्रवृत्ति, भले ही वह जमीन कितनी ही अधिक महँगी क्यों न हो।

उपर्युक्त शर्तों में से क्रमसंख्या 4, 5 और 6 अधिक पुरानी नहीं हैं। इसे अंग्रेजी शासन का प्रभुजाति के ऊपर प्रभाव कहा जा सकता है। अब एक अन्य कारक प्रभुजाति के लिए अधिक आवश्यक हो रहा है और वह यह है कि चुनाव के समय उस जाति के पास किस संख्या में मतदाताओं का समर्थन प्राप्त है। यह आवश्यक नहीं है कि एक गाँव में केवल एक ही प्रभुता-सम्पन्न जाति हो। हो सकता है कि उस गाँव में एक से अधिक ऐसी जातियाँ हों। यह भी आवश्यक नहीं है कि इन

जातियों की यह प्रस्थिति हमेशा के लिए निश्चित रहे। हो सकता है कि उसी स्थान पर कोई अन्य जाति प्रभुजाति के रूप में अवतरित हो जाय। एम० एन० श्रीनिवास के शब्दों में, 'पारस्परिक व्यवस्था में किसी ऊँची जाति के थोड़े-से लोगों का यदि कृषि योग्य भूमि के बड़े अंश पर स्वामित्व हो और उन्हें उच्च कर्मकाण्डीय स्थान भी प्राप्त हों, तो वे सारे गाँव पर अधिकार जमा सकते हैं।' लेकिन जैसा कि ऊपर कहा गया है कि यह आवश्यक नहीं है कि उसी समूह के पास वह सत्ता निरन्तर बनी रहेगी। 'प्रभुजाति में स्थानीय गुटबन्दी से भी यह खतरा पैदा होता है कि सत्ता देर तक उसके पास न बनी रह सके।' अब स्वतन्त्रता के बाद से हरिजनों में भी एक शक्ति के रूप में उभरने की प्रक्रिया दृष्टिगत हो रही है। हो सकता है कि इसका कारण सरकारी प्रयत्न हो जो हरिजनों के लिए हो रहा है। अब कर्मकाण्डीय व्यवहार सत्ता-प्राप्ति के लिए आवश्यक नहीं रहे। यही कारण है कि अब ग्रामीण क्षेत्रों में सत्ता संख्या की दृष्टि से बड़े भूस्वामी किसान जातियों के हाथों में पहुँच गई है। प्रभुजातियों से सम्बन्धित लोग (उनके रिश्तेदार) इन्हीं कारणों से महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'जिस जाति को केवल एक गाँव में प्रभुता प्राप्त है, उसे अनुभव होगा कि उसके लिए उस जाति का ध्यान रखना आवश्यक है जिसे प्रादेशिक प्रभुता प्राप्त हो।' क्षेत्रीय आधार पर प्रभुजाति की अवधारणा बदलती हुई दृष्टिगत होती है, जैसे—पंजाब के कुछ नगरों में धनाढ्य जाट ब्राह्मणों को अपना सेवक समझते हैं। उसी प्रकार पूर्वी उत्तर प्रदेश के माधोपुर गाँव के प्रभुतासम्पन्न ठाकुर अपने गुरुओं और पुरोहितों के अतिरिक्त अन्य किसी भी ब्राह्मण के हाथ का भोजन नहीं खाते थे। यद्यपि प्रभुजाति के लिए लौकिक कसौटियाँ, जैसे—आर्थिक सम्पन्नता, अर्जित गुण आदि प्रमुख हैं, फिर भी कर्मकाण्डीय श्रेष्ठता अपना अलग ही अस्तित्व रखती है, जैसे—बोडलमैन ने लिखा है कि सेनपुर और रामपुर में ब्राह्मण सत्ता-सम्पन्न और आर्थिक दृष्टि से श्रेष्ठतर न थे, बल्कि जाटों और ठाकुरों के अधीन थे। पर सम्भवतः गाँव के लोग सर्वसम्मति से यह मानते थे कि कर्मकाण्ड की दृष्टि से ब्राह्मण ही सर्वोच्च है। प्रभुजाति संस्कृतीकरण प्रक्रिया में अपना प्रभाव अन्य लोगों पर छोड़ती है, जैसे—यदि प्रभुजाति ब्राह्मण है तो अन्य लोग ब्राह्मणों के व्यवहारों को (Brahmanical model of sanskritization) अपनायेंगे और यदि वह क्षत्रिय या वैश्य है तो इस प्रक्रिया के कारण क्षत्रिय या वैश्य आदर्श का संचरण होगा। श्रीनिवास के शब्दों में, 'अवश्य ही प्रत्येक स्थानीय प्रभुजाति की ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य आदर्शों की अपनी अलग-अलग धारणा होती है।'

जाति-प्रथा की दो स्पष्ट प्रवृत्तियाँ

वैसे जाति-व्यवस्था की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ (tendencies) अनेक हैं फिर भी उनमें से दो अधिक प्रमुख हैं—प्रथम, किसी स्थानीय समुदाय या क्षेत्र में नैतिक और धार्मिक प्रतिमानों सहित, बहुत-सी संस्कृतियों के अस्तित्व की स्वीकृति, जैसे—परम्परागत आधार पर अपने-अपने जातिगत व्यवसायों को करना और उसे अन्य से श्रेष्ठ मानना। दूसरा, उच्च जातियों के व्यवहार-प्रतिमान और रंग-ढंग का अनुकरण।

किस प्रकार के व्यवहार-प्रतिमान या रंग-ढंग का अनुकरण होगा, इसके लिए

ब्राह्मण जाति ही कोई अन्तिम कसौटी नहीं है और न ही उस क्षेत्र की सर्वोच्च जाति। इसके परे आचरण के लिए आदर्श का काम उस जाति का अधिक प्रभावकारी होगा, जिसका व्यवहार-प्रतिमान और जो अनुकरण करने जा रहा है, दोनों में कुछ समानता हो। पीकाक ने लिखा है कि 'अपक्षतया निचली कोटि की अ-ब्राह्मण जाति ब्राह्मणत्व की किसी धारणा का अनुकरण नही करती और न लौकिक प्रतिष्ठा की उसकी कोई सामान्य परिकल्पनायें होती हैं। उसके आचरण के लिए अपने से ऊपर की वे जातियाँ आदर्श होती हैं जिनसे उसकी सबसे अधिक समीपता हो।' यदि

अध्ययन में यह पाया है कि 1936 में पूर्वी उत्तर प्रदेश में सेनापुर गाव के नोनियो ने सामूहिक रूप से जनेऊ पहना तो जमीदारों ने उनकी पिटाई की और उनके जनेऊ तोड़ कर फेंक दिये और सम्पूर्ण गाँव के नोनियों के ऊपर जुर्माना किया। कुछ वर्षों बाद नोनियों (एक नीची जाति) ने फिर जनेऊ पहनना शुरू किया, पर इस बार कोई विरोध नही हुआ। उनके पहले प्रयास में सीधी-सीधी उच्च जाति को चुनौती थी जबकि दूसरी बार उन्होंने वैयक्तिक आधार पर ऐसा करना प्रारम्भ किया। 1921 की जनगणना रिपोर्ट से पता चलता है कि जब उत्तर भारत के अहीरों ने अपने को क्षत्रिय कहना तथा जनेऊ धारण करना शुरू किया तो उनके इस कार्य से प्रभुतासम्पन्न उच्च जातियों मे रोष फैला और उन्होने अहीरों से मारपीट तथा मुकदमेबाजी प्रारम्भ कर दी। यही स्थिति हट्टन को दक्षिणी भारत में कल्लर जाति और हरिजनों के बीच मिली। इस भाँति प्रभुजातियाँ अपने प्रभाव क्षेत्र में रहने वाली विभिन्न जातियों के बीच सरचनात्मक दूरी बनाये रखती थीं। उनके द्वारा बनाये और लागू किये जाने वाले नियमों में बहुत-से स्थानीय होते थे, पर कुछ नियम—जैसे नीच जातियों द्वारा यज्ञोपवीत धारण करने का निषेध—महान् परम्परा के नियम होते थे। एक अन्य अध्ययन में यह सिद्ध किया गया है कि भूतपूर्व पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में मुसलमान अधिक प्रमुख थे, सिक्ख दूसरे स्थान पर आते थे, वे भी कुछ चुने हुए इलाकों में ही। ब्राह्मण जो अन्य स्थानों में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में सहायक सिद्ध हो रहे हैं, उस क्षेत्र में ऐसा करने में असमर्थ थे। ऐसा इस कारण से था कि पंजाब के ब्राह्मणों में न तो विद्या थी और न ही धन। अतः यह सिद्ध हुआ कि एक ही जाति सभी स्थानों पर समान महत्त्व नहीं रख सकती।

जनजातिकरण और संस्कृतीकरण

ऐसा देखा गया है कि कभी-कभी द्विज जनजातीय व्यवहारों को अपना लेते हैं। ऐसा वे अस्थायी आधार पर करते हैं लेकिन बाद में व्यवहार-प्रतिमान स्थायी रूप से परिवर्तित हो सकता है। एक अध्ययन में एस० एल० कालिया ने सिद्ध किया है कि जौनसार बावर (उत्तर प्रदेश) और बस्तर (मध्य प्रदेश) में रह रही जनजातियों के सम्पर्क में जो हिन्दू आये हैं वे उनके व्यवहार प्रतिमान तथा आहार को ग्रहण किये हुए हैं। उन्होने लिखा है कि जनजातियों के बीच अस्थायी रूप में रहने वाले उच्च जाति के हिन्दू उनके रीति रिवाज, कर्मकाण्ड और विश्वास अपना

लेते हैं जो बहुत बातों में उनके अपने रीति-रिवाज आदि से सर्वथा विपरीत होते हैं। उन्होंने आगे लिखा है कि अपने सन्दर्भ समूहों से दूर पड़ जाने पर लोगों की जीवन-शैली और मान्यताओं में कितने व्यापक परिवर्तन आ जाते हैं। उच्च हिन्दू सम्भवतः ऐसा इसलिए करते हैं—क्योंकि उनका निवास उस स्थान पर अस्थायी होता है। जैसे जोनसार बावर क्षेत्र में जो ब्राह्मण मांस खाते हैं, शराब पीते हैं अथवा पहाड़ी स्त्रियों से संसर्ग रखते हैं—उनका कहना है कि सब जलवायु के कारण करना पड़ता है। जिस दिन यमुना नदी पार करके देहरादून में वे (ब्राह्मण) अपने घरों को लौटेंगे, उसी दिन प्रायश्चित्त करके अपने को पवित्र कर लेंगे। यह स्थिति जनजातिकरण से सम्बोधित की जा सकती है। इसके विपरीत जनजातीय लोग भी अन्य जातियों के व्यवहार प्रतिमानों को साथ-साथ अपनाते हैं ताकि उनकी स्थिति ऊँची हो सके। इस दशा को जनजातियों के लिए संस्कृतीकरण कहा जाता है। एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'यह सम्भव है कि महान् परम्परा के प्रतिनिधि लघु परम्पराओं के आगे घुटने टेक दें, और ऐसा लगता है कि बीच-बीच में यह होता भी रहा है।'

भारत की प्रभुजातियाँ और संस्कृतीकरण

भारत में कुछ प्रभुजातियाँ तो स्पष्ट हैं लेकिन कुछ ऐसी हैं जिनकी स्थिति यद्यपि स्पष्ट नहीं है फिर भी वे दूसरों के लिए आदर्श का काम कर रही हैं। प्रभु-जातियों का उल्लेख इसलिए आवश्यक है क्योंकि अब व्यवहार अनुकरण में उच्च जाति का होना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा जितना कि प्रभुजाति का सदस्य होना। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि किसान, भूस्वामी जातियों की प्रतिष्ठा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद बढ़ी है और इसके साथ-साथ ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति की प्रतिष्ठा कम हुई है।

उत्तर भारत की चार प्रमुख प्रभुजातियाँ हैं इन्हें 'अजगर' शब्द से व्यक्त किया जा सकता है। इन जातियों का छोटी और निम्न जातियों पर आतंककारी प्रभाव है। 'अजगर' शब्द प्रभुजातियों के प्रथम अक्षर को लेकर बनाया गया है। अहीर, जाट, गूजर और राजपूत। पश्चिमी बंगाल के कुछ भागों में सद्गोप गुजरात में पाटीदार, महाराष्ट्र में मराठा, आन्ध्र में कम्म और रेड्डी, मैसूर में औक्कलिजग और लिंगायत, मद्रास में वेल्लास गाउण्डर, केरल में नायर, प्रभुजातियाँ हैं। बहु-संख्यक लोगों—यहाँ तक कि कभी-कभी ब्राह्मणों—के लिए भी प्रभुजातियाँ ही आदर्श प्रस्तुत करती हैं। ऐसा इस कारण भी होता है कि प्रभुजातियाँ क्षेत्रीय स्तर पर उन सभी विशेषताओं को धारण करती हैं जिसके कारण लोग उनका समर्थन करते हैं। यद्यपि यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि संख्या में कम होते हुए भी ब्राह्मणों को भारत के अधिकांश क्षेत्रों में प्रभुता भोगी है। जो ब्राह्मण जितना ही अधिक धनाढ्य हो जाता था उतने ही अधिक उसमें प्रभुता के गुण बढ़ जाते थे। प्रभुजातियों की भाँति ही मठ तथा तीर्थस्थान भी संस्कृतीकरण के स्रोत हैं। लोग विभिन्न स्थानों से इन तीर्थस्थानों को जाते हैं और अपने जीवन में वहाँ की अधिकांश चीजों को अन्त-निहित करने का प्रयास करते हैं। मठों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया कार्यरत रहती है। यातायात तथा आवागमन के साधन जितने ही अधिक विकसित होते जा रहे हैं उतना ही अधिक मठों तथा तीर्थस्थानों का प्रभाव लोगों के ... पर बढ़ जाता है क्योंकि अब लोग आसानी से उन स्थानों को पहुँच पा रहे

है। प्रभुजातियों का क्षेत्र जितना ही अधिक व्यापक होता जायेगा उनका विरोध भी बढ़ता जायेगा। उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि जब किसी जाति की प्रभुता केवल पास-पड़ोस के कुछ गाँवों तक सीमित होती, तो प्रायः उसे संस्कृतीकरण द्वारा अपनी स्थिति को वैध बनाने के प्रयास के लिए कोई अवसर न मिलता था। पर जब वह प्रभुता बड़े क्षेत्र में फैली होती तो हिन्दू धर्म की महान् परम्परा की शक्ति से उसकी टक्कर होने की सम्भावना रहती थी।

अनुलोमगमन और संस्कृतीकरण

वर्ण-व्यवस्था में अनुलोम विवाह की प्रथा थी जिसमें उच्च वर्ण का लड़का अपने तथा अपने से दो वर्ण नीचे तक जाकर किसी कन्या से विवाह कर सकता था। ऐसा करने से जिस वर्ण की लड़की का विवाह होता था उसकी प्रतिष्ठा ऊँची होती थी। जाति-व्यवस्था में इस स्थिति को दूसरे प्रकार से कायम रखा गया जिसमें एक ही जाति की विभिन्न उपजातियों में श्रेष्ठता के क्रम में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये जाते थे। उच्च उपजाति की लड़की अपने से नीची उपजाति में विवाह नहीं करेगी यह सर्वमान्य धारणा है, जैसे—तिवारी ब्राह्मण यदि पाण्डेय ब्राह्मण से उच्च माना जाता है तो वह अपनी लड़की की शादी पाण्डेय के यहाँ नहीं करेगा जबकि वह अपने लड़के की शादी वहाँ कर सकता है। श्रीनिवास के शब्दों में, 'अपने से उच्चतर जाति अथवा एक ही जाति की उच्चतर प्रशाखा के लड़कों को विवाह में अपनी लड़कियाँ देने में लड़की देने वाले कुल और जाति की प्रतिष्ठा बढ़ती है। कुछ निम्नतर समूहों को इससे अन्ततः उच्चतर समूह के साथ समानता का दावा करने में भी सहायता मिल जाती है। अनुलोमगमन गतिशीलता के लिए एक और प्रकार से भी महत्वपूर्ण है। कोई जाति अथवा जाति की प्रशाखा अपनी जीवन-पद्धति का संस्कृतीकरण कर ले और फिर जाति के ढाँचे में अपने आस-पास की जातियों से या मूल प्रशाखा से श्रेष्ठ होने का दावा करे। अम्मा कुर्ग, जो कुर्गों के मुख्य समूह की एक प्रशाखा है, उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रबल ब्राह्मण प्रभाव में आये और उन्होंने मदिरा-पान छोड़ दिया, शाकाहारी हो गये और यज्ञोपवीत पहनने लगे। बाद में उनका एक अलग अन्तर्गामी समूह बन गया। यह माना जा सकता है कि जाति के इतिहास में मूल समूह से ऐसे विखण्डन के कारण निरन्तर नये जाति-समूहों का उदय हो रहा है।' यद्यपि इस प्रकार का परिवर्तन पद-मूलक है अर्थात् जातियाँ अलग-अलग ऊपर उठीं या नीचे गिरीं फिर भी इसका महत्त्व अवश्य है।

राजनीतिक व्यवस्था और संस्कृतीकरण

किसी समाज की राजनीतिक व्यवस्था किस प्रकार की है उसका संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के ऊपर प्रभाव पड़ता है। मुगल काल में जिस क्षेत्र में मुसलमान अधिक संख्या में थे उनका अनुकरण हिन्दू जातियों को भी करना पड़ता था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हम पा रहे हैं कि निम्न जातियों को वह सुविधाएँ दी जा रही हैं ताकि वे अपने रहन-सहन के स्तर को उच्च जातियों के अनुरूप कर सकें। अंग्रेजी शासन काल में इस प्रकार का प्रबन्ध सरकारी स्तर पर नहीं था।

आर्थिक व्यवस्था का भी संस्कृतीकरण से सम्बन्ध है। शारीरिक श्रम जिस कार्य में अधिक हो उसे हेय माना जाता है अतः लोगों में यह होड़-सी चल गयी कि

अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत करके केवल उन कार्यों को करें जिससे कि प्रतिष्ठा बढ़ती है।

राजा को अधिकार होता था कि वे अपनी इच्छानुसार जातियों को उठा दें या गिरा दें। एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि पद के बारे में झगड़े तय करने और किसी अपराधी के लिए उपर्युक्त दण्ड निर्धारित करने मे राजा विद्वान् ब्राह्मणों से परामर्श लेता था। पर वे केवल नियम को घोषित करते थे, उस निर्णय को लागू राजा ही करता था। स्थानीय गतिशीलता भी संस्कृतीकरण में सहायक सिद्ध होती है। लोग एक स्थान से दूसरे स्थान को केवल इसलिए जाते हैं ताकि वहाँ पर वे अपनी प्रस्थिति को ऊँचा कर सकें। ऐसा अवसर देखा गया है कि एक जाति या कोई एक समूह जो किसी स्थान पर हेय देखा जाता है स्थान-परिवर्तन के कारण उच्च हो जाता है। श्रीनिवास ने लिखा है कि किसी एक परिवार या परिवारों के समूह को अपने मूल क्षेत्र की अपेक्षा, जहाँ स्थानीय प्रभु जाति उसे जानती हो, ऐसे नये क्षेत्र में संस्कृतीकरण की हुई जीवन-शैली अपनाने मे अधिक स्वतन्त्रता होगी जहाँ उसे कोई नहीं जानता। स्थानान्तरण के कारण 'उत्तीर्ण' होना सम्भव हो जाता है और गतिशील समूह नये तथा प्रतिष्ठासूचक सांस्कृतिक वस्त्र धारण कर सकता है।

क्या असंस्कृतीकरण भी सम्भव है?

अभी हम लोगों ने देखा कि संस्कृतीकरण प्रक्रिया में निम्न जाति के लोग उच्च जाति के व्यवहारों को, रहन-सहन के ढंग को इसलिए अपनाते हैं ताकि उनकी प्रस्थिति में कुछ सुधार हो जाय। लेकिन क्या ऐसा नही होता कि उच्च जाति के लोग भी अनजाने में या जानबूझ कर निम्न जाति के व्यवहार-प्रतिमान, आहार तथा वस्त्र आदि को धारण करें? डॉ० एन० मजूमदार ने एक गाँव के अध्ययन मे यह सिद्ध किया है कि नीची जातियो में ऊँची जातियों की संस्कृति को ग्रहण करने की प्रवृत्ति दिखलाई नही देती, और न ही किसी नीची जाति के आचार-विचार में परिवर्तन के कारण सामाजिक स्तरण में उसे ऊँचा स्थान ही मिलता है। यदि एक हरिजन *ब्राह्मणों की भाँति कर्मकाण्डीय व्यवहार करता है*, जनेऊ धारण करता है *तथा* तिलक लगाता है तो क्या उसे ब्राह्मण कहा जाएगा? इस असंस्कृतीकरण (De-sanskritization) के कारण ऊँची जातियाँ अपने परम्परागत व्यवहार-प्रतिमानों को अब छोड़ रही हैं। जैसे मांस और मन्दिरा का प्रयोग पहले शूद्र लोग करते थे अब ब्राह्मण परिवारों में भी यह निषेध नही रहा। पहले बहुत से कार्य ऐसे थे जिसे ब्राह्मण जाति का व्यक्ति *नहीं कर सकता था जैसे जूते के कारखाने में काम, बीड़ी उद्योग में काम,* शराब बनाने का कार्य आदि। अब ब्राह्मण जाति का व्यक्ति भी इन कार्यों को इस लिए करने लगा है क्योंकि इन्हें वह आर्थिक दृष्टिकोण से लाभकारी पाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय भी अपने से नीची जातियों के व्यवसायों तथा कार्यविधियों को अपना रहे हैं। उदाहरण के तौर पर कृषि-कार्यों को लिया जा सकता है। पहले जिन कृषि-कार्यों को वैश्य या शूद्र लोग करते थे उसे आज ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति के लोग भी कर रहे है। स्त्रियों के कार्यों मे भी परिवर्तन विशेष उल्लेखनीय है। पहले ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति की स्त्रियाँ केवल घर के अन्दर के कार्यों को करती थी घर के बाहर का कोई भी कार्य उनके लिए उचित नही माना जाता था, जबकि वैश्य और शूद्र जाति की औरतें घर के बाहर और अन्दर प्रत्येक स्थान पर कार्य करती थीं।

आज ब्राह्मण और क्षत्रिय परिवार की स्त्रियाँ भी घर के बाहर जाकर विभिन्न प्रकार के कार्यों को कर रही हैं। क्या इसे असंस्कृतीकरण कहा जा सकता है ? ग्रामीण क्षेत्रों में शूद्र वर्ग की स्त्रियाँ धनाभाव के कारण कम से कम कपड़े का बना हुआ ब्लाउज (टॉपलेस) पहनती थीं—उच्च जातियों के परिवारों में स्त्रियाँ पूरे बाँह का ब्लाउज पहनती थीं। आज इन परिवारों में भी टॉपलेस ड्रेस अधिक लोकप्रिय है। क्या इसे असंस्कृतीकरण कहा जाय ? उच्च घरों की स्त्रियाँ भी अब होटलों में जाती हैं, नाच-घरों में नाचती हैं, सिगरेट और शराब पीती हैं जिसे परिवर्तित रूप में शूद्र जाति की स्त्रियाँ बहुत पहले से करती चली आ रही हैं। अतः कहा जा सकता है कि केवल संस्कृतीकरण की ही प्रक्रिया कार्यशील नहीं है अपितु असंस्कृतीकरण भी उसी रूप में कार्यशील है। इस असंस्कृतीकरण का कारण पाश्चिमीकरण का प्रभाव हो सकता है, जिसके कारण उच्च जाति के लोग उन व्यवहारों को अपना रहे हैं जो अभी तक उनकी जाति के लिए वर्जित था।

उपसंहार

संस्कृतीकरण की प्रक्रिया यद्यपि समाज-कल्याण के दृष्टिकोण से उचित है फिर भी निश्चितता के साथ नहीं कहा जा सकता कि केवल संस्कृतीकरण की ही प्रक्रिया कार्यशील है। जातीय गतिशीलता जो आज अधिक देखने को मिल रही है उसके पीछे संस्कृतीकरण अधिक प्रमुख है। संस्कृतीकरण वह निरन्तर होने वाला परिवर्तन है जिसके कारण एक निम्न जाति या जनजाति के लोग अपने से उच्च जाति (विशेषकर द्विज) के सदस्यों का रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड तथा व्यवहार-प्रतिमान अपनाते हैं वे ऐसा इसलिए करते हैं ताकि उनकी सामाजिक प्रस्थिति में कुछ सुधार हो सके। ऊँची जातियाँ प्रभुजाति के रूप में भी अवतरित हो जाती हैं जिसका अनु-करण अन्य लोग करते हैं। ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय और वैश्य भी कहीं-कहीं अनुकरण के आधार हो सकते हैं। अंग्रेजी शासन-काल में उन साधनों का प्रयोग शुरू किया गया जिससे जातीय गतिशीलता बढ़ी, साथ ही साथ संस्कृतीकरण को भी बढ़ावा मिला। किसी एक कार्य या व्यवहार पर अब केवल उच्च जातियों का पुश्तैनी अधिकार नहीं रहा। संस्कृतीकरण प्रक्रिया के अन्तर्गत अब उसे निम्न जाति के लोग भी कर रहे हैं। यद्यपि असंस्कृतीकरण प्रक्रिया के साथ-साथ कार्यशील है फिर भी उसका वह

दसवाँ अध्याय

पश्चिमीकरण

भारतवर्ष में हो रहे द्रुत सामाजिक परिवर्तन के कारणों में पश्चिमीकरण भी एक है। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभावों के कारण भारतीय सामाजिक सम्बन्धों में जो परिवर्तन हो रहा है उसे पश्चिमीकरण के प्रभाव के नाम से जाना जाता है। पश्चिमीकरण से तात्पर्य समाज पर उस प्रभाव से है जो पश्चिमी समाजों के परिणामस्वरूप पड़ रहा है। पश्चिमी समाजों में जो विभिन्न आविष्कार हो रहे हैं उनका प्रभाव विश्व के अन्य भागों पर भी पड़ रहा है। प्रभाव की इस प्रक्रिया को पश्चिमीकरण से सम्बोधित किया जाता है। भारतवर्ष में जहाँ तक पश्चिमीकरण का सम्बन्ध है, इसकी जिम्मेदारी अंग्रेजी शासन-काल की है। अंग्रेजों के 150 वर्ष के शासन काल ने भारतीय समाज को मूल रूप से प्रभावित किया है। यह प्रभाव समाज के अधिकांश पहलुओं में स्थायी रूप से देखा जा सकता है। तीव्र से तीव्रतर भारतीय सामाजिक परिवर्तन का कारण भी पश्चिमीकरण ही है। भारतीय समाज को वैज्ञानिक दृष्टि से व्यवस्थित करने का श्रेय अंग्रेजी शासन काल को है, जिसे पश्चिमीकरण की ही देन कहना अधिक उचित है। अंग्रेजों के आने के पहले भारतवर्ष में छोटी-छोटी रियासतें थीं, जो आपस में लड़ा करती थीं। विभिन्न रियासतों के काम करने का ढंग विभिन्न प्रकार का था, अतः एक समन्वित समाज की कल्पना उस समय नहीं की जा सकती थी। आधुनिक नौकरशाही का रूप, सेना की व्यवस्था, अदालतों का निर्माण, रेल, डाक, तार तथा अन्य संचार के साधनों का जन्म अंग्रेजी शासन-काल का ही परिणाम है। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि भारतीय समाज तथा संस्कृति पर अंग्रेजी शासन-काल का स्थायी तथा प्रभावकारी असर पड़ा है जिसके परिणामस्वरूप परिवर्तन हुआ है। अंग्रेज अपने साथ नई प्रौद्योगिकी (technology), संस्थाएँ, ज्ञान, विश्वास और मूल्य लेकर आये। प्रौद्योगिकी तथा अन्य कारकों में विकास कर संचार-साधनों का वह आविष्कार किया जिससे सम्पूर्ण देश का एकीकरण सम्भव हो सका। छोटे-मोटे राजाओं में जो लड़ाइयाँ चला करती थीं, उनका भी अन्त इस काल में हुआ। अंग्रेजों ने उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में ही भूमि का सर्वेक्षण कर राजस्व निर्धारित किया, आधुनिक नौकरशाही को जन्म दिया; सेना तथा पुलिस की स्थापना की, अदालतों का निर्माण कर कानून संहिताओं को जन्म दिया। रेल, डाक, तार, सड़कों तथा नहरों का निर्माण कर राज्य द्वारा जनता को आवश्यक साधन प्रदान किये गये। अंग्रेजों के साथ ही भारत में छापेखाने की मशीनें भी आयी, जिसके कारण भारतीय सामाजिक सम्बन्धों में बहुविध परिवर्तन हुआ। पुस्तकों तथा पत्रिकाओं के द्वारा लोगों के विचारों का प्रचार और प्रसार तेजी से होने लगा। समाचार-पत्रों के द्वारा देश के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों को यह

अनुभव होने लगा कि वे सभी एक सामान्य सूत्र में बंधे हैं, और इस प्रकार वाह्य जगत् मे होने वाली घटनाएँ लोगों की गतिविधियों को प्रभावित करने लगी। 1813 के बाद असंख्य ईसाई समाज-सुधारकों ने भारत में प्रवेश कर सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया, जिसमें सती-प्रथा, बालिका-हत्या, मानव बलि तथा दास-प्रथा का विरोध विशेष उल्लेखनीय है।

पश्चिमीकरण, औद्योगीकरण तथा नगरीकरण

पश्चिमीकरण का स्पष्ट प्रभाव औद्योगिक केन्द्रों तथा नगरों में देखा जाता है लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नही कि पश्चिमीकरण, औद्योगीकरण और नगरीकरण एक ही चीज है। जिस प्रकार नगरीकरण के लिए आवश्यक रूप से औद्योगीकरण आवश्यक नही है, क्योंकि भारत के अधिकाश नगर अब भी औद्योगीकृत नही हैं, उसी प्रकार यह आवश्यक नही है कि पश्चिमीकरण का प्रभाव केवल नगरीय समुदायों में ही देखने को मिले। हो सकता है कि किन्ही ग्रामीण समुदायों में उस क्षेत्र के नगर से अधिक पश्चिमीकरण का प्रभाव पड़ा हो। जैसे चाय बागानों में काम करने वाले मजदूरों तथा बड़े-बड़े फार्म रखने वाले किसानो के ऊपर पश्चिमीकरण का प्रभाव अधिक स्पष्ट दृष्टिगत होता है। प्रो० एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'यद्यपि अधिकांश पश्चिमीकृत समूह आमतौर पर बड़े शहरों में ही पाये जाते है, फिर भी यह चेतावनी देना आवश्यक है कि पश्चिमीकरण और नगरीकरण एक ही चीज नहीं है। भारत जैसे देश में भी देहाती क्षेत्रों मे रहने वाले ऐसे समूह मिल जायेंगे जिनकी जीवन-शैली का बहुत से नगरीय समूहों की अपेक्षा अधिक पश्चिमीकरण हो चुका है। ऐसे समूह उन क्षेत्रों में मिलेंगे जहाँ चाय, कॉफी आदि के बागान हैं या व्यावसायिक फसलें उगाई जाती हैं, अथवा जिनसे भारतीय सेना के लिए 'रंगरूट' भर्ती करने की परम्परा है।' पश्चिमीकरण का प्रभाव नगरीय समुदायों पर अधिक व्यापक इसलिए है क्योंकि वहाँ संचार के साधन अधिक विकसित हैं। अब संचार के साधनों मे विकास के कारण नगरीय और ग्रामीण क्षेत्रों की दूरी जहाँ एक ओर कम हो रही है वही पर पश्चिमीकरण आदि जैसी प्रक्रियाओं का प्रभाव अधिक व्यापक होता जा रहा है।

पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण

पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण मे अन्तर भी आवश्यक है क्योंकि अधिकाश लोग इन दोनों प्रक्रियाओं को भी एक ही मान लेते हैं। पश्चिमीकरण जहाँ एक ओर केवल पश्चिमी समाज के प्रभाव को व्यक्त करता है वहीं पर आधुनिकीकरण उन सभी प्रभावों को सन्निहित करता है जो किसी समाज के लिए उचित हैं। पश्चिमीकरण का प्रभाव किसी समाज विशेष के लिए अच्छा और बुरा दोनों ही हो सकता है जबकि आधुनिकीकरण के अन्तर्गत उस प्रभाव को आवश्यक रूप से अच्छा होना चाहिए। आधुनिकीकरण अधिक व्यापक शब्द है क्योंकि इसके अन्तर्गत उन सभी परिवर्तनों को स्थान दिया जाता है जो उचित हैं, भले ही वह किसी भी समाज के क्यो न हो। पश्चिमीकरण नैतिक दृष्टि से तटस्थ है क्योंकि वह प्रभाव के अच्छे या बुरे होने को व्यक्त नही करता। हो सकता है कि पश्चिमीकरण के कारण कोई समाज उस दिशा मे जाने लगा हो जो उचित नही है जबकि आधुनिकीकरण आवश्यक

रूप से ऐसे ही परिवर्तनों को व्यक्त करता है जो उचित हैं।

कुछ विचारकों ने पश्चिमीकरण को आधुनिकीकरण से भी सम्बोधित किया है लेकिन यह धारणा ठीक नहीं है। आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण दोनों अलग-अलग धारणाएँ हैं। आधुनिकीकरण के अन्तर्गत उन चीजों को भी सम्मिलित किया जा सकता है जो गैर-पश्चिमी है; लेकिन पश्चिमीकरण के अन्तर्गत उन्हीं चीजों को रखा जाता है जो पूरी तरह से पश्चिमी समाजों की देन हैं। इसी प्रकार जैसा कि ऊपर कहा जा
करण से भिन्न है
करण हो जाता
नगरों का नि
नहीं थे। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ समूह ऐसे मिल जायेंगे जिनका रहन-सहन (अन्य शब्दों में पश्चिमीकरण) नगरीय लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ है।

प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण में भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। पश्चिमी देशों के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष सम्पर्क के कारण किसी गैर-पश्चिमी देश में होने वाले परिवर्तनों को आधुनिकीकरण की संज्ञा दी जाती है। डेनियल ल ... ही
उपयुक्तता ... न
पड़ता है। ... ण
साक्षरता क ... नी
अवधारणा भी जुड़ी हुई है। पश्चिमीकरण की अनुपयुक्तता को सिद्ध करते हुए लर्नर ने लिखा है कि यह आवश्यक नहीं कि सभी देश केवल पश्चिमी देशों का ही अनुकरण करें। मध्य-पूर्व के देशों के लोग उन वस्तुओं को स्वीकार नहीं करते जिन पर यह लेबिल लगा हो कि यह वस्तु अमरीका में बनी है। लर्नर के अनुसार, आजकल लोगों की अग्रलिखित मनोभावनायें हैं—'आधुनिक संस्थाएँ चाहिए आधुनिक विचारधाराएँ नहीं; आधुनिक सत्ता चाहिए आधुनिक उद्देश्य नहीं; आधुनिक धन चाहिए आधुनिक जिज्ञासा नहीं; आधुनिक वस्तुएँ चाहिए आधुनिक व्यवसाय भाषा नहीं।'

प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि आधुनिकीकरण से भिन्न पश्चिमीकरण शब्द नैतिक दृष्टि से तटस्थ है। उसका प्रयोग, उसके अच्छे या बुरे होने को सूचित नहीं करता, जबकि आधुनिकीकरण, साधारणतया इस अर्थ में प्रयुक्त होता है कि वह अच्छा है। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वे लोग जो आधुनिकीकरण से प्रभावित है, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर पश्चिम के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जिसे हम पश्चिमीकरण की देन कहते हैं उसका आविष्कार पश्चिमी देशों में ही हुआ हो। बहुत से आविष्कार ऐसे हैं, जो विश्व के अन्य देशों में हुए, फिर भी उनका श्रेय पश्चिमी देशों को जाता है। जैसे बारूद, छापेखाने की मशीन तथा कागज का आविष्कार चीन में हुआ लेकिन इनके विकास का श्रेय निःसन्देह ही पश्चिमी देशों को है। इसी प्रकार दशमलव प्रणाली का उद्भव सर्वप्रथम भारत में हुआ, लेकिन इसका प्रयोग तथा विकास पश्चिमी देशों की ही देन है। शाश्वत गति की अवधारणा (perpetual motion) भी अरबों की देन है जिसका विकास पश्चिमी समाजों में ... । यूरोपवासियों ने शाश्वत गति की में विशेष रुचि लेकर उसका विविध प्रकार से उपयोग किया, यही कारण है

आविष्कार अन्य देशों में हुए, पर पश्चिम में विकसित हु

कि कुछ विचारक यह कहते हैं कि इस धारणा का उद्‌भव पश्चिमी देशों में ही हुआ।

पश्चिमीकरण का अर्थ

साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि 'पश्चिमीकरण एक प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप किसी गैर-पश्चिमी समाज की संस्थाएं, ज्ञान, विश्वास तथा मूल्यों में परिवर्तन स्वाभाविक हो जाता है।' भारतवर्ष में पश्चिमीकरण का स्पष्ट प्रभाव यहाँ की मूलभूत संस्थाओं पर देखा जा सकता है।

प्रो० एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि '150 वर्षों के अंग्रेजी राज्य के फलस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों के लिए अन्यत्र मैंने 'पश्चिमीकरण' शब्द का प्रयोग किया है और यह शब्द प्रौद्योगिकी, सस्थायें, विचार-धारा, और मूल्य आदि विभिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों को आत्मसात् करता है।'

उपर्युक्त परिभाषा के विवेचन से विदित होता है कि पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप भारतीय समाज के निम्नलिखित तत्त्व परिवर्तित हुए हैं :

(1) प्रौद्योगिकी—परम्परागत प्रौद्योगिकी के स्थान पर अब विकसित प्रौद्योगिकी का प्रयोग किया जा रहा है।

(2) संस्थाओं में परिवर्तन—विवाह, परिवार आदि का नया रूप।

(3) विचारधारा—परम्परागत के स्थान पर आधुनिकतम।

(4) सामाजिक मूल्य में परिवर्तन—पहले जिस प्रकार के व्यवहार को अनुचित कहा जाता था आज वही व्यवहार उचित माना जाता है।

प्रो० श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न व्यापक प्रभाव की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप न केवल नयी सस्थाओं का समावेश होता है, बल्कि पुरानी संस्थाओं में भी मूलभूत परिवर्तन हो जाते हैं।' भारतवर्ष के लिए यह स्थिति अधिक स्पष्ट दृष्टिगत होती है। यहाँ की मूलभूत संस्थाएँ ही केवल परिवर्तित नहीं हुई हैं अपितु विभिन्न नयी संस्थाओं का भी प्रादुर्भाव हुआ है, जिसका प्रभाव भारतीय समाज के ऊपर पड़ रहा है।

पश्चिमीकरण का प्रारूप

क्या सभी पश्चिमी देशों का एक जैसा प्रभाव किसी गैर-पश्चिमी देश पर पड़ता है ? उत्तर, नहीं। यद्यपि पश्चिमी देशों में कुछ तत्त्व समान हैं फिर भी इंग्लैण्ड की तुलना में कनाडा, अमरीका आदि का प्रभाव भिन्न होगा। साथ ही ये सभी देश बाह्य आकृति में एक दीखते हुए भी एक नहीं है। वैसे जब हम भारतवर्ष के ऊपर पश्चिमीकरण के प्रभाव की चर्चा करते हैं तो हमारा अभिप्राय अंग्रेजी आदर्शों से अधिक होता है जो शुद्ध रूप से इंग्लैण्ड का है। यद्यपि यह बात भी अपने स्थान पर

[illegible]

उसकी अविश्वसनीय जटिलता इस बात में देखी जा सकती है कि पश्चिमीकरण के विभिन्न पक्ष कभी तो एक होकर किसी प्रक्रिया विशेष को पुष्ट करते हैं, कभी एक

दूसरे के विपरीत पड़ते हैं और कभी-कभी एक-दूसरे से अलग रहते हैं।' अतः यह सिद्ध हुआ कि पश्चिमीकरण से तात्पर्य यद्यपि पश्चिमी देशों के प्रभाव से होता है फिर भी सभी पश्चिमी देशों का समान प्रभाव किसी गैर पश्चिमी देश पर नहीं पड़ता। इसके साथ-साथ यह बात भी विशेष उल्लेखनीय है कि यह आवश्यक नहीं है किसी पश्चिमी देश के समस्त प्रभावों को तो एक देश स्वीकार कर ले तथा अन्य को अस्वीकार कर दे। 'वास्तव में पश्चिम से कुछ बातें ग्रहण की गयीं और कुछ अस्वीकार कर दी गयी, और ग्रहण की गयी बातों में भी भारत में रूपान्तर हुआ। जहाँ अंग्रेजी संस्कृति और जीवन-शैली के कुछ तत्त्वों ने सभी भारतीयों को आकर्षित किया, वहीं अंग्रेजी संस्कृति के विभिन्न पक्ष भारतीय जनता के विभिन्न समुदायों को विशेष रूप से आकर्षक लगे।' पश्चिमीकरण का प्रभाव विभिन्न देशों पर पड़ा है, पड़ भी रहा है फिर भी यह आवश्यक रूप से कोई चेतन प्रक्रिया नहीं होती। हो सकता है कि कोई समाज अचेतन अवस्था में उसके प्रभाव से प्रभावित हो रहा हो। डा० श्रीनिवास के शब्दों में 'यद्यपि अंग्रेजी संस्कृति के तत्त्वों का चुनाव-विस्तार और रूपान्तर होता अवश्य है, फिर भी यह कहना आवश्यक होगा कि वह कोई सचेत प्रक्रिया नहीं है जिसमें प्रत्येक चरण में बुद्धिसंगत चुनाव हो पाता हो।' अंग्रेजों का आपसी व्यवहार भी समान नहीं रहा। उनमें भी स्पष्ट श्रेणियाँ, व्यवहार-प्रतिमान के आधार पर दृष्टिगत होती है। कोहन ने लिखा है कि-'बनारस, जैसी दूर जगह में भी एक अंग्रेजी समाज नहीं, कई अंग्रेजी समाज थे। बुनियादी विभाजन अफसरों और गैर-अफसरों के बीच था। भारत और इंग्लैण्ड पर प्रभाव की दृष्टि से और अधिकार तथा पद की दृष्टि से, उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, अफसरों का समुदाय कहीं अधिक भारी था। असैनिक अफसर का पद और वेतन आमतौर पर सैनिक अफसर से ज्यादा होता था।' इस भिन्नता के कारण व्यवहार का आदर्श भी अलग-अलग हुआ करता था।

पश्चिमीकरण की विशेषताएँ

उपर्युक्त पश्चिमीकरण की व्याख्या के आधार पर पश्चिमीकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती है—

(1) एक व्यापक अवधारणा—पश्चिमीकरण अन्य मिलते-जुलते शब्दों से अधिक व्यापक है। इसके अन्तर्गत उन सभी परिवर्तनों को व्यक्त किया जाता है जो किसी समाज के मूल्यों, संस्थाओं, प्रौद्योगिकी तथा विचारधारा में पश्चिमी समाज के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है। मूल्य में परिवर्तन किसी समाज के व्यवहार-प्रतिमान में परिवर्तन को व्यक्त करता है। ज्योंही किसी समाज का सामाजिक मूल्य बदलता है उसी के साथ-साथ लोगों के व्यवहार करने के ढंग में परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। एक ही व्यवहार जो अभी तक अवांछनीय रहा है-उसे वांछनीय माना जा सकता है। इसी प्रकार संस्था तथा विचारधारा में परिवर्तन के कारण सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन स्वाभाविक हो जाता है। इसी प्रकार भौतिक संस्कृति भी पश्चिमीकरण के कारण प्रभावित होती है। इन्हीं सब कारणों से कहा जाता है कि पश्चिमीकरण एक व्यापक अवधारणा है।

(2) नैतिक तटस्थता—पश्चिमीकरण का सम्बन्ध अच्छे या बुरे परिवर्तन को स्पष्ट करके किसी एक से अपने को सम्बन्धित करना नहीं है अपितु इसका सम्बन्ध न परिवर्तनों को व्यक्त करने से है। यह हो सकता है कि वही परिवर्तन किसी

एक समाज के लिए उचित हो तो वही प्रभाव दूसरे समाज के लिए अनुचित हो। चूंकि पश्चिमीकरण समस्त परिवर्तनों तथा प्रभावों से सम्बन्धित है जो पश्चिमी संस्कृति के कारण हो रहा है उसका सम्बन्ध इसके अच्छे या बुरे होने से नही है, यही कारण है कि यह कहा जाता है कि पश्चिमीकरण नैतिक दृष्टि से तटस्थ है।

(3) एक वैज्ञानिक अवधारणा—विज्ञान की यह विशेषता है कि उसमें मूल्य निर्णय का समावेश नहीं होता। मूल्य निर्णय से दूर यदि कोई अध्ययन है तो उसे वैज्ञानिक अध्ययन कहेंगे। अभी ऊपर हम लोगों ने देखा कि पश्चिमीकरण नैतिक रूप से तटस्थ है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि उसमें मूल्य निर्णय का समावेश नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि यह एक वैज्ञानिक अवधारणा है।

(4) एक निश्चित प्रारूप की कमी—पश्चिमीकरण का सम्बन्ध किसी भी पश्चिमी समाज के उस प्रभाव से है जो किसी गैर-पश्चिमी समाज पर पड़ रहा है। भारतवर्ष में पश्चिमीकरण के प्रभाव से तात्पर्य इंग्लैण्ड के प्रभाव से लगाया जाता था जबकि आज हम भारत के ऊपर अमरीका तथा रूस के प्रभाव को भी अधिक मात्रा में पा रहे हैं। इन सभी पश्चिमी देशों का प्रभाव भिन्न-भिन्न हुआ करता है। यही कारण है कि पश्चिमीकरण का प्रभाव क्या पड़ेगा, इसके बारे में निश्चित मत नहीं दिया जा सकता।

(5) एक सामान्य संस्कृति की कमी—पश्चिमीकरण किसी एक संस्कृति का प्रभाव न होकर विभिन्न संस्कृतियों (जितने भी पश्चिमी देश हैं उन सबकी अलग-अलग संस्कृति है) का प्रभाव है। इस स्थिति के कारण उस प्रभाव की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती जो पश्चिमीकरण के कारण पड़ रहा है। कुछ पश्चिमी देश भी ऐसे हैं जहां भौतिक संस्कृति का विकास अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। अतः उससे एक आदर्श परिवर्तन का प्रारूप मिल सकेगा यह अन्तिम रूप से नहीं कहा जा सकता। कुछ पश्चिम के देश ऐसे अवश्य हैं जो इस दिशा में आदर्श का काम कर सकते हैं। एम० एन० श्रीनिवास ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारत में सामाजिक परिवर्तन के लिए जिस पश्चिमीकरण की बात की जाती है उसे ब्रिटिश संस्कृति का प्रभाव समझना चाहिए।

(6) चेतन तथा अचेतन प्रभाव—पश्चिमीकरण का कुछ प्रभाव तो चेतन है जबकि अन्य अचेतन। भारतवर्ष में ही पश्चिम के अधिकांश व्यवहार ऐसे है जिसे लोग अचेतन रूप मे अपनाते जा रहे हैं। कुछ व्यवहार ऐसे हैं जिसे जान-बूझ कर लोग स्वीकार करते हैं। साधारणतया अचेतन प्रभाव सदैव अच्छे नहीं होते।

(7) जटिल तथा बहुस्तरीय प्रत्यय—पश्चिमीकरण की प्रक्रिया यद्यपि स्पष्ट है फिर भी यह जटिल है। इसका प्रमुख कारण इसका बहुस्तरीय प्रत्यय है। जैसा कि पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है पश्चिमीकरण का प्रभाव कई स्तरों में परिलक्षित होता है। एक ही समाज के विभिन्न पहलुओं पर इसका प्रभाव भी अलग-अलग पाया जाता है। कुछ लोग इसके द्वारा निश्चित व्यवहार प्रतिमान को आसानी से अपना लेते हैं जबकि अन्य ऐसा करने मे किन्ही कठिनाइयों को अनुभव करते हैं। जहाँ गाँवों के लोग पश्चिमी व्यवहार को अपना रहे हैं वहीं पर बड़े-बड़े नगरों में भी इसके विरोधी मिल जायेंगे। इन्हीं सब कारणों से कहा जाता है कि यह एक जटिल प्रत्यय है।

पश्चिमीकरण का प्रभाव

भारतवर्ष के ऊपर पश्चिमीकरण का प्रभाव अधिक मात्रा में पड़ा है। सम्पूर्ण भारतीय संरचना पश्चिमीकरण से ओत-प्रोत है। प्रत्येक भारतीय संस्था के ऊपर पश्चिमीकरण के प्रभाव को देखा जा सकता है। अब हम उन प्रभावों का उल्लेख करेंगे जो पश्चिमीकरण के कारण यहाँ पड़ा है।

(1) मानवतावाद का विकास—पश्चिमीकरण का सबसे मूलभूत प्रभाव मानवतावाद (humanitarianism) का विकास है। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'मानवतावाद का अर्थ है बिना किसी धर्म, जाति, यौन, आयु तथा आर्थिक स्थिति का ध्यान किये सभी लोगों का कल्याण करना।' पहले कानून का रूप इस प्रकार का था कि हिन्दू, मुसलमान तथा इन्हीं जातियों के विभिन्न वर्गों के लोगों को एक ही अपराध के बदले विभिन्न प्रकार के दण्ड का विधान था। लेकिन अंग्रेजों ने जो कानून बनाये उनमें सभी व्यक्तियों के लिए समान अपराध के लिए समान दण्ड का विधान था। डा० श्रीनिवास ने लिखा है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजों द्वारा किये गये बहुत से सुधारों की जड़ में मानवतावाद ही था। अंग्रेजी दीवानी कानून, दण्ड कानून, और क्रियाविधि कानून लागू करने से असमानताएँ समाप्त हो गयी जो हिन्दू व इस्लामी न्यायशास्त्र का अंग थीं। उदाहरण के तौर पर अंग्रेजों के आने के पूर्व हिन्दू कानून में दण्ड का विधान जाति के अनुरूप था। जाति की उच्चता और न्यूनता के क्रम में दण्ड का क्रम भी बदलता था भले ही अपराध एक ही प्रकार का क्यों न हो। इस्लामी कानून में किसी गैर-मुसलमान की साक्षी को अवैधानिक माना जाता था। हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी संहिताओं को दैवी मानते थे, यद्यपि प्रारम्भिक हिन्दू विधिशास्त्रियों ने लोकप्रचलित कानून को पर्याप्त महत्त्व दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग्रेजों के आने के पहले यहाँ की सामाजिक व्यवस्था में मानवतावाद के स्थान पर 'द्विजवाद' को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है जिसके अन्तर्गत उच्च जातियों को समाज में अधिक सहूलियतें प्राप्त थीं। लेकिन

इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमीकरण ने मानवतावाद की प्राप्ति के लिए अन्य दो तत्त्वों को भी लोकप्रिय बनाया जिससे समाज में समानता तथा धर्म-निरपेक्षता का विकास भी सम्भव हो सका।

मानवतावाद के परिणामस्वरूप ही भारतीय समाज में प्रचलित अनेक

लिखा है कि अंग्रेजों की तीव्र आलोचना के कारण हिन्दू धर्म की सैद्धान्तिक और

समस्याओं व कुरीतियों को हटाने के मार्ग

संस्थागत दोनों स्तरों पर फिर से व्याख्या हुई और जाति तथा अस्पृश्यता के बारे में उच्च वर्गों का एक नया दृष्टिकोण उभरा।

(2) निश्चित अधिकारों की चेतना का विकास—अंग्रेजों के शासन-काल से पहले कानून तथा अपने अधिकारों के बारे में लोग जागरूक नहीं थे। समाज के उच्च वर्ग के लोग ही केवल अपने अधिकारो के बारे में सोच सकते थे। लेकिन अंग्रेजी

ए किया गया।
-प्राप्ति के बाद
य भी अंग्रेजी
लोगों विशेषकर
ह न
ल
जी

शासन ने पाश्चमी विचारों को भारतीयों के बीच अधिक लोकप्रिय बनाया। लोग अपने अधिकार के प्रति इसलिए भी जागरूक नही हो पाते थे क्योंकि न्याय प्राप्त करना अधिक कठिन था। स्पीअर ने लिखा है कि अदालतें जनता के लिए ऐसी मशीन में सिक्का डालने के समान थी जिसकी कार्य-प्रणाली आदमी के समझ में नहीं आती थी और जिससे न्याय के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु के निकल आने की सम्भावना थी। डा० श्रीनिवास ने लिखा है कि दास-प्रथा के अन्त मे और कम से कम सिद्धान्त की दृष्टि ने धर्म, नस्ल और जाति के भेदभाव बिना सबके लिए नये स्कूलों व कॉलिजों को खोलने मे एकता के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति हुई। इस सिद्धान्त मे नये आर्थिक अवसर भी सबके लिए थे, यद्यपि परम्परा में बड़े-बड़े नगरों और तटवर्ती क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को दूसरों की अपेक्षा कहीं अधिक सुविधाएँ थी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्येक नागरिक को जो मूलभूत अधिकार प्राप्त होने चाहिए उसके बारे मे जागरूकता पश्चिमीकरण की ही देन है।

(3) प्रथाओं पर प्रभाव—भारतवर्ष अभी भी अपनी प्रथाओं (customs) का अनुगामी है, लेकिन अब उसमें वह कठोरता नही रही जो पहले थी। इसका प्रमुख कारण पश्चिमीकरण का प्रभाव है। अब किसी व्यवहार को अपनाने के पहले व्यक्ति यह देख लेता है कि वह व्यवहार उसके हित मे कहाँ तक है। वह आँख बन्द कर किसी व्यवहार को नही अपनाता। जैसे भारतवर्ष में अधिकांश लोग पहले कपड़ा उतारकर, जमीन पर बैठकर भोजन करते थे; लेकिन आज जिन परिवारों में वैसा होता है उन्हें रूढ़िवादी तथा पिछड़ा हुआ कहा जाता है। अब तो कुर्सी मेज पर बैठकर भोजन करना अधिक श्रेयस्कर माना जाता है। अब स्टेनलेस स्टील के बर्तन प्रतिष्ठा के सूचक माने जाते हैं, पहले लोहे के बर्तन मे पानी रखना भी हेय दृष्टि से देखा जाता था। अब बड़े-बड़े कस्बों और शहरों मे शिक्षित और पश्चिमीकृत समूह अधिकाधिक मेजों पर खाना पसन्द करते हैं। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि भारत में फर्श पर बैठकर भोजन करने की परम्परा थी। उच्च जातियाँ विशेषकर ब्राह्मणों में भोजन एक धार्मिक कृत्य था। भोजन बनाते समय स्त्रियों का कर्मकाण्ड की दृष्टि से पवित्र होना आवश्यक था, क्योंकि भोजन को सबसे पहले पारिवारिक देवता को भोग चढ़ाया जाता था। लेकिन अब इस व्यवस्था में परिवर्तन हो रहा है। परिवर्तन की सबसे स्पष्ट विशेषता है नयी प्रविधि—कुर्सियाँ और मेज, स्टेनलेस स्टील के बर्तन।

इसे लोग इसलिए अपना रहे हैं क्योंकि यह अधिक प्रतिष्ठासूचक तथा आधुनिकीकृत है। किस आहार को स्वीकार करना है और किससे बचना है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस आहार में पौष्टिकता का अंश कितना है। अब उसी वस्तु का उपयोग अधिक से अधिक लोग करना चाहते हैं जो स्वास्थ्य-वृद्धि में सहायक है। यह भी पश्चिमीकरण की देन है। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि *भोजन के सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण उभरने लगा है, उसे इस दृष्टि से अधिकाधिक देखा जाने लगा है कि उससे स्वास्थ्य और कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है या नहीं; और इस दृष्टि से उस पर विचार घटता जाता है कि वह परम्परा से सम्मत है अथवा वर्जित।* इन नयी-नयी चीजों के प्रयोग के कारण अब पारम्परिक कर्मकाण्डो को लोग धीरे-धीरे छोड़ रहे

के

को जन्म दिया जिस विशिष्ट वर्ग [illegible] गया। इस वर्ग की विशेषता यह है कि पश्चिम के प्रति इसका झुकाव अधिक है। पश्चिमी समाजों मे जिस व्यवहार-प्रतिमान को लोग उचित बतलाते हैं उसी व्यवहार प्रतिमान को यह वर्ग भी उचित कहता है। अपने ही समाज की तथा गैर-पश्चिमी किसी भी समाज की सभी बातों तथा सुझावों को इस वर्ग के लोग स्वीकार नही करते। इसके विपरीत पश्चिम के उन सभी सुझावों को ये लोग ग्रहण करते हैं—भले ही उसका परम्परागत व्यवहार-प्रतिमान से द्वन्द्व हो। इस नये विशिष्ट वर्ग ने पश्चिमी व्यवहार-प्रतिमान तथा रहन-सहन के ढंग का भली-भाँति अनुकरण कर उसे अन्य लोगों तक पहुँचाने का कार्य किया है। चूंकि पश्चिमी व्यवहार अधिकाश मात्रा में अब भारत में भी उचित कहा जाता है और यह वर्ग उसी व्यवहार-प्रतिमान का प्रसार करता है अतः इस विशिष्ट वर्ग को भी आदरणीय स्थान समाज मे प्राप्त है। एडवर्ड शिल्स ने लिखा है कि जिस भाँति पण्डितों ने अंग्रेजो का अभिनन्दन किया, यद्यपि उन्हे वैसे उच्चतम स्थान नहीं मिले थे जैसा कि उन्हे अंग्रेजो के पहले प्राप्त था, उसी प्रकार आधुनिक शिक्षा-प्राप्त ब्राह्मणों ने सिविल सर्विस मे अंग्रेजो की सेवा की। बहुत दिनों तक मद्रासी और बगाली ब्राह्मण ही अंग्रेजों की सेवा में अग्रणी थे और वे भारतीय सिविल सर्विस मे नियुक्त भारतीयों में प्रमुख थे। नये अभिजात या विशिष्ट वर्ग की रचना बदलती रहती है। यह अन्तर स्थान और समय दोनो के सन्दर्भ मे देखा जा सकता है। जिसे 1934 में पिछड़ा हुआ कहा जाता था वही 1964 में अभिजन कहा जाने लगा। *वक्त के साथ-साथ 'पिछड़े हुए' कहलाने* वाले जनसमुदायों का भी अधिकाधिक पश्चिमीकरण हुआ है। पारम्परिक अभिजन तथा पश्चिमीकृत अभिजन के बीच कुछ निरन्तरता है। यह निरन्तरता दोहरे अर्थ में मौजूद है—प्रथम पारम्परिक अभिजन के कुछ सदस्यों अथवा समुदायों ने अपने आपको नये अभिजन के रूप मे ढाल लिया और दूसरा—पुराने और नये धन्धों में कुछ निरन्तरता है। बम्बई के पारसी पश्चिमीकरण से अधिक लाभान्वित हुए और उन्होंने नयी परिस्थिति के अनुकूल सभी पेशो को चुना यहाँ तक कि उन्होंने शराब का व्यापार भी प्रारम्भ कर दिया। इस स्थिति के कारण वे समाज में उच्च माने जाने लगे।

मुस्लिम समूह। व्यापार आदि में अब सभी जातियाँ भाग लेने लगी। नये अवसरों का लाभ केवल वे लोग ही नही ले पाते थे जिनका परम्परागत धन्धा व्यापार था। जैसे गुजरात के बहुत से किसानों ने व्यापार भी करना शुरू किया। उड़ीसा के वोअड कलवार भी ऐसे ही परिवर्तनो को व्यक्त करते है। 1857 के भारतीय विद्रोह के पहले, बंगाल की सेना में अवध के ब्राह्मणो और राजपूतों का जोर था। किन्तु विद्रोह में इन दोनों समूहों के कार्यकलाप के कारण, नयी भारतीय सेना में उन्हें नही रखा गया और पंजाब से हिन्दू तथा मुसलमानो को, उसी क्षेत्र से अब सिखों को, सीमान्त प्रदेश से पठानों और नेपाल से गुरखों को लाया गया। जाट, अहीर, डोगरा तथा कुर्ग कुछ अन्य समूह थे जिन्हें सेना मे भर्ती किया गया। स्पीअर ने पश्चिमीकरण के इस प्रभाव की चर्चा करते हुए लिखा है कि यद्यपि कुल सैनिकों में से बहुत थोड़े ही विदेश गये, पर अपने देहाती घरों से तो सभी दूर चले गये, अनुशासन तथा नयी विचित्र आदतों के अधीन हुए और बहुतों को व्यापार और आधुनिक विधियाँ सीखने को मिली। परम्पराबद्ध समाज के लिए यह अपने आप में एक बड़ा धक्का था। ऑफिसर श्रेणियों और बढ़े हुए अधिकारी तन्त्र में मध्यम वर्गों के लिए बड़े अवसर खुले जिनसे उनमें जिम्मेदारी तथा आत्मसम्मान का भाव बढ़ा।

(5) पिछड़े वर्ग के कल्याण के लिए आन्दोलन—पश्चिमीकरण के प्रभाव के कारण जो नया वर्ग अवतरित हुआ और जिसे नया अभिजात वर्ग कहा गया उसने पिछड़े वर्ग के कल्याण के लिए अधिकाश कार्यक्रम कार्यान्वित किये। परम्परागत अभिजात वर्ग से नया अभिजात वर्ग इस आधार पर भिन्न था कि जहाँ परम्परागत अभिजात वर्ग पिछड़े लोगों को उसी रूप में रखना चाहता था वहीं पर नया अभिजात वर्ग उन लोगों की हालत को पूर्णरूपेण सुधारना चाहता था। इस आन्दोलन के कारण अब निम्न जातियाँ भी नये अवसरो को प्राप्त करना चाहती थीं और भविष्य मे समानता के आधार पर व्यवहार की कामना करती थी। इस स्थिति ने निम्न जातियों को विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ तथा विशेषाधिकार दिलाने में मदद की। पिछड़े वर्ग के कल्याण के लिए राष्ट्रीय स्तर पर एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसमें ईसाई मिशनरियों का हाथ प्रमुख था। एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'पिछड़े वर्ग के आन्दोलनों में सभी जगह थोड़ा बहुत ब्राह्मण-विरोध मौजूद रहा; इसे सारे दक्षिण भारत, विशेष कर मद्रास में राजनीतिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति भी मिली। हरिजन आन्दोलन पिछड़े वर्ग आन्दोलन के एक अंग के रूप में ही प्रारम्भ हुआ, यद्यपि समय के साथ उसका अपना अलग रूप निकल आया।'

(6) जातिगत दूरी की कमी—जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्नीकरण की प्रक्रिया विशेष रूप से स्पष्ट है जिसके कारण विभिन्न जातियों के बीच दूरी स्पष्ट होती है। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने इस दूरी को कम करने का प्रयत्न किया। पहले ब्राह्मण शूद्रों की छाया से भी घृणा करते थे लेकिन पश्चिमीकरण के कारण अब ब्राह्मण ही शूद्रों की स्थिति को सुधारने के लिए कार्यक्रम बनाने लगे। इसी जातिगत दूरी की कमी के कारण ही पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए जो आन्दोलन प्रारम्भ

किये गये थे उन्हें सफलता मिल पायी। अब उच्च और निम्न जातियों के बीच संरचनात्मक दूरी होते हुए भी वह खाई नहीं रही जो पहले थी। इसी स्थिति के कारण निम्न जातियों में सामाजिक गतिशीलता देखने को मिलने लगी। प्रोफेसर एम० एन० श्रीनिवास के शब्दों में, 'यद्यपि पारम्परिक और नये अभिजनों के एक हो जाने के कारण उच्च और निम्न जातियों के बीच सरचनात्मक नहीं तो सांस्कृतिक दूरी बढ़ गयी, किन्तु परोक्ष रूप में उसके कारण पिछड़े वर्ग-आन्दोलन को प्रेरणा मिली, जिसका उद्देश्य है जातियों के बीच दूरी को मिटाना। यह स्वाभाविक है कि जहाँ पुराने और नये अभिजन का मिश्रण सबसे अधिक था वहीं पर आन्दोलन सबसे प्रबल हुआ और यह बात विचार करने योग्य है कि उच्च और निम्न जातियों के बीच चौड़ी आर्थिक, सांस्कृतिक और संरचनात्मक खाई का होना, एक बार नयी पश्चिमी धाराओं के लिए द्वार खुल जाने के बाद, निम्न जातियों की द्रुत गतिशीलता में सहायक होता है। यह भी सम्भव है कि भक्ति-आन्दोलन ने भी इस पर गहरी छाप छोड़ी हो। पश्चिमीकरण ने उस स्थिति को जन्म दिया जिसके कारण निम्न जाति अपनी प्रस्थिति में सुधार करके विशिष्ट वर्ग में गिनी जाने लगी।

(7) मुस्लिम सम्प्रदाय पर प्रभाव—कट्टरवादी मुस्लिम भी पश्चिमीकरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। मुसलमान चाहे वे कितने ही अमीर क्यों न हों उनके साथ एक द्विज हिन्दू खान-पान का सम्बन्ध नहीं रखता था। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक आधार पर उनकी भी वही स्थिति थी जो अस्पृश्यों की स्थिति सवर्ण हिन्दू के सन्दर्भ में थी। अतः पश्चिमीकरण से प्रभावित होना मुसलमानों के लिए अधिक स्वाभाविक था। पश्चिमीकरण के कारण इस्लाम के आधुनिकीकरण में मदद मिली। भारत में इस्लाम के अग्रणी चिन्तक सर सैयद अहमद खाँ के चिन्तन में सहिष्णुता और अलगाव सह-अस्तित्व और पृथकता एक-दूसरे के साथ-साथ मौजूद हैं। हिन्दुओं द्वारा मुसलमान आत्मसात् न कर लिए जायें, इस कारणवश उन्होंने अंग्रेजों को सर्वाधिक समर्थन का वचन दिया। 1885 में जब कांग्रेस की स्थापना हुई तो सर सैयद ने मुसलमानों को इससे अलग रहने को कहा क्योंकि स्वाधीन भारत में बहुमत का राज होगा और मुसलमान अल्पमत में हैं। एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'सर सैयद अहमद खाँ पहले पश्चिमीकृत मुसलमान थे, जिन्होंने पृथक्तावादी विचारधारा को अभिव्यक्त किया, जिसे कवि दार्शनिक मुहम्मद इकबाल ने और भी आगे बढ़ाया। तीक्ष्ण-बुद्धि मुहम्मद अली जिन्ना के हाथों से उस विचारधारा को पाकिस्तान के रूप में राजनीतिक वास्तविकता का जामा मिला।' भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भी मुसलमान थे, जिनमें से कुछ अत्यन्त पश्चिमीकृत थे, पर कुल मिलाकर देवबन्द स्कूल के नेताओं जैसे परम्परावादी मुसलमानों ने ही भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन किया। पश्चिमीकरण के कारण भारतीय मुसलमानों के खान-पान तथा रीति-रिवाज में कुछ परिवर्तन परिलक्षित हुए।

(8) परम्पराओं पर प्रभाव—भारत परम्परा-प्रधान देश रहा है। पश्चिमीकरण का प्रभाव भारतीय परम्पराओं पर भी पड़ा है। लेकिन इसके कारण यहाँ की परम्परा समूल रूप से नष्ट नहीं हो सकी। एक नयी स्थिति अवश्य अवतरित हुई है, और वह है नयी पश्चिमी प्रौद्योगिकी के आविष्कारों के साथ-साथ परम्परागत [illegible] का चलन। यद्यपि इन परम्परागत विचारों में भी अब श्रद्धा कम होती जा

रही है । अब खेतीवाड़ी के लिए हल के स्थान पर ट्रैक्टर का प्रयोग अधिकांश किसान करने लगे हैं । फिर भी ट्रैक्टर की पूजा भी उसी प्रकार सिन्दूर, मिष्ठान और तेल, फूल के साथ की जाती है, जैसा कि हल और बैल की पूजा के लिए किया जाता रहा है । जो व्यक्ति ट्रैक्टर चलाता है वह मन्त्र से विभिन्न बीमारियों को दूर करने

नहीं हो रहा है । दोनों प्रकार के व्यवहार साथ-साथ चल रहे हैं । श्रीनिवास ने लिखा है कि 1952 में मैसूर के एक गाँव में उन्होंने बुलडोजर चालक को देखा । उसे आजीविका के लिए बुलडोजर चलाने और मनोरंजन के लिए जादू-टोने के खेल दिखाने में कोई असंगति नहीं दीखती थी । यहाँ यह कहना उचित होगा कि उपर्युक्त उदाहरण विचारणीय होने पर भी न तो अनोखा है और न ही असाधारण । कारखानों में काम करने वाले भारतीय मजदूर जो आमतौर पर अत्यन्त अल्पशिक्षित हैं, अपने धार्मिक ऐन्द्रजालिक रुझान उस औद्योगिकी तक ले जाते हैं जिसके बीच वे काम करते हैं । इस भाँति यह सम्भव है कि कोई छापेखाने का दिन का कार्य प्रारम्भ करने के पहले अपनी मशीन पर रोली का टीका लगाये । भारतवर्ष में दशहरे के धार्मिक त्योहार के अवसर पर अपने धन्धों के औजारों की सफाई करने और उनके आगे सिन्दूर, धूप तथा फूल चढ़ाने का आम रिवाज है । यह न केवल गाँव के बढ़ई, सुनार और कुम्हार के बारे में, बल्कि मिलों और कारखानों के शहरी मजदूरों के बारे में भी सही है । मोटरों को धोकर उन पर सिन्दूर लगाया जाता है, उन्हें फूलों के हारों से सजाया जाता है । सिलाई की मशीनों, टाइपराइटरों और पुस्तकों के साथ भी यही होता है । अतः ज्ञात हुआ कि यद्यपि पश्चिमीकरण के कारण बुद्धिवादी तथा वैज्ञानिक दृष्टि को स्वीकार किया गया है फिर भी धार्मिक विश्वास अभी वैसे ही परम्परावादी हैं । धार्मिक पुस्तकों की छपाई अब उन्हीं मशीनों (छापाखानों) द्वारा होती है जो नास्तिक तथा अश्लील साहित्य को भी छापती है । फिर भी धार्मिक पुस्तकों के पढ़ने वाले उसमें वही आस्था रखते हैं जो आस्था इन मशीनों के बनने के पहले रखी जाती थी ।

(9) **राजनीतिक, प्रशासनिक तथा कानूनी एकीकरण**—पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप राजनीतिक, प्रशासनिक तथा वैधानिक एकीकरण (political,

रकार ने सर्वप्रथम पत किये अलग- सकती थी ।

अतः अंग्रेजी शासन-काल ने विभिन्न राज्यों के ऊपर अपना नियन्त्रण स्थापित करके शक्ति को केन्द्रित कर इन गड़बड़ियों को दूर किया । प्रो० श्रीनिवास के शब्दों में, 'भारत के राजनीतिक और प्रशासनिक एकीकरण ने ऐसी प्रक्रिया को जन्म दिया जो

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में भी चालू है जिसके लिए संचार-साधनों का विकास, औद्योगीकरण का प्रारम्भ और कृषि-सम्बन्धी विकास आवश्यक था। स्थानमूलक और सामाजिक गतिशीलता को न केवल विशिष्ट वर्ग बल्कि देहातों के गरीब लोगों के लिए भी बढ़ा दिया और परवर्ती राष्ट्रव्यापी पश्चिमीकरण की नीव डाली। जिन लोगों ने पश्चिमीकरण की प्रक्रिया मे प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया, जैसे—नयी शिक्षा-संस्थाओं मे शिक्षा, पेशों में प्रवेश, सरकारी नौकरियां, बड़े-बड़े नगरो मे व्यापार आदि। इससे अधिक सख्या में लोगों का पश्चिमीकरण माध्यमिक अर्थ में हुआ, जैसे—अस्पताल में रोगियों का, अदालतों में मुकदमेबाजों का और भारतीय भाषाओं मे समाचार-पत्रों और पुस्तकों के पाठकों का। भौगोलिक दृष्टि से तटवर्ती क्षेत्रो के निवासी, विशेषकर तेजी से बढने वाले बन्दरगाही नगरों के पास रहने वाले प्रारम्भिक पश्चिमीकरण के लिए बड़ी अनुकूल परिस्थिति मे थे। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के आसपास के क्षेत्रो के पश्चिमीकरण का अनुभव पंजाब जैसे अन्तर्वर्ती क्षेत्रो से सौ वर्ष या उससे भी अधिक पहले से मिला। कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के तीन प्रेसिडेन्सी नगरो ने भारतीय जनता के उन अशो को आकर्षित किया जिनमें शुरू से ही नये व्यावसायिक, शैक्षणिक तथा अन्य अवसरो के प्रति अधिक सजगता थी।

(10) सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रभाव—सास्कृतिक तथा राजनीतिक क्षेत्र मे पश्चिमीकरण ने राष्ट्रवाद की भावना को विकसित किया। भारतीय लोगों मे अपने समाज, कर्तव्य तथा अधिकार के बारे मे अधिक जागरूकता देखी जाने लगी। लेकिन अंग्रेजी सरकार ने राष्ट्रवाद को भावना मे गतिरोध लाने के लिए साम्प्रदायिकता त[illegible] को भी पनपाया ताकि वे अपने शासन की अवधि को बढ़ा सके।

प्र[illegible] पश्चिमीकरण [illegible] वाद, तीव्रतर [illegible] की प्राप्ति हो सके, इसीलिए उन्होंने पश्चिमी ढंग के स्कूल व कालजो की स्थापना कर विभिन्न प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं का प्रयोग शुरू किया। जहाँ एक ओर अंग्रेजो ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया है, वहीं पर वे स्वयं भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित हुए है। फाइकेनबर्ग ने लिखा है कि भारत में अंग्रेजो का भारतीयकरण हुआ और वे भी भारत की अनेक जातियों की भांति रहने लगे। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'धर्म प्रचारको का समूह उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे बहुत छोटा और महत्त्वहीन था। किन्तु शताब्दी के अन्तिम वर्षों में उनका महत्त्व निश्चित रूप से बढ़ता गया। धर्म जो संस्कृति का सबसे प्रमुख अग होता है, वह भी पश्चिमीकरण से प्रभावित हुआ। धर्म के प्रति आस्था होते हुए भी धर्म को जटिलता कुछ समाप्त होती पायी गयी। नियतिवादी साहित्य का प्रभाव भारतीय समाज पर अधिक था। अब उसके स्थान पर प्रज्ञावादी साहित्य का बोलबाला बढ़ा। ईसाई धर्म की 'प्रोटेस्टेन्ट धार्मिक नीति' का प्रभाव भारतवर्ष मे भी बढ़ा जिसके कारण भौतिक सस्कृति मे विकार की बात आरम्भ की गयी। अब वहाँ भी अमरत्व के लिए धन को सर्वाधिक महत्त्व का माना गया। विभिन्न धर्मों के समुदायों मे भेदभाव की बढ़ोत्तरी भी देखी गयी। जहाँ एक ओर पश्चिमीकरण ने सास्कृतिक पहलू को प्रभावित [illegible] वहीं पर अंग्रेज भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित हुए। जो अंग्रेज भारत आये सामाजिक दूरी जाति के आधार पर देखी जाने लगी जो पूर्णतया भारतीय [illegible] में भी।

विशेषता है। उसी प्रकार अंग्रेजों का अन्य-धर्मों के प्रति झुकाव भी अंग्रेजों के लिए भारतीय देन कहा जा सकता है। पश्चिमीकरण का लोगो की भाषा तथा बोली पर प्रभाव पड़ा है। भारतीय भाषाओं मे अधिकांश अंग्रेजी के शब्द प्रयोग किये जाते है। उसी प्रकार क्षेत्रीय बोलियों मे भी अंग्रेजी के शब्दो का प्रयोग उस बोली का एक अंग बन गया है। इसी प्रकार भारतीय साहित्य के ऊपर पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव को भी देखा जा सकता है। अस्तित्ववाद तथा रोमांचवाद (Existentialism and Romanticism) का प्रभाव भारतीय साहित्य के ऊपर पड़ा है। अब अधिकाश

स आतप्रोत ह। आधुनिक कला (Modern Art) पर समूल रूप से पाश्चमो समाज का प्रभाव है। इसी प्रकार भवन-निर्माण कला के क्षेत्र मे भी हम पाते है कि डिजाइन पश्चिम के होते है।

(11) रहन-सहन पर प्रभाव—अब रीति-रिवाज भी परम्परागत नही रहे। पुरुष और स्त्री दोनों के व्यवहारो का यदि विवेचन किया जाय तो विदित होगा कि रीति-रिवाजों मे परिवर्तन तेजी के साथ हो रहा है। पहले स्त्रियों के व्यवहारों को लिया जाय तो मालूम होगा कि अब उनका कोई भी व्यवहार परम्परागत नहीं रहा। विशेपकर जो स्त्रियाँ पढी लिखी हैं उनका व्यवहार पूरी तरह से पश्चिमीकृत हो गया है जैसे साडी को नये ढंग से पहनना, पैन्ट, लुंगी तथा टॉपलेस वस्त्रों का अधिकाधिक मात्रा मे प्रयोग। स्त्रियो का बाल न रखना, बडो के साथ आदरपूर्वक बात न करके बराबरी का दर्जा देना, घर के काम-काज मे रुचि न लेना, सौन्दर्य प्रसाधनों का अधिकाधिक मात्रा में प्रयोग भले ही उनके लिए साधन न हों, अब ग्रामीण क्षेत्रों मे भी पश्चिमी ढग के रहन-सहन को अधिक उचित बताकर उसी का अनुकरण किया जा रहा है। जिन लोगों को दोनो वक्त भोजन नही मिल पाता वे भी मनोरंजन आवश्यक कहकर रेडियो को अपनी झोपडी में बजाते मिलेंगे। अब गाँवो में विवाह-शादी के समय Welcome शब्द लिखा हुआ मिलेगा। उच्च जाति के सदस्य के यहाँ यदि कोई समारोह है तो उसमें अंग्रेजी के गाने भी अवश्य बजाये जायेंगे। अब परम्परागत परिवारों मे भी पिता और माँ न कहकर बच्चों से 'पापा' 'मम्मी' कहने के लिए कहा जाता है। बच्चों को अब अंग्रेजी मॉडल पर बने स्कूलो मे भेजना उच्च प्रस्थिति का सूचक माना जाता है। भले ही स्कूल से लौटने के बाद बच्चा अंग्रेजी के सभी वाक्यों को भूल जाय क्योंकि 24 घण्टे मे 18 घण्टे वह जहाँ व्यतीत करता है (परिवार में) वहाँ केवल भोजपुरी बोली जाती है। इस प्रकार हम पाते हैं कि पश्चिमीकरण के कारण अब लोग अपने रहन-सहन के स्तर को सुधारने मे लगे हैं—भले ही यह सुधार वास्तविक न होकर दिखावटी हो क्यों न हो। रहन-सहन के दिखावटी स्तर मे सुधार के लिए लोग आवश्यक चीजो के प्रयोग में कटौती को भी अब उचित मानने लगे हैं।

(12) संचार साधनों पर प्रभाव—पश्चिमीकरण का एक प्रमुख प्रभाव यह

tion) तथा आवागमन के साधनों मे जो आविष्कार इस काल मे हुए उनके परिणाम-

स्वरूप सभी व्यक्तियों में विचारों का आदान-प्रदान सम्भव हो सका। प्रशासन और व्यापार की सीमाओं में जो विस्तार हुआ उससे जंगलों तथा पहाड़ों में रहने वाले समूहों का सदियों पुराना अकेलापन टूट गया और उनके लिए नये सम्पर्क तथा अवसर सुलभ हो सके। भारतवर्ष में मोटर, रेल, तथा वायुयान के प्रयोग के कारण यहाँ की सामाजिक संरचना समूल रूप से प्रभावित हुई है।

(13) भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव—भारतीय सामाजिक संस्थाएँ अधिकाधिक अंशों में पश्चिमीकरण से प्रभावित हुई हैं। यह प्रभाव मुख्य रूप से (i) संयुक्त परिवार प्रणाली तथा (ii) हिन्दू विवाह पर देखा जा सकता है। संयुक्त परिवार प्रणाली जो भारतीय समाज की सर्वप्रमुख विशेषता मानी जाती थी, वह अपना रूप परिवर्तित करने के लिए बाध्य हो गयी। नये एकाकी (nuclear) परिवार का प्रचलन समाज में शुरू हो गया। नये एकाकी परिवारों की संख्या में बढ़ोत्तरी का कारण लोगों की मनोवृत्ति में परिवर्तन है। आज पश्चिमीकरण ने व्यक्तिवादिता को अधिक अंशों में बढ़ाया है जिसके कारण अब सामूहिक हित पर ध्यान न देकर लोग व्यक्तिगत हितों के बारे में अधिक चिन्तित है। संयुक्त परिवार की निरन्तरता का एक प्रमुख कारण व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामूहिक हित की प्रधानता थी। चूँकि पश्चिमीकरण ने सामूहिक हित के स्थान पर वैयक्तिक हितों को बढ़ाया है यही कारण है कि संयुक्त परिवार के स्थान पर एकाकी परिवारों का प्रचलन शुरू हो गया है।

सम्पत्ति की अवधारणा भी परिवर्तित हुई है। यह दृष्टिकोण भी परिवार की संरचना को बदलने में सफल हुआ है।

हिन्दू विवाह संस्था में भी मूलभूत परिवर्तन हुआ है। हिन्दू विवाह के जो आदर्श थे वे अब लुप्त हो रहे हैं। अब विवाह को न तो धार्मिक कृत्य और न ही संस्कार माना जाता है। हिन्दू विवाह में अब पति-पत्नी का सम्बन्ध जन्म-जन्मातर का सम्बन्ध भी नहीं रहा। यहाँ की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ जो पश्चिमीकरण से अधिक प्रभावित है, अब विवाह को एक अनुबन्ध मानने लगी हैं। ज्यों ही वे आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हुई, छोटी मोटी नौकरी करने लगीं, वहीं वे विवाह-विच्छेद के बारे में भी सलाह लेना आरम्भ कर देती हैं। इस प्रकार विवाह जिसे एक संस्कार माना जाता था, वह भावना अब समाज से धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। सगोत्र, सपिण्ड एवं सप्रवर विवाह अब निषेध नहीं माने जाते तथा अपनी ही जाति में विवाह करना अब आवश्यक नहीं रहा। ये सभी प्रभाव पश्चिमीकरण की देन हैं। ग्रामीण समुदायों में जो परिवर्तन देखने को मिल रहा है वह भी पश्चिमीकरण की देन है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पश्चिमीकरण ने विवाह के उद्देश्य, आयु, ढंग, सभी को प्रभावित किया है। अब विवाह का उद्देश्य धार्मिक कृत्य न होकर एक ऐसे जीवन-साथी का चुनाव करना है जो प्रत्येक व्यवहार समानता के आधार पर करे। जिस प्रकार पश्चिमी समाजों में एक स्त्री के लिए तीन चार पति साधारण सी बात है, वही स्थिति अब यहाँ भी पायी जा रही है। विवाह के समय स्त्री का जो आदर्श होता है उसकी प्राप्ति यदि नहीं हुई तो विवाह-विच्छेद अवश्यम्भावी हो जाता है। वैसे कुछ कुरीतियों; जैसे—बाल-विवाह, विधवा-विवाह का न होना आदि का उन्मूलन भी ... से सम्भव ... सका। अब एक ... प्रवृत्ति भी अधिक बलवती होती

जा रही है। यह भी पश्चिमीकरण की ही देन है।

(14) जाति के स्थान पर वर्ग की प्रधानता—पश्चिमीकरण ने विभिन्न प्रौद्योगिकी के साधनों का प्रचलन कर जाति-व्यवस्था को शिथिल किया है। अब एक व्यक्ति एक जाति का सदस्य न रहकर एक वर्ग का सदस्य रहना अधिक उचित मानता है। अब एक ही मशीन पर विभिन्न जातियों के लोग साथ-साथ काम करते है जिसके कारण अब उनमें वह जातिगत दूरी नही रह पाती जो पहले हुआ करती थी। इसके विपरीत अब 'औद्योगिक वर्ग' तथा 'विशेषता वर्ग' का निर्माण हो रहा है जिसमें विभिन्न जातियों के लोग समान उद्देश्यों के लिए काम करते पाये जाते हैं। अब जाति-विशेष के आधार पर विभिन्न प्रकार का व्यवहार अनुचित माना जाता है। वही व्यवहार उचित है जो लाभकारी है। अब जातिगत कर्मकाण्डीय व्यवहार भी अनुचित माना जाता है। पश्चिमीकरण ने अब भारत में भी उच्च, मध्य और निम्न वर्ग के सदस्य के रूप में जनसंख्या को वितरित करना प्रारम्भ कर दिया है। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'मध्य युग के भक्ति-आन्दोलन में जाति मे निहित असमानता की धारणा के साथ-साथ मोक्ष-प्राप्ति के पारम्परिक मार्गों की बौद्धिकता के भी विरुद्ध विद्रोह समाविष्ट है। इस भाँति उत्तर भारत के मध्ययुगीन सन्त रामानन्द ने असमानता और खान-पान में जातिगत भेदभाव की धारणा पर प्रहार किया।' एस्टलिन कार्पेन्टर ने लिखा है कि 'वैष्णव धर्म का उद्देश्य था धर्म को ब्राह्मण कर्मकाण्ड की सुरक्षित क्रियाओं से निकालना और उसकी आशाओं तथा विशेषाधिकारों के द्वार पर पद और जाति के, हर नस्ल और धर्म के स्त्री-पुरुषो के लिए उन्मुक्त कर देना।' जाति की बुराइयों का प्रदर्शन कर स्तरीकरण के नये आधार के रूप मे वर्ग का प्रचलन पश्चिमीकरण की देन है।

उपसंहार

उपर्युक्त पश्चिमीकरण के प्रभावों के आधार पर उसके योगदान को अति संक्षेप मे निम्नलिखित प्रकार से रखा जा सकता है :-

(1) पश्चिमीकरण ने भयकर सामाजिक कुरीतियाँ जैसे—सती प्रथा, ठगी, मानव बलि, बालिका हत्या, दास प्रथा, अस्पृश्यता तथा देवदासी प्रथा का विरोध कर उसे समाप्त करने का प्रयास किया।

(2) बहुविवाह, बाल विवाह, दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा, विधवा विवाह की अवैधता आदि को दूर करने में पश्चिमीकरण के प्रभाव को भुला नहीं जा सकता।

(3) जाति-व्यवहार की बुराइयो तथा धार्मिक कर्मकाण्डों की जटिलता को समाप्त करने का प्रयास पश्चिमीकरण ने किया।

(4) राष्ट्रीय चेतना की जागृति के साथ-साथ प्रादेशिकता, साम्प्रदायिकता, तथा जातिवाद का विकास भी पश्चिमीकरण का फल है।

(5) अंग्रेज अपनी अनुशासनप्रियता, कार्य मे लगन तथा निष्पक्षता के लिए समाज में सदैव आदर की दृष्टि से देखे जाते रहे हैं।

(6) अस्पृश्यों तथा स्त्रियो के लिए शिक्षा को सुलभ बनाने में पश्चिमी धर्म-प्रचारकों का योगदान उल्लेखनीय है। भारत में आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, भारत सेवक संघ आदि का प्रारम्भ पश्चिमीकरण का ही फल है।

(7) भारत मे 'आत्म-सम्मान' तथा समानता के सिद्धान्त का विकास भी

पश्चिमीकरण की देन है।

(6) राजनीतिक, प्रशासनिक तथा कानूनी एकीकरण पश्चिमीकरण के कारण सम्भव हो सका।

(7) पश्चिमीकरण ने यहाँ के लोगों को परम्परागत सामाजिक संरचना को बदलने की प्रेरणा दी।

संस्कृतीकरण तथा पश्चिमीकरण में अन्तर

संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण दोनों ही प्रक्रियाओं के कारण सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित हो रहे हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं में मूलभूत अन्तर निम्नलिखित है :

संस्कृतीकरण	पश्चिमीकरण
1. संस्कृतीकरण की प्रक्रिया अधिक प्राचीन है। यह निरन्तर भारतीय सामाजिक संरचना को प्रभावित करती रही है।	पश्चिमीकरण की प्रक्रिया भारत के लिए अंग्रेजी शासन की देन मानी जा सकती है।
2. उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि संस्कृतीकरण की प्रक्रिया आन्तरिक है।	पश्चिमीकरण एक वाह्य प्रक्रिया है। जो तत्त्व लोगों के व्यवहारों को प्रभावित करते हैं उनके बारे में पहले से जानकारी नही होती।
3. संस्कृतीकरण के कारण केवल निम्न जातियों तथा जनजातियों की जीवन-शैली, व्यवहार-प्रतिमान तथा रहन-सहन का ढंग बदलता है।	पश्चिमीकरण सम्पूर्ण भारतीय सरचना को प्रभावित कर रहा है। उच्च तथा निम्न सभी जातियाँ इससे प्रभावित हो रही है।
4. सस्कृतीकरण के साथ-साथ असस्कृतीकरण भी कार्यरत है।	पश्चिमीकरण के साथ कोई विरोधी प्रक्रिया ऐसी नही है जो पश्चिमीकरण को ही समूल रूप से परिवर्तित कर दे।
5. अनुकरण करने वाला व्यवहार प्रतिमान सभी स्थानों के लिए एक-सा नहीं होता क्योंकि एक ही जाति एक स्थान पर उच्च है तो दूसरे स्थान पर वही जाति निम्न है।	अनुकरण करने वाला व्यवहार प्रतिमान सभी स्थानों के लिए निश्चित होता है।
6. संस्कृतीकरण की प्रकृति परम्परावादी है।	पश्चिमीकरण की प्रकृति तार्किक है।
7. संस्कृतीकरण के साथ-साथ तथा उसके परिणामस्वरूप सम्बद्ध जाति ऊपर की ओर गतिशील होती है यद्यपि यह परिवतन पदमूलक होता है संरचनामूलक नहीं।	पश्चिमीकरण के कारण इस प्रकार की जातीय गतिशीलता सम्भव नहीं है। यह बात अवश्य है कि इसके कारण जातिगत भेदभाव कुछ कम होता है।

ग्यारहवाँ अध्याय

धर्मनिरपेक्षीकरण

धर्मनिरपेक्षीकरण अथवा लौकिकीकरण वह प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप किसी समाज में धर्म के आधार पर सामाजिक व्यवहार में भेदभाव समाप्त किया जाता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में भी जो धर्मनिरपेक्ष राज्य नहीं था (हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के अनुयायी सर्वाधिक हैं और उनका व्यवहार जो उनके धर्म पर आधारित है, एक दूसरे का विरोधी है), अब धर्मनिरपेक्षीकरण की बात की जा रही है। वास्तव में धर्मनिरपेक्षीकरण (secularisation) जो बुद्धिवाद (rationalism) पर आधारित है, आधुनिकीकरण (modernisation) के लिए आवश्यक है। चूंकि प्रत्येक समाज अब आधुनिकीकृत होना चाहता है, यही कारण है कि वह धर्मनिरपेक्षीकरण को आश्रय दे रहा है।

धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया प्रत्येक समाज की एक मूलभूत विशेषता हो गयी है। आज से कुछ शताब्दी पूर्व भारतवर्ष में जिन कृत्यों को धार्मिक तथा पवित्र समझा जाता था, आज उन्हे वैसा नहीं समझा जाता। एक धर्म तथा जाति का जो विशेष प्रभाव स्वीकार किया जाता रहा है, वह अब उस रूप में नहीं है। विभिन्न विचारकों का मत है कि भारतवर्ष में धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को गति प्रदान करने का श्रेय अंग्रेजी शासन को है या अन्य शब्दों मे कहा जा सकता है कि इसका श्रेय पश्चिमीकरण को है, जिसके कारण यहाँ की संस्कृति तथा सामाजिक जीवन अधिक अंशों मे प्रभावित हुआ है। जैसे-जैसे संचार-साधनों, नगरीकरण, शिक्षा तथा स्थानिक गतिशीलता में विकास हुआ है, वैसे-वैसे धर्मनिरपेक्षता की भावना भी सुदृढ़ होती गयी है। प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभावों के अतिरिक्त विभिन्न समाज सुधारकों—राजा राममोहन राय, तिलक, गांधी, नेहरू आदि के प्रयत्न भी धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को गति देने में सहायक सिद्ध हुए हैं। 1947 के बाद भारत ने धर्मनिरपेक्षीकरण की प्राप्ति का जो प्रयत्न किया है, वह वास्तव में सराहनीय है। स्वतन्त्र भारत के संविधान में यह लिखा हुआ है कि 'भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य होगा।' कानून की दृष्टि से सभी नागरिकों में कोई भेदभाव नहीं होगा। लोक सभा तथा विधान सभाओं के लिए चुनाव बालिग मताधिकार के आधार पर होगा और भारतीय भू-भागों का विकास योजनाबद्ध कार्यक्रमों द्वारा सम्पादित होगा। प्रो० श्रीनिवास का मत है कि 'संस्कृतीकरण और धर्मनिरपेक्षीकरण, दोनों प्रक्रियायें भारतवर्ष में साथ-साथ कार्यशील हैं। अन्तर केवल इतना है कि संस्कृतीकरण केवल निम्न जाति के हिन्दुओं तथा वन्यजातीय लोगों को प्रभावित कर रहा है जबकि धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव सम्पूर्ण भारतीय समाज पर पड़ रहा है। अन्य दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव नगरीय तथा पढ़े-लिखे लोगों

पर अधिक पड रहा है। अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि पश्चिमीकरण और धर्मनिरपेक्षीकरण दोनों बातें साथ-साथ चलती हैं।'

धर्मनिरपेक्षीकरण का अर्थ

धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तार्किक दृष्टिकोण से है। इसके अन्तर्गत विश्व की व्याख्या विशुद्ध चिन्तन के रूप में प्रस्तुत की जाती है। समाज मे जितने भी व्यवहार तर्कहीन हैं, वे इस प्रक्रिया के द्वारा नष्ट होते जाते हैं। धर्मनिरपेक्षीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा परम्परागत विश्वासों तथा धारणाओं के स्थान पर तार्किक ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'धर्मनिरपेक्षीकरण में यह बात निहित है कि जिसे पहले धार्मिक माना जाता था, वह अब वैसा नही माना जाता' (The term 'Secularisation' implies that what was previously regarded as religious is now ceasing to be such.....)। उन्होने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि उसमें विभेदीकरण की एक प्रक्रिया भी निहित है जिसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न—आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी तथा नैतिक—पक्ष एक दूसरे के मामले मे अधिकाधिक सावधान होते जाते हैं।

धर्मनिरपेक्षीकरण मे एक अन्य आवश्यक तत्त्व 'कार्य-कारण' सम्बन्धो का प्रदर्शन है जिसे बुद्धिवाद (rationalism) से भी सम्बोधित किया जाता है। प्रो० श्रीनिवास के अनुसार, 'इसके अन्तर्गत पारम्परिक विश्वासों और धारणाओ के स्थान पर आधुनिक ज्ञान की स्थापना निहित है' (Rationalism involves, among other things, the replacement of traditional beliefs and ideas by modern knowledge.)। धर्मनिरपेक्षीकरण प्रक्रिया की यह विशेषता है कि यह पारम्परिक विश्वासो तथा तर्कहीन धारणाओं को यथासम्भव नष्ट करने का प्रयत्न करती है। ऐसे विचार जो परम्परागत है तथा जिन्हें कार्य-कारण सम्बन्ध की कसौटी पर नही कसा जा सकता, वे अपने आप इस प्रक्रिया (धर्मनिरपेक्षीकरण) द्वारा समाप्त हो जाते है। यदि उनका अस्तित्व किसी प्रकार बना भी रहा तो उन्हे उचित जनमत का समर्थन नही मिल पाता। धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण ही हिन्दुओं मे प्रचलित अधिकांश पवित्रता तथा अपवित्रता की धारणाएँ प्राय: समाप्त होती जा रही हैं। विभिन्न अग्रणी समाजशास्त्रियो (प्रो० श्रीनिवास आदि) का मत है कि इस प्रक्रिया के कारण भारतवर्ष मे अन्य जातियो की अपेक्षा हिन्दू जाति के लोग ही अधिक प्रभावित हुए हैं, क्योकि पवित्रता तथा अपवित्रता को धारणा जो हिन्दू धर्म में केन्द्रीय महत्त्व रखती है, और अधिक अशो मे व्यापक भी है, अनेक कारणों से क्षीण होती जा रही है। हो सकता है कि इसका एक कारण धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया के अतिरिक्त हिन्दू धर्म के किसी एक केन्द्रीय तथा देशव्यापी सगठन और उसके

isu -
है-
करने में मदद देती है। धर्मनिरपेक्षता व्यवहार की उस दशा को कहेंगे जहाँ राज्य, नैतिकता तथा शिक्षा आदि के ऊपर धर्म का अनावश्यक प्रभाव नहीं होता। अमरीका में धर्मनिरपेक्षीकरण का अर्थ होता है कि समाज में राज्य तथा चर्च बिना एक दूसरे को प्रभावित किये हुए अपने-अपने अस्तित्व को बनाये रखें।[1] यही कारण है कि जो शिक्षण-संस्थायें वहाँ चर्च द्वारा चलायी जाती हैं राज्य सरकार उसे अनुदान नहीं देती है।

भारतवर्ष में धर्मनिरपेक्षता का अर्थ पश्चिम में लिये गये अर्थ से कुछ भिन्न है। यहाँ धर्मनिरपेक्षता का अर्थ होता है कि राज्य द्वारा किसी भी धर्म को आश्रय नहीं दिया जायगा। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि यदि कोई धार्मिक संस्था किसी शिक्षण-संस्था को चलाती है तो राज्य सरकार उसे अनुदान नहीं देगी। सांस्कृतिक विकास के लिए तथा विभिन्न सम्प्रदायों के सह-अस्तित्व के लिए यदि आवश्यक हुआ तो राज्य सरकार विभिन्न धार्मिक संस्थाओं को निर्देशित कर सकती है। उदाहरणार्थ—केन्द्र सरकार द्वारा गो-हत्या पर प्रतिबन्ध है जबकि कुछ धर्म इस प्रकार के प्रतिबन्ध को अवांछनीय मानते हैं। भारत में इस बात की व्यवस्था है कि कानून तथा आग्रह के माध्यम से धर्म के दोषों को दूर किया जाय। जैसे, हिन्दू धर्म के विभिन्न दोष दूर किये गये हैं—इस्लाम धर्म के दोषों को भी इसी प्रकार दूर किया जा सकता है। अब भारत में धर्म के प्रति लोगों का परम्परागत दृष्टिकोण क्या है, उसे बदला जा रहा है। यद्यपि मुसलमानों का 'परसनल लॉ' (Personal Law) अभी भी आधुनीकृत होना है। भारत में धर्मनिरपेक्षता के मार्ग में भारतीय समाज स्वयं बाधक रहा है—हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदाय-धर्म-के-माध्यम-से-अपने-अपने उद्देश्यों को पूरा करते रहे हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अब विभिन्न राजनीतिक दल धर्म के माध्यम से राजनीतिक उद्देश्यों को पूरा कर रहे हैं जो धर्मनिरपेक्षता के मार्ग में बाधक हैं। सरकारी तथा विरोधी दल कोई भी पूर्ण धर्मनिरपेक्षता के लिए सक्रिय नहीं दीखता।

पं० नेहरू ने 14 अगस्त 1947 को सत्ता मिलने के समय कहा था कि इस अर्द्धरात्रि के समय जब पूरा विश्व सो रहा है, भारत में स्वतन्त्र जीवन का संचार आरम्भ हो रहा है और इस स्वतन्त्र जीवन का आधार धर्मनिरपेक्षता होगा। वह राष्ट्र अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकता जो साम्प्रदायिकता, तथा धर्म पर आधारित होगा। भारत केवल एक धर्मनिरपेक्ष तथा प्रजातान्त्रिक राज्य होगा, जहाँ प्रत्येक नागरिक को चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो समान अधिकार प्राप्त होंगे।

(2) धर्मनिरपेक्षीकरण का दूसरा उद्देश्य धर्मनिरपेक्ष राज्य की प्राप्ति है। धर्मनिरपेक्ष राज्य वह है जहाँ प्रत्येक नागरिक को समान अवसर समानता के आधार

[1] '...in the U. S., Secularism means that the State and the Church co-exist in the same human society without having to do anything with each other.' —V. K. Sinha (ed.), *Secularism in India*, 4.

पर प्राप्त हैं और जहाँ समाज नागरिकों के कार्यकलापों में धर्म के आधार पर व्यवधान नहीं डालता। डी० ई० स्मिथ ने धर्मनिरपेक्ष राज्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि वह राज्य जो लोगों को धर्म की स्वतन्त्रता की गारण्टी देता है, प्रत्येक व्यक्ति को नागरिक की मान्यता देता है भले ही वह किसी भी धर्म का क्यों न हो, सांविधानिक रूप से वह किसी विशेष धर्म से सम्बन्धित न हो और न ही वह किसी धर्म विशेष की प्रगति और अवनति से सम्बन्धित हो। एक अन्य व्याख्या में दिया गया है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य वह है जो धर्म से अलग हो और किसी भी धर्म में आस्था न रखता हो (Separated from, unconnected with and not devoted to religion)। एक परिभाषा में दिया गया है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य एक व्यक्ति को एक नागरिक के रूप मे देखता है न कि किसी विशेष धार्मिक समूह के सदस्य के रूप मे। धर्म के आधार पर लोगों के अधिकार तथा कर्तव्य की व्याख्या नही होती। संविधान का अनुच्छेद 15 (1) यह घोषित करता है कि राज्य धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग तथा जन्म-स्थान के आधार पर लोगों मे भेदभाव नही करेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण भारत एक ऐसे धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप मे अवतरित हुआ है जहाँ धार्मिक भेदभाव नही है। यह बात अवश्य है कि धर्म का वह स्थान अब समाज में नहीं रहा जो पहले था फिर भी धर्म के समर्थक अब भी समाज मे लगभग सभी हैं।

धर्मनिरपेक्षीकरण की विशेषता—

(1) बुद्धिवाद का विकास—धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण प्रत्येक घटना के लिए धर्म पर आश्रित रहने की बात समाप्त हो जाती है। आदिम व्यक्ति प्रत्येक सामाजिक घटना को धर्म तथा अलौकिक शक्ति की देन मानता था लेकिन जैसे-जैसे बुद्धिवाद का विकास हुआ—कार्य-कारण सम्बन्धों की जानकारी बढ़ी और वास्तविक कारणों की जानकारी के कारण धर्म का महत्त्व कुछ कम हुआ। अब तार्किक व्यवहार को प्रत्येक व्यक्ति उचित मानता है।

(2) धार्मिकता में ह्रास—धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण धार्मिक संस्थाओं का महत्त्व अब कम हुआ है। इसका कारण यह है कि धर्म के नाम पर अब उच्च या निम्न प्रस्थिति का निर्धारण नहीं होता। पहले जो व्यक्ति धार्मिक कर्मकांड जितना अधिक करता था उसे उतना ही अधिक सम्मान दिया जाता था, लेकिन अब उसी व्यक्ति को पिछड़ा हुआ व्यक्ति कहा जाता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जैसे-जैसे धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया आगे बढ़ती है—धर्म का महत्त्व कम होता जाता है और इस प्रकार धार्मिकता में ह्रास होता है।

(3) बढ़ता हुआ विभिन्नीकरण—पहले प्रत्येक घटना के पीछे धर्म को मान लिया जाता था। लेकिन अब प्रत्येक घटना के अलग-अलग कारणों की छानबीन की जाती है। इस स्थिति के कारण विभिन्नीकरण की मात्रा बढ़ जाती है। विशिष्ट प्रकार के कार्य करने वाले अलग-अलग लोग होते हैं अतः उनमे दूरी स्वाभाविक है।

(4) आधुनिकीकरण की प्राप्ति में सहायक—प्रत्येक समाज अब अपने को आधुनिक कहलाना चाहता है अतः परम्परागत व्यवहारों मे परिवर्तन आवश्यक है। धर्मनिरपेक्षीकरण भी परम्परागत व्यवहारों को बदलता है। जैसे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के तक भारतवर्ष मे परम्पराओं की प्रधानता थी लेकिन स्वतन्त्रता मिलने पर ज्यों

ही भारत ने अपने को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया, यहाँ के परम्परागत व्यवहार-प्रतिमान में मूल परिवर्तन हुआ। अब ऐसे परिवर्तन हो रहे हैं जो सामाजिक विकास के लिए तथा आधुनिकीकरण के लिए आवश्यक हैं। अतः कहा जा सकता है धर्म-निरपेक्षीकरण आधुनिकीकरण में सहायक है।

(5) समानता का विकास—भारतवर्ष में पहले धर्म, जाति, लिंग आदि के

को सही कहता है जिसमें कार्य-कारण सम्बन्धों का प्रदर्शन हो।

धर्मनिरपेक्षीकरण के कारक

वे कौन-कौन से कारक (factors) हैं जो भारतवर्ष में धर्मनिरपेक्षीकरण को

प्रारम्भ
भौतिकता
था उससे
नाम से
प्रक्रिया
त्मक तथा
इयों पर
है जिसने

(2) नगरीकरण तथा औद्योगीकरण—नगरों में रहने वाले लोग विभिन्न प्रकार के प्रौद्योगिकीय आविष्कारों के सम्पर्क में रहने के कारण धार्मिक अन्धविश्वासों से अलग होते जाते हैं। जैसे-जैसे नगरों में विभिन्न प्रकार के औद्योगिक संस्थान स्थापित होते जा रहे हैं, वैसे-वैसे जनसंख्या का घनत्व बढ़ रहा है। अब यह आवश्यक नहीं रहा कि एक स्थान पर एक ही धर्म की प्रधानता हो और उसी धर्म के अनुयायी अधिक संख्या में वहाँ निवास करें। नगरों में तथा औद्योगिक केन्द्रों पर विभिन्न धर्मों के अनुयायी, साथ-साथ काम करते हैं तथा विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। इस स्थिति के कारण धर्मविशेष की कट्टरता समाप्त होती है और सह-अस्तित्व की भावना विकसित होती है। अतः कहा जा सकता है कि नगरीकरण तथा औद्योगीकरण धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में सहायक कारक हैं।

(3) यातायात तथा संचार के विकसित साधन—जब यातायात के साधन विकसित नहीं थे तब लोग दूर-दूर स्थानों को चाहते हुए भी नहीं जा सकते थे। एक ही स्थान पर रहने के कारण वे अपनी धार्मिक भावना को क़ायम रखते हुए उसी के

अनुरूप आचरण किया करते थे। संचार के साधनों में विकास न होने के कारण अन्य स्थानों तथा समाजो में क्या हो रहा है, इसकी जानकारी लोगों को नहीं हो पाती थी। यह भी एक कारण था कि लोग धार्मिक कट्टरता को बनाये रखते थे। लेकिन जैसे-जैसे यातायात तथा सचार के साधन विकसित हो रहे हैं वैसे-वैसे धार्मिक आचरण तथा कर्मकाण्डों में परिवर्तन हो रहा है। अब धर्म के आधार पर छुआछूत का भेदभाव या खानपान का भेदभाव तथा उसमे कठोरता अधिक सम्भव नही रही। यदि विभिन्न धर्मो के अनुयायी बस या ट्रेन में साथ-साथ जा रहे हैं तो चाहते हुए भी वे छुआछूत के भेदभाव को कायम नहीं रख सकते। एक समाज धर्म विशेष के परम्परागत व्यवहार-प्रतिमान में यदि कोई छूट देता है तो उसकी जानकारी अन्य समाजो को सचार साधनो के माध्यम से हो जाती है। अतः वहाँ भी परिवर्तन की बात प्रारम्भ हो जाती है। अब ग्रामीण समुदायो से छोटे-मोटे कार्यों के लिए भी लोग नगरों को चले जाते हैं। वहाँ के रहन-सहन को देखकर वे प्रभावित होते हैं और अपने परम्परागत व्यवहार-प्रतिमान (जिस पर धर्म की प्रधानता होती है) को छोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं। अब ग्रामीण व्यक्ति भी उन सभी चीजो को स्वीकार करने के लिए तैयार है जो उनके लिए लाभकारी है—भले ही उसका सम्बन्ध किसी अन्य धर्म से ही क्यों न हो।

(4) वर्तमान शिक्षा-प्रणाली—पहले शिक्षा का प्रारूप इस प्रकार का था कि धार्मिक आचरण में तनिक भी ह्रास न होने पाये। जो अपने को धार्मिक नहीं कहते थे उनके लिए शिक्षा का प्रबन्ध नही था। अपवित्र लोगों (शूद्रो) के लिए भी शिक्षा की व्यवस्था नही थी। धर्म शिक्षा का केन्द्र-बिन्दु हुआ करता था। ब्राह्मण जिनका प्रमुख कार्य शिक्षा देना होता था—धार्मिक कृत्यो और विधि-विधानों पर अधिक बल देते थे। लेकिन नवीन शिक्षा-प्रणाली में अब वह स्थिति नही रही। अपवित्र समझे जाने वाले लोगो के लिए शिक्षा का विशेष प्रबन्ध है। उन्हें प्रोत्साहन देकर पढ़ाया जा रहा है। विभिन्न जातियों तथा धर्मों के अनुयायी साथ-साथ पढ़ते, लिखते, खाते-पीते हैं; इस स्थिति के कारण धार्मिक जटिलता समाप्त हुई है। अब धार्मिक संस्थाओं तथा जाति-विशेष द्वारा सचालित शिक्षण सस्थाओं को अपना नाम परिवर्तित करने को कहा जा रहा है, क्योकि इस प्रकार की चीजें सामाजिक सद्भाव के लिए बाधक हैं। अब तार्किक ज्ञान को धार्मिक ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाया जा रहा है। अब शिक्षण सस्थाओ मे जिस प्रकार धर्म और जाति के आधार पर भेदभाव नही रहा, उसी प्रकार अब लिंग-भेद के कारण भी कोई भेदभाव नही रहा। अब स्त्रियाँ भी प्रत्येक प्रकार की शिक्षा को ग्रहण कर रही है। उनका दृष्टिकोण भी तार्किक हो रहा है। यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतवर्ष मे परम्परागत व्यवहारो का प्रचलन जिसमे धार्मिक व्यवहार प्रमुख है स्त्रियो के प्राश्रय के कारण प्रचलित थे। स्त्रियों को घर के बाहर जाने की अनुमति नही होती थी, अतः उनका दृष्टिकोण परम्परागत होता था। लेकिन जैसा कि कहा जा चुका है आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में अब उनको भी समान अधिकार दिया गया है जिसके कारण उनकी मनोवृत्ति परम्परागत व्यवहारों के प्रति बदल रही है और उनका व्यवहार अब धर्मनिरपेक्षता की तरफ अधिक हो रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के कारण निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया तीव्र हो रही है।

(5) धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन—विभिन्न धार्मिक तथा

सामाजिक सुधारकों ने धर्म तथा उस पर आश्रित जाति-पाँति के भेदभाव और धार्मिक पाखण्डों को गलत बतलाया। इस स्थिति के कारण लोगों की धारणा धार्मिक कर्म-काण्डों के प्रति कुछ तटस्थ हुई। विभिन्न धर्म के अनुयायियों को साथ-साथ रहने तथा कार्य करने के लिए कहा गया। मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन ने भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया है। राममोहन राय, सैयद अहमद खाँ, रानाडे, स्वामी दयानन्द, गांधी आदि के प्रयत्न भी धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में सहायक सिद्ध हुए हैं। ब्रह्मसमाज, आर्य समाज, प्रार्थना सभा, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसायटी का प्रयत्न भी धार्मिक जटिलता को दूर करने में सहायक सिद्ध हुआ है। अतः कहा जा सकता है कि सामाजिक तथा धार्मिक सुधार आन्दोलन धर्मनिरपेक्षी-करण में सहायक रहा है।

(6) सामाजिक विधान—विभिन्न सामाजिक विधान भी धर्मनिरपेक्षीकरण को बढ़ाने में सफल रहे हैं। [illegible]

[illegible]

लिए होता है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था मे सरकार चलाने के लिए प्रतिनिधियों का चयन वयस्क मताधिकार पर होता है जिसमें धर्म और जाति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं बरता गया है। यही नही सभी लोग एक समान स्तर पर आ जाएँ इसके लिए उन लोगों को विशेष सुविधाएँ दी जा रही है जो अभी तक पिछड़े हुए थे। विभिन्न प्रकार के समाज-कल्याण कार्यक्रम भी सरकार द्वारा चलाये जा रहे हैं ताकि धर्मनिरपेक्षता को बढ़ाया जा सके।

(7) राजनीतिक दल—विभिन्न राजनीतिक दल भी धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में सहायक सिद्ध हुए हैं जैसे कांग्रेस, समाजवादी दल तथा साम्यवादी दल आदि। कांग्रेस के निर्माण के समय (1885 ई०) ही उसमें कुछ नेता ऐसे थे जो धर्मनिरपेक्षीकरण को सामाजिक नीति के रूप मे स्वीकार कराने के पक्ष मे थे। जैसे-जैसे शिक्षित तथा पश्चिमीकृत लोगों की संख्या इस दल मे बढ़ती गयी धर्मनिरपेक्षी-करण की माँग भी बलवती होती गयी। पं० नेहरू जिन्हे कांग्रेस ने स्वतन्त्रता मिलने के बाद अपना नेता चुना धर्मनिरपेक्षीकरण के प्रबल समर्थक थे। डा० राधाकृष्णन् ने प० नेहरू के निधन के समय कहा था 'पं० नेहरू का मुख्य उद्देश्य लोगों के मस्तिष्क मे से धर्म के अतार्किक तत्त्वों को निकालना था ताकि धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया आगे बढ़ सके।' समाजवादी तथा साम्यवादी दल भी अपने-अपने घोषणा-[illegible] तक कि अब अन्य राजनीतिक [illegible] स्वीकार कर रहे हैं।

[illegible] धों को प्रभावित कर

उसे परिवर्तित कर रहा है। यहाँ हम उसके कुछ प्रमुख प्रभावों का उल्लेख करेंगे।

(1) पवित्रता तथा अपवित्रता सम्बन्धी धारणाओं पर प्रभाव—प्रत्येक हिन्दू जो आस्तिक है वह पवित्रता तथा अपवित्रता (purity and pollution) की अवधारणा को स्वीकार करता है। पवित्रता से तात्पर्य उन कृत्यो से है जो व्यक्ति, समुदाय तथा समाज के लिए श्रेयस्कर हैं; जबकि अपवित्रता से तात्पर्य उन कृत्यों से है जो व्यक्ति और समाज के लिए उचित नही होते। प्रत्येक भाषा मे पवित्रता तथा अपवित्रता के पर्यायवाची शब्द मिलेंगे। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि अपवित्रता से अभिप्राय मलीनता, कलक तथा परोक्ष रूप से पाप से लगाया जाता है, जबकि पवित्रता का अर्थ स्वच्छता, पुण्यशीलता तथा अप्रत्यक्ष रूप से धार्मिकता तक से भी लगाया जा सकता है। विभिन्न जातियों के बीच सरचनात्मक दूरी पवित्रता तथा अपवित्रता के रूप में निर्धारित होती है। उच्च जाति के लोग नीची जाति के लोगों से सभी प्रकार के सम्बन्ध इसलिए नही रख पाते क्योंकि उनकी यह धारणा है कि वे पवित्र हैं तथा नीची जातियाँ अपवित्र है। यही कारण है कि ऊँची जातियो के लोग नीची जाति के लोगों के हाथ का बना भोजन ग्रहण नही करते, विभिन्न प्रकार के पर्वों में उनसे मेल-मिलाप नही बढ़ाते, उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। यहाँ तक कि अस्पृश्य जातियों की छाया से भी लोग बचाव करते हैं कि कहीं उसकी छाया पड़ने से एक सवर्ण हिन्दू अपवित्र न हो जाय। यदि सवर्ण हिन्दू इन नियमों का पालन नही करता और इसके विपरीत कार्य करता है तो उसे अपवित्र व्यक्ति माना जाता है और फिर से पवित्र होने के लिए उसे प्रायश्चित (performance of a purification rite) करना होता है तथा जाति-पंचायत द्वारा निर्धारित दण्डों को भोगना होता है। कुछ अपवित्र कार्य तो ऐसे हैं जिन्हें करने वालों को कभी भी पवित्र नही किया जा सकता। जैसे यदि उच्च जाति की कन्या किसी अस्पृश्य से विवाह कर लेती है तो उसे हमेशा के लिए जाति से बहिष्कृत मान लिया जाता है। खाने-पीने मे परहेज भी जातिगत विशेषता मानी जाती है तथा उसका सम्बन्ध भी पवित्रता और अपवित्रता से होता है। उच्चतम जाति के लोग शाकाहारी होंगे तथा वे मदिरा का प्रयोग अपनी प्रतिष्ठा के खिलाफ मानते है। इसके विपरीत निम्न जाति के लोग मांसाहारी होते हैं और वे देशी शराब का प्रयोग बिना किसी रोक-टोक के करते हैं। भंगी, धोबी तथा अन्य ऐसी ही जातियों मे तो कोई भी सामूहिक बैठक ऐसी नही होती जिसमे सभी सदस्य, चाहे वे पुरुष हों अथवा स्त्री, मदिरा का प्रयोग न करें। पवित्रता तथा अपवित्रता की धारणा कार्य के स्वभाव पर भी निर्भर करती है। हाथ से किये जाने वाले कार्यों को अपवित्र समझा जाता है। प्रो० श्रीनिवास का मत है कि '*जाति-व्यवस्था की सबसे निचली सीढ़ी पर वे धन्धे हैं जो पापपूर्ण, अपवित्र अथवा दोनों ही हो सकते हैं।*'

रक्त-सम्बन्ध भी पवित्रता तथा अपवित्रता की धारणाओं से जुड़ा हुआ है। जन्म और मृत्यु के समय सगोत्रीय समूह के लोग कुछ समय के लिए अपवित्र हो जाते हैं। इन दोनो अवसरो पर उस परिवार अथवा जाति के लोग किसी भी प्रकार के पवित्र अथवा धार्मिक कार्य का सम्पादन नहीं करते। भोजन करते समय भी उच्च जाति के लोग वस्त्र उतार कर भोजन करते है। किसी देवी या देवता की आराधना करते समय तो स्नान और वस्त्र-परिवर्तन आवश्यक होता है। परम्परागत नियमों के

अनुसार एक व्यक्ति को अपनी हजामत स्वयं नही बनाना चाहिए। पहले नाई का स्पर्श तथा हजामत के बाल दोनों ही अपवित्र माने जाते थे। यही कारण था कि हजामत के बाद व्यक्ति को आवश्यक रूप से स्नान करना होता था तथा उस स्थान को जहाँ बैठकर हजामत बनवायी गयी है उसे मिट्टी या गोबर से साफ किया जाता था। हजामत बनाने के दिन भी निश्चित थे। शनिवार तथा मगलवार को हजामत निषेध थी। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'सेफ्टी रेजर के प्रयोग के कारण अब व्यक्ति प्रत्येक दिन हजामत बनाने लगा है यही कारण है कि धार्मिक व्यक्तियों ने सेफ्टी रेजर का विरोध किया था। वृद्ध लोग, विधवाएँ तथा स्त्रियाँ साधारणतया अधिक धार्मिक होती हैं। ऊँची जातियों के लोग नीची जातियों से अधिक धार्मिक होती है, जैसे—ब्राह्मण वर्ण के लोग। ब्राह्मणों मे पुरोहित ब्राह्मण अधिक धार्मिक होते हैं।'

धर्मनिरपेक्षीकरण की भावना के कारण अब पवित्रता तथा अपवित्रता सम्बन्धी विचार धीरे-धीरे नष्ट होते जा रहे हैं। उदाहरण के लिए पुरोहित ब्राह्मणों को लिया जा सकता है। अब उनमें वह कट्टरता नही रही जो पहले थी। इसका एक मात्र कारण अब न तो उनके पास केवल कर्मकाण्ड करने के लिए समय है और न ही वे एक स्थान पर अपने को सीमित रख सकते हैं। पहले केवल पुरोहिती से ही काम चल जाता था, इसीलिए एक पुरोहित एक स्थान पर रहकर अपना सम्पूर्ण जीवन बिता देता था। वह छुआछूत के भेदभाव से अपने को अलग रख पाता था। लेकिन आज उसकी आवश्यकताएँ केवल पुरोहिती द्वारा प्राप्त धन से पूरी नहीं हो पाती। अतः उसे अन्य स्थानों को जाना पड़ता है। वह अब विभिन्न लोगों के सम्पर्क में भी आता है। अतः चाहते हुए भी उन लोगो के सम्पर्क से अपने को नहीं बचा सकता जिन्हें वह अपवित्र समझता है। प्रो० श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' में लिखा है कि पुण्य स्नान, मन्दिर मे पूजा, हरिकथा, अन्य भक्तों के साथ भजन, उपवास, प्रार्थना और ध्यान—धार्मिक जीवन की यही सार वस्तुएँ हैं—जो धर्मनिरपेक्ष कार्यों में लीन जीवन से भिन्न हैं। नगरों में आये हुए लोगों का व्यवहार, अब उनकी नौकरी तथा उस स्थान पर काम करने वाले लोगों के द्वारा जिसे 'व्यवसायात्मक समूह' कहा जा सकता है, के द्वारा निर्धारित होने लगा है। अब ऐसे व्यक्ति अपनी वंश-परम्परा तथा जाति द्वारा निर्धारित नियमों को भुलाकर उनके नियमों के अनुसार कार्य करना शुरू करते हैं जो उनके साथ कार्य करते हैं, तथा जो उनके पड़ोसी हैं। एक नायर सूचनादाता ने कैथलीन गफ से कहा था कि, 'जब मैं ऑफिस जाने के लिए कमीज पहनता हूँ तो जाति को उतार कर रख देता हूँ, और जब ऑफिस से लौट कर कमीज उतारता हूँ तो जाति को पहन लेता हूँ।' प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि इस प्रकार का दीर्घकालीन विचार धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा देता है। पहले कॉफी अथवा चाय की दुकानों में ब्राह्मण वर्ग के लोग नही जाते थे, लेकिन अब शिक्षित ग्राहक चाहे वे किसी भी जाति के क्यों न हो, कॉफीघरो मे जाकर स्वच्छता के साथ चाय पीते हैं। स्वच्छता के बारे में वे कुछ विचार-विमर्श कर भी देते है लेकिन इसके बारे में वे जरा भी चिन्तित नहीं होते कि यह दुकान किस जाति के व्यक्ति की है, अथवा इसको बनाने वाला व्यक्ति किस जाति का है। पवित्रता स्वास्थ्यकारिता से अधिक कुछ भी नहीं है, और उसे धार्मिक आचरण के अन्तर्गत इसलिए रखा गया है जिससे लोग उस पर अधिक ध्यान दें। यह धर्मनिरपेक्षीकरण का परिणाम है कि स्त्रियाँ अब रसोई-

घरों मे पवित्रता के बारे में कम चिन्ता करके स्वास्थ्यकारिता तथा पौष्टिकता के बारे में अधिक सजग रहती हैं। अलग गृहस्थी बसते ही वे अपने परम्परागत कृत्यों को कोसों दूर छोड देती हैं। संयुक्त परिवारों में भी पवित्रता के नियमों का पालन तभी हो पाता है, जब परिवार में वृद्धा स्त्रियाँ हों जिनका जीवन रसोईघर तथा घर के देवस्थान तक ही केन्द्रित हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया के कारण अब पवित्रता तथा अपवित्रता की धारणा में मूलभूत परिवर्तन हो रहा है। साधारणतया जिन चीजों को पहले अपवित्र कहा जाता था अब उन्हें वैसा नहीं कहा जाता।

(2) धार्मिक कर्मकाण्डों पर प्रभाव—धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण संस्कारों का संक्षिप्तीकरण हुआ है। जीवन-चक्र की धारणा तथा कर्मकाण्ड (rituals) का रूप परिवर्तित हुआ है। हिन्दू जीवन संस्कारों का महत्त्व अद्वितीय है। संस्कारों से ही व्यक्ति परिष्कृत होता है। अतः प्रत्येक हिन्दू व्यक्ति को अपने जीवन मे समस्त संस्कारों को स्वीकार कर उनके द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना चाहिए। लेकिन धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण अब अधिकाश लोग इन संस्कारों को बेकार समझ कर छोड रहे है। अब तो विधवा-विवाह को भी अनुचित नही माना जाता। विभिन्न संस्कारों को सम्पादित करने के लिए जो विधि विधान बनाये गये थे, उनमें अब कटौती की जा रही है। विवाह संस्कार में भी संक्षिप्तीकरण हुआ है और लोग इसे ही अधिक पसन्द कर रहे हैं। अब विवाह को सम्पन्न करने के लिए नये प्रकार के समारोह अधिक श्रेयस्कर माने जाते हैं जिसमें आगन्तुकों का स्वागत नये ढग से किया जाता है, उसमें जाति-पाँति के भेदभाव को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। अब ग्रामीण समुदायों के लोग भी अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग, तथा उन सभी कार्यों को करने लगे है जिनका प्रचलन पहले नही था। विवाह आदि समारोहों में स्त्रियाँ गाने-बजाने का आयोजन किया करती थी, लेकिन अब गाने-बजाने का प्रबन्ध व्यापारिक संस्थाओं द्वारा जो इसी का धन्धा करते हैं, किया जाता है। इसीलिए इस गाने-बजाने में न तो समयानुकूल भाव होता है, और न ही वे किसी विशेष अर्थ को व्यक्त कर पाते है। इसके विपरीत, वे विरोधी भाव को भी व्यक्त कर सकते है जैसे विवाह के दिन समारोह में ऐसे गाने होने चाहिए जो 'वर-वधू' के लिए शुभ-सूचक तथा मंगलकारी हों, जबकि रिकार्ड पर गाना लगा दिया है, 'दो हँसों का जोड़ा बिछड़ गया रे।' ऐसे गानों का उस समारोह से कोई मेल नहीं होता। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है कि संस्कृतीय कर्मकाण्ड को सक्षिप्त करके कुछ एक घण्टों में पूरा कर लिया जाय। कन्यादान और सप्तपदी जैसे महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्यो के समय केवल सम्बद्ध रिश्तेदार मौजूद रहते है और अधिकांश अतिथि समुदाय लौकिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्वागत समारोह (रिसेप्शन) में भाग लेता है। ...विवाह के भवन के बाहर खड़ी हुई कारों की संख्या, रोशनी और सजावट और वर-वधू द्वारा प्राप्त उपहार परिवारों की स्थानीय समाज में हैसियत और प्रभाव के सूचक माने जाते है। विवाह का यह स्वागत समारोह एक नई प्रथा है जो बढ़ते हुए धर्मनिरपेक्षीकरण की सूचक है।'

धर्मनिरपेक्षीकरण एक सामाजिक [illegible]
हुआ है। अब [illegible] सगोत्र तथा [illegible] का निषेध न मानकर उस
के लिए तैयार हो जाते हैं। यदि लड़का डॉक्टर, इजीनियर या आई० ए० एस०

है तो दहेज के रूप में कोई भी बड़ी रकम प्राप्त हो सकती है। धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण अब विवाह के लिए आवश्यक दशा लड़के का अर्जित गुण हो गयी है। जितना ही अधिक अर्जित गुण होगा, विवाह के लिए ऐसे वरों की माँग भी उतनी ही अधिक होगी। अब धर्म या जाति के आधार पर माँग बढ़ने की सम्भावना नहीं रही। अब लड़कियों को उच्च शिक्षा ऊँची जाति के लोगों द्वारा दी जा रही है। विवाह की आयु भी इसी कारण अधिक बढ़ती जा रही है। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि स्त्री-शिक्षा के कारण स्त्रियों के कर्मकाण्ड तथा पवित्रता के निर्धारक स्थान रसोईघर का अतिक्रमण हुआ है। पहले लड़कियाँ अपनी माँ के साथ रसोईघर तथा उसके आसपास के कार्यों को करती थीं; उन्हें जाति, पवित्रता तथा अपवित्रता के नियमों की जानकारी होती थी। वे अपने पति, सास, श्वसुर तथा अन्य गुरुजनों का सम्मान करती थीं तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करती थीं। लेकिन अब उनके इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। उनमें अब नये-नये विचार तथा नयी आकांक्षाएँ आ रही हैं। उचित वर न मिलने के कारण; लड़कियों की शिक्षा अनिश्चित काल तक चलती रहती है। अधिकांश लड़कियाँ इसी कारणवश नौकरी कर लेती हैं। यही कारण है कि परिवारों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में मूलभूत परिवर्तन हो रहा है। अब परिवार की स्त्रियाँ पारिवारिक परम्परा और जाति-सम्बन्धी रीति-रिवाजों की सबल रीढ नहीं रहीं। धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव धार्मिक त्योहारों पर भी पड़ा है, जैसे होली का त्योहार सभी जातियों के लोग मनाते हैं। तीर्थयात्राएँ भी अब लोकप्रिय होती जा रही हैं। इसका एक कारण यह भी है कि लोग अब देशाटन तथा व्यापार के लिए इन तीर्थ स्थानों में जाने लगे हैं। पहले विदेश-गमन को हेय दृष्टि से देखा जाता था, वापस लौटने पर प्रायश्चित करना होता था, लेकिन धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण विदेश-गमन एक आवश्यक योग्यता माना जाता है। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि आधुनिक तीर्थयात्राओं में धार्मिक भावना सर्वथा अनुपस्थित नहीं तो अत्यन्त क्षीण अवश्य होती है और ये यात्रायें केवल भ्रमण तथा देशभक्ति के साथ 'दर्शनीय स्थानों की सैर' के अवसर जुटाती हैं।....शहरों में पढ़े-लिखे लोग कम से कम एक बार तिरुपति, बनारस तथा हरिद्वार तक अवश्य घूम आते हैं। मिल्टर सिंगर ने लिखा है कि 'सामूहिक माध्यमों के प्रभाव ने पारम्परिक धार्मिक संस्कृति का लौकिकीकरण इतना नहीं किया है जितना उनका जनवादीकरण किया है।' प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि अब धार्मिक कथाओं तथा पौराणिक [illegible] जा रहा है। अब धार्मिक [illegible] किया जा रहा है जिन्हे पहले [illegible] ेक्षीकरण का परिणाम है। आकाशवाणी से रोज सवेरे भक्ति संगीत और कभी-कभी हरिकथा का प्रसारण होता है। बहुत-सी फिल्मों की कथावस्तु महाकाव्यों से ली जा रही है। ब्राह्मणों के परम्परागत पेशे में परिवर्तन देखने को मिल रहा है। पुरोहितों के प्रभुत्व तथा प्रतिष्ठा में ह्रास हुआ है। प्रचलित यज्ञों, विश्वासों तथा व्यवहारों में भी परिवर्तन हो रहा है। 'पिछले कुछ दशकों में प्रौद्योगिकी, इंजीनियरी, चिकित्सा-विज्ञान और आमतौर पर विज्ञानों की प्रतिष्ठा बढ़ी है और मानविकी विद्याओं की प्रतिष्ठा कम हुई है।' यह स्थिति धर्मनिरपेक्षीकरण का परिणाम है। प्रो० श्रीनिवास का मत है कि 'पुरोहितों के प्रभुत्व और प्रतिष्ठा के क्रमशः क्षीण होने तथा पुरोहितों के धर्म-

निरपेक्षीकरण ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं जिनमें पुरोहितों को धार्मिक और सामाजिक सुधार के मामले में पहल करने का कोई साहस नहीं रहा। उनके पास न तो इतनी बौद्धिक क्षमता है और न सामाजिक प्रतिष्ठा कि हिन्दू धर्म की ऐसी पुनर्व्यवस्था का भार उठायें जो आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल हों। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही ऐसी पुनर्व्यवस्था पश्चिमीकृत हिन्दू अभिजन द्वारा ही हुई है। ये अभिजन कर्मकाण्ड-विरोधी रहे हैं और उनमें प्रचलित यज्ञों, विश्वासों और व्यवहारों पर नाक-भौं चढ़ाने की प्रवृत्ति रही है। इस कारण हिन्दू धर्म का बहुत-सा कर्मकाण्डी तत्त्व निकल गया है।'

(3) ग्रामीण समुदाय, जाति तथा संयुक्त परिवार-प्रणाली पर प्रभाव—धर्मनिरपेक्षीकरण ने ग्रामीण समुदाय, जाति तथा परिवार-प्रणाली को भी प्रभावित किया है। भारतीय सामाजिक संगठन के प्रमुख आधार यही तीन (ग्रामीण समुदाय, जाति, संयुक्त परिवार) रहे हैं और अब उनमें परिवर्तन धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण हो रहा है। यही कारण है कि यहां का सामाजिक संगठन भी परिवर्तित हो रहा है। पहले राजाओं तथा समाज के बड़े लोगों द्वारा इन सामाजिक इकाइयों की विशेषताओं को बनाये रखने में भरपूर मदद की जाती थी। लेकिन चूंकि अब राजे नहीं रहे अतः *राज-समर्थन के अभाव में इन तीनों इकाइयों में मूलभूत परिवर्तन हो रहा है।* यातायात तथा संचार साधनों में विकास के कारण, सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई है, जिसके परिणामस्वरूप अब जाति-व्यवस्था उन मूल्यों को कायम नहीं रख पा रही है, जो परम्परा से हिन्दू धर्म के आवश्यक अंग के रूप में प्रतिष्ठित थे। ग्रामीण समुदायों में भी सामुदायिक विकास-योजनाओं तथा अन्य विकास-कार्यक्रमों के कारण, ग्रामीण व्यक्तियों की अकांक्षायें बदलती जा रही हैं। अब ग्रामीण समुदायों में भी विभिन्न जातियों के सदस्यों के बीच खान-पान पर पहले-जैसा प्रतिबन्ध नहीं रहा। रूथ बेनडिक्स ने लिखा है कि ग्रामीण समुदायों में अब शिक्षा और अच्छी जिन्दगी की इच्छा व्यापक है और बहुसंख्यक लोग अब अपने पूर्वजों की भाँति रहने को तैयार नहीं। उच्च जातियों तथा अछूतों के बीच, जमींदारों और काश्तकारों के बीच, दकियानूसियों और प्रगतिशीलों के बीच तथा प्रतिद्वन्द्वी गुटों के बीच संघर्ष की रंगभूमि बनी हुई है। हर जगह सामाजिक जीवन पहले की अपेक्षा अधिक उन्मुक्त है, क्योंकि अपवित्रता की धारणाओं का जोर कुछ कम हो गया है। यह धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रभाव है कि गाँव वाले कुओं, सड़कों, अस्पतालों तथा बिजली की माँग करने लगे हैं। संयुक्त परिवार-प्रणाली के स्थान पर अब एकाकी परिवार को अधिक श्रेयस्कर माना जा रहा है। प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि धर्मनिरपेक्षीकरण-की-प्रक्रिया, जो इन तीनों संस्थाओं को *प्रभावित कर रही है, वह भारत में अंग्रेजी राज्य से प्रारम्भ* हुई थी। समय के साथ-साथ यह अधिक व्यापक तथा गहरी हुई है। हिन्दू धर्म अधिकाधिक, यद्यपि धीमी गति से, अपनी जाति, सगोत्रता और ग्रामीण समुदाय वाले पारम्परिक सामाजिक ढाँचे से अलग होता जा रहा है और राज्य, राजनीतिक दलों तथा भारतीय संस्कृति के प्रोत्साहन-संगठनों से जुड़ता जा रहा है। पारम्परिक सामाजिक संस्थाओं, जैसे मठों, मन्दिरों, सन्तों के पन्थों, भजनमण्डलियों और तीर्थ-यात्राओं में लचीलापन और नयी परिस्थिति के अनुरूप ढलने की क्षमता दिखाई पड़ी है। फिल्म, रेडियो, पुस्तकें, समाचार-पत्र जैसे *सामूहिक माध्यम हिन्दू धर्म को हिन्दू* के सभी वर्गों तक [illegible] मे योग दे रहे हैं, और लोकप्रिय बनने की इस प्रक्रिया

में ही धर्म की पुनर्व्यवस्था कर रहे हैं।

(4) मठों तथा मठाधिपतियों पर प्रभाव—धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया ने धार्मिक संस्था मठ तथा उनके संचालकों को भी प्रभावित किया है। मठ सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन के रूप में अधिक प्रभावकारी रहे हैं। मठाधिपतियों का आदेश अन्तिम माना जाता था। अतः इस स्थिति से लाभ उठाकर कभी-कभी वे ऐसे कार्यों को करते थे जिन्हें सामाजिक हित मे अनुचित कहा जा सकता है। पहले धर्म के नाम पर सम्पत्ति का दुरुपयोग होता था। राजे-महाराजे, सेठ-साहूकार प्रत्येक अन्याय और शोषण के बदले कुछ धन इन धार्मिक संस्थाओं को दे देते थे और उनके पाप का प्रायश्चित्त हो जाता था। लेकिन अब धर्मनिरपेक्षीकरण के प्रभाव के कारण वह स्थिति नहीं रही। 'धर्मनिरपेक्षीकरण और राजनीतिकरण ने मठो और मठाधिपतियों को भी प्रभावित किया है।' शिक्षित हिन्दुओं में यह भावना बढ़ी है कि इन संगठनों की सम्पत्ति और प्रतिष्ठा का जनता के सामाजिक कल्याण और शिक्षा के लिए उपयोग होना चाहिए। अब राज्य विधान सभाओं ने मन्दिरों और मठों के प्रबन्ध के लिए कानून बना दिये है जिनका अधिक विरोध जनता ने नही किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मनिरपेक्षीकरण के कारण अब उन सभी व्यवहारों के करने पर बल दिया जा रहा है जिसे पहले अनुचित कहा जाता था। जैसे धार्मिक सम्पत्ति का प्रयोग पहले पाप माना जाता था लेकिन अब वह स्थिति नही रही।

उपसंहार

अतः हम देखते हैं कि भारतवर्ष जो एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है, विभिन्न कानूनों के माध्यम से उन सभी व्यवहारों को सशोधित तथा परिवर्तित कर रहा है जिसे पहले धार्मिक कहकर प्रयोग में रखा जाता था। इस स्थिति के कारण सामाजिक सम्बन्ध परिवर्तित हो रहे हैं जिसे सामाजिक परिवर्तन से व्यक्त किया जाता है। एम० एन० श्रीनिवास ने लिखा है कि 'सरकार भी कानून तथा अन्य उपायो द्वारा हिन्दू धर्म के आधुनिकीकरण में महत्त्वपूर्ण योग दे रही है। ऐसा वह इस तथ्य के बाद कर रही है कि संविधान भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करता है। अस्पृश्यता के विरुद्ध कानून पास हो चुका है। हिन्दुओं के वैयक्तिक पारिवारिक कानूनो में परिवर्तन किये गये हैं। एक से अधिक विवाह कानून द्वारा दण्डनीय है; तलाक और अन्तर्जातीय विवाह तथा विधवा-विवाह की अनुमति है और विधवाओं तथा पुत्रियों को पूर्वजों की अचल सम्पत्ति मे हिस्सा दिया गया है।' ये सभी परिवर्तन धर्मनिरपेक्षीकरण का परिणाम हैं जिससे भारतीय समाज प्रभावित होकर परिवर्तित हो रहा है।

बारहवाँ अध्याय

नियोजित सामाजिक परिवर्तन

आधुनिक युग एक संक्रमण का युग है। समाज में परिवर्तन इतनी तीव्र गति से हो रहा है कि उसको ठीक प्रकार से नियन्त्रित कर सकना प्रत्येक समाज के लिए सम्भव नहीं। प्रत्येक देश के सामने यह समस्या है कि किस प्रकार सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा किया जाये। औंये दिन जिस अनुपात में आवश्यकताएँ बढ़ रही हैं, उस अनुपात में साधनों की वृद्धि सम्भव नहीं। अतः समाज के सभी व्यक्ति अब इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि किस प्रकार इन सीमित साधनों का प्रयोग किया जाय ताकि निरन्तर मानव आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। सामाजिक नियोजन के अन्तर्गत समाज के साधनों को एकत्रित करके उन्हें इस प्रकार सुसंगठित किया जाता है ताकि सामाजिक प्रगति हो सके। सामाजिक प्रगति से तात्पर्य ऐसे परिवर्तनों से है जो एक निश्चित दिशा में हों।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत ने अपने सन्मुख यह उद्देश्य रखा कि देश में समाजवादी समाज की व्यवस्था होगी। समाजवादी समाज की स्थापना ही सामाजिक प्रगति का मापदण्ड होगा जिसकी प्राप्ति नियोजन पर आश्रित है। नियोजन के द्वारा ही व्यक्ति प्राकृतिक पर्यावरण पर नियन्त्रण करने में कुछ हद तक सफल हो रहा है। नियोजित सामाजिक व्यवस्था आज प्रत्येक जागरूक समाज का एक अभिन्न अंग हो गई है। आज शायद ही कोई ऐसा राष्ट्र हो जहाँ सामाजिक नियोजन का कार्यक्रम न चल रहा हो। सामाजिक नियोजन जो आधुनिक समाज का अभिन्न अंग बन गया है आज के विश्व की सार्वभौम विशेषता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी गतिविधियों तथा कार्यक्रमों को आज बहुत सोच-विचार कर तथा एक निश्चित योजना के अनुसार करता है, ताकि उसे अधिक सफलता तथा संतोष प्राप्त हो सके। व्यक्ति मानसिक उलझनों तथा शारीरिक कष्टों से त्राण पा सके है। अतः नियोजन के अन्तर्गत एक कार्यक्रम बनाकर साधनों के अनुसार उन्हें व्यावहारिक रूप दिया जाता है। ताकि उनसे साधनों से अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके।

समाज में जो नियोजनकर्ता (Planners) है, चाहे वे सरकारी क्षेत्र से सम्बन्धित हों अथवा निजी क्षेत्र से उन्हें नियोजन का अर्थ बतलाना चाहिए। उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नीति निर्धारित कर उस लक्ष्य की तरफ चलना चाहिए। यह लक्ष्य एक ऐसे वर्गविहीन समाज की स्थापना से सम्बन्धित हो सकता है जिसमें वस्तुओं का उचित वितरण होगा, साधनों का अपव्यय नहीं होगा और सभी वर्गों के समान विकास के लिए एक समुचित कार्य-क्रम की स्थापना हो सकेगी। नियोजन का उद्देश्य किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति से होता है। ये लक्ष्य ही सामाजिक प्रगति के होते हैं। आजकल सामाजिक पुनर्निर्माण का कार्य भी नियोजन के द्वारा किया

जाता है। एक दृष्टिकोण से यह विदित होता है कि नियोजन का उद्देश्य सामाजिक प्रगति तथा सामाजिक पुनर्निर्माण है।

आज विश्व के सभी समाजों में सामाजिक नियोजन पाया जाता है। आज से कुछ ही समय पूर्व तक यह सोचा जाता था कि आर्थिक नियोजन ही सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है लेकिन अब यह सर्वमान्य धारणा हो गई है कि केवल आर्थिक पहलू में विकास ही सामाजिक प्रगति का वास्तविक मापदण्ड नहीं है। सामाजिक प्रगति तथा सामाजिक कल्याण के अन्तर्गत व्यक्तियों के विचारों तथा सोचने-समझने के तरीकों में भी नये सामाजिक मूल्यों के अनुसार परिवर्तन आवश्यक है। यह स्थिति सामाजिक नियोजन से प्राप्त हो सकेगी।

व्यक्तियों के सामाजिक जीवन पर उनके मनोवैज्ञानिक तथा मानसिक स्तर का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि अब नियोजन का कार्यक्रम तैयार करते समय समाजशास्त्रीय पहलुओं पर अधिक ध्यान दिया जाता है। चाहे विकसित देश हो अथवा अर्द्धविकसित, दोनों में ही समाजशास्त्रीय तत्त्वों का उपयोग सामाजिक नियोजन के लिए किया जा रहा है। सामाजिक नियोजन हो अथवा पूरी तरह आर्थिक नियोजन दोनों ही में इन समाजशास्त्रीय अध्ययनों का प्रयोग किया जाता है। टी० बी० बोटोमोर ने लिखा है कि 'सभी आधुनिक समाजों में कुछ न कुछ अंशों में सामाजिक नियोजन पाया जाता है। आधुनिक समय तक साधारणतया केवल आर्थिक नियोजन तथा आर्थिक क्रिया के नियन्त्रण के बारे में सोचा जाता था। समाजशास्त्रियों का इस क्षेत्र में बहुत कम योगदान था। यही बात अल्पविकसित देशों की भाँति वहाँ भी पायी जाती है जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से अधिक विकसित हैं। परन्तु समाजशास्त्रीय ज्ञान की महत्ता तथा औचित्य अब अधिक व्यापक रूप से स्वीकार किया जा रहा है और अब आर्थिक वृद्धि के सामाजिक पहलू पर पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। यहाँ तक कि अर्थशास्त्री जो उन्नति की समस्याओं से सर्वाधिक सम्बद्ध रहे हैं, अब विस्तृत रूप से समाजशास्त्रीय सिद्धान्त तथा शोध की ओर आकर्षित हो रहे हैं।

कार्ल मैनहीम ने लिखा है कि पिछली दशाब्दी के परिवर्तनों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि आधुनिक युग मे प्रत्येक समाज के लिए नियोजन आवश्यक तथा अवश्यम्भावी है। इस नियोजन का रूप तानाशाही व्यवस्था से भिन्न होगा। एक नियोजित सामाजिक व्यवस्था में व्यक्तियों के स्वार्थ दबाये नहीं जाते जबकि तानाशाही व्यवस्था में व्यक्तियों की सभी स्वतन्त्रताएँ समाप्त हो जाती हैं और जो कुछ भी नियोजन के कार्यक्रम चलते हैं, वे दोषयुक्त हो जाते हैं। आधुनिक समाज के प्रौद्योगिक एवं संरचनात्मक आधार पूर्णतया परिवर्तित हो चुके हैं। मैनहीम ने लिखा है कि अब इसमे चुनाव करने की आवश्यकता नही कि पूँजीवाद ही कायम रहेगा अथवा नियोजन होगा बल्कि अब तो अच्छे तथा बुरे नियोजनों में से चुनाव करने का प्रश्न है।

सामाजिक नियोजन का अर्थ

सामाजिक नियोजन से तात्पर्य उन कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने से है जिससे कि सामाजिक लक्ष्यों की अधिकतम पूर्ति हो सके। आज समाज के प्रत्येक भाग में पुनर्निर्माण का कार्य आयोजन पर आधारित है। आगे आने वाली परिस्थिति किस प्रकार की होगी, इसका पूर्वानुमान करके, कार्यक्रम बनाने की विधि नियोजन

में सन्निहित है। नियोजन के अन्तर्गत उन सभी कार्यक्रमों को सम्मिलित किया जाता है जिसके द्वारा उपस्थित समस्याओं का समाधान करके भविष्य के लिए कल्याणकारी कार्यक्रम प्रस्तुत किये जा सकें। यह बात अवश्य है कि नियोजन के सिद्धान्तों का प्रयोग परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिए। जेविंग ने लिखा है कि नियोजन के सिद्धान्त उसी हद तक प्रयोग किये जाने चाहिए जिस हद तक इनकी आवश्यकता है। जिस प्रकार एक दवा के उचित मात्रा के सेवन से एक रोगी निरोग हो जाता है लेकिन उसी दवा के अधिक प्रयोग से वह रोगी मर भी सकता है उसी प्रकार नियोजन का प्रयोग भी उसी अंश तक तथा उन्ही क्षेत्रों मे करना चाहिए जहां तक इसकी आवश्यकता है।

भारत सरकार के योजना आयोग (Planning Commission) के अनुसार वास्तविक रूप में आयोजन सुनिश्चित सामाजिक लक्ष्यों की दृष्टि से अधिकतम लाभ उठाने के लिए अपने साधनों को संगठित कर प्रयोग करने की विधि है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नियोजन के अन्तर्गत दो तत्वों का समावेश होता है—

(1) सुनिश्चित सामाजिक लक्ष्य—जो समाजिक मूल्यों पर आधारित होते हैं।

(2) उचित उपलब्ध साधनों का प्रयोग। केवल साधनों की पर्याप्तता से ही सामाजिक कल्याण नही हो सकता जब तक कि उसका उचित प्रयोग नही हो जाता। अत: नियोजन के अन्तर्गत सामाजिक साधनों का उचित प्रयोग आवश्यक है।

कार्ल मैनहीम ने नियोजन को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'हम लोग नियोजन तथा नियोजित चिन्तन से तात्पर्य मानव तथा समाज के उस विकास से लगाते है जो जानबूझ कर किया जाता है तथा जिसमे विभिन्न वस्तुओं तथा संस्थाओं का सम्बन्ध अधिक व्यवस्थित हो जाता है।' नियोजन की परिभाषा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अधिक महत्त्वपूर्ण मालूम होती है। नियोजन के द्वारा ही वर्तमान सामाजिक सम्बन्धों तथा इच्छित सामाजिक सम्बन्धों के बीच की दूरी कम की जा सकती है। समाज में उपलब्ध सभी आवश्यक तत्त्व तथा कारक इस प्रकार प्रयोग मे लाये जाते है जिससे कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति सफलतापूर्वक हो सके।

विभिन्न परिभाषाओं को देखने के पश्चात् अब हम कह सकते है कि आर्थिक नियोजन और सामाजिक नियोजन में एक अटूट सम्बन्ध है। आर्थिक नियोजन का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक जीवन के आर्थिक पहलू का विकास करना है जबकि सामाजिक नियोजन के अन्तर्गत सामाजिक जीवन के समस्त पहलुओ का विकास सम्मिलित है जिसमे आर्थिक पहलू भी सम्मिलित हैं। अत: 'सामाजिक नियोजन सरकारी तथा गैर-सरकारी साधनों द्वारा किया गया वह कार्यक्रम है जिससे कि *सामाजिक कल्याण और सामाजिक पुनर्निर्माण के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सके।*'

सामाजिक नियोजन का उद्देश्य

जैसा कि उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक नियोजन सम्पूर्ण सामाजिक सगठन में होने वाला नियोजन है। सामाजिक नियोजन के द्वारा सामाजिक संगठन के विभिन्न भागो जैसे, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि में समान रूप से विकास किया जाता है। सामाजिक नियोजन का प्रमुख उद्देश्य विभिन्न सामाजिक समस्याओं का समाधान कर, समस्त सामाजिक सदस्यो के लिए प्रगति का समान ~ प्रदान करना है। मुख्य रूप से सामाजिक नियोजन के प्रमुख उद्देश्य निम्न-

लिखित हैं—

(1) समाज कल्याण (Social Welfare),

(2) सामाजिक पुनर्निर्माण (Social Reconstruction),

(3) सामाजिक स्थायित्व (Social Stability), तथा

(4) व्यक्तित्व का विकास (Enrichment of Human Personality)।

नियोजन में निरोधात्मक तथा निर्माणात्मक (Preventive and constructive) दोनों ही साधनों का सहारा लिया जाता है। आधुनिक समाजों में नियोजन का वही तरीका अधिक उपयुक्त माना जाता है जिसमें ये दोनों तत्त्व पाये जाते हैं। मैनहीम ने लिखा है कि 'सामाजिक नियोजन का प्रमुख उद्देश्य पुनर्निर्माण है जिसकी प्राप्ति सामाजिक व्यक्तियों की कमियो को दूर करने के बाद ही की जा सकती है।' इसके लिए निम्नलिखित तीन तत्त्व आवश्यक हैं—

(1) मानवी उद्देश्यों का पुनर्विवेचन (Re-interpretation of human aims)।

(2) मानवीय क्षमताओं का स्थानापन्नीकरण (Transformation of human capacities)।

(3) नैतिक सहिताओं का पुनर्निर्माण (Reconstruction of moral codes)।

अन्य विचारकों, जैसे—स्पेन्सर तथा कोम्ट के अनुसार सामाजिक नियोजन का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रम को क्रियाशील रखने से है जिसके निम्नलिखित उद्देश्य है—

(1) समाज के सभी व्यक्तियों के लिए जीविकोपार्जन तथा आत्मविकास के लिए समान अवसर प्रदान करना।

(2) आर्थिक असमानता को दूर कर, अविकसित क्षेत्रों का विकास करना और इस प्रकार उस समाज के सदस्यों के लिए शिक्षा, चिकित्सा, आवास तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं को प्रदान करना।

(3) समाज के पिछड़े वर्गों तथा शारीरिक और मानसिक रूप से कमजोर लोगों के उत्थान के लिए विभिन्न कार्यक्रम बनाकर उसे कार्यान्वित करना।

(4) समाज से गन्दगी, अज्ञानता, कमी, बेकारी तथा बीमारी को दूर करना।

(5) समाज के सभी व्यक्तियों के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना।

योजना के उद्देश्यों को परिभाषित करते हुए कार्ल मैनहीम ने लिखा है कि कि किसी भी योजना के दो मुख्य उद्देश्य (objectives) होते हैं :

(i) नियोजन में किसी प्रकार का विरोध नही होना चाहिए (The plan must be consistent)। इसके अन्तर्गत रोजगार, सामाजिक सुरक्षा तथा अवसरों की समानता का प्रबन्ध होना चाहिए ताकि सामाजिक सरचना को अधिक अशों में संगठित रखा जा सके।

(ii) नियोजन अधिकांश लोगों को स्वीकार होना चाहिए (The plan must be acceptable to a majority)। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब साधारणतया सभी प्रमुख समस्याओं तथा सिद्धान्तों के बारे में लोगों का एक मत होगा। नियोजन का यह उद्देश्य होना चाहिए कि जब कभी भी सदस्यों के बीच किन्हीं मूलभूत सिद्धान्तो के ऊपर मतभेद हो तो उन्हें आपस मे शान्तिपूर्वक समझौता

कर लेना चाहिए।

विभिन्न समाजशास्त्री इस बात से सहमत हैं कि नियोजन का अन्तिम उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का कल्याण होना चाहिए। सम्पूर्ण समाज का कल्याण तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य मे परिवर्तन (transformation of man) किया जाय। मनुष्य मे परिवर्तन से तात्पर्य व्यक्ति के विचारों में ऐसे मूलभूत परिवर्तनों से है जिससे कि वे ऐसे सामाजिक मूल्यों के अनुरूप व्यवहार कर सामाजिक सगठन की दृढ़ता को बनाये रख सके। मानवीय शक्ति को एक उचित दिशा नियोजन के द्वारा प्राप्त होती है जिसका मुख्य उद्देश्य समाजों को इस प्रकार संगठित करना है जिससे कि वे अपना विकास स्वयं निरन्तर कर सकें। नियोजन के उद्देश्यों के अन्तर्गत इस बात पर विशेष बल दिया जाता है कि एक समाज अपने साधनों का विकास इस प्रकार करे जिससे कि सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक गति उस समाज से ही प्राप्त हो सके और इस प्रकार एक स्वचालित (self-sustaining) गति निरन्तर उत्पन्न होती रहे जिससे कि समाज प्रगति कर सके। सामाजिक नियोजन के अन्तर्गत बेकारी, बीमारी, कुशिक्षा, प्राकृतिक आपत्तियो आदि को दूर करने के साथ-साथ मानवीय साधनों का समुचित विकास करना है। भौतिक समृद्धि के विकास से ही सामाजिक कल्याण सम्भव नही। सामाजिक कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तियों की मनोवृत्तियो मे परिवर्तन हो। उनमे यह भावना आनी चाहिए कि समाज का प्रत्येक सदस्य उनके अपने परिवार के सदस्य जैसा ही है। अतः जिस व्यक्ति की जो योग्यता हो उसी के अनुरूप उन्हें सामाजिक पद प्राप्त होना चाहिए। सामाजिक प्रगति मे प्रत्येक सदस्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार भाग ले, इसका परीक्षण भी सामाजिक नियोजन का उद्देश्य होना चाहिए। सामाजिक नियोजन का एक अन्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि समाज में क्या उपलब्ध है और सामाजिक आवश्यकता क्या है—इन दोनो के बीच की दूरी को कम किया जाना चाहिए। उपलब्ध साधनों के द्वारा सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति भी नियोजन का एक उद्देश्य है। जैसे-जैसे सामाजिक प्रगती बढती जायेगी, समाज मे उन क्षेत्रों तथा उन व्यक्तियों का फिर से विकास करना जो किन्हीं कारणों से विघटित हो गये हैं अथवा उनका विकास जो अविकसित है, नियोजन के उद्देश्यों के अन्तर्गत आता है। ग्रामीण समुदायों का विकास तथा पुनर्गठन भी सामाजिक नियोजन का एक उद्देश्य है।

भारतीय समाज के लिए यह उद्देश्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। डॉ० एस० सी० दुबे की पुस्तक 'Indian Changing Villages' का हवाला देते हुए बोटोमोर ने अपनी पुस्तक 'Sociology' में लिखा है कि सामाजिक नियोजन का उद्देश्य सामाजिक संगठन, प्रवृत्तियों तथा व्यक्तियों के मूल्यों का चित्रण करने के अतिरिक्त उसे परिवर्तन के प्रेरकों तथा प्रवृत्तियों पर अधिक बल देना है। उन समूहो को जानने का प्रयास किया जाना चाहिए जो कि ग्रामीण समुदायो में परिवर्तन के माध्यम तथा वाहक है। विचारो व नवीनताओं के बारे मे बाह्य विश्व द्वारा प्रस्तुत की गई चयन की समस्या की स्वीकृति भी जाँच-पड़ताल के बाद की जानी चाहिए। ग्रामीण समुदायों में नेतृत्व तथा नीति-निर्धारण के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों पर प्रकाश विभिन्न शोध-कार्यों पर आधारित होना चाहिए। इस सम्बन्ध में समूह की गतिशीलता की समस्या तथा वर्गवाद का भी आलोचनात्मक विश्लेषण होना चाहिए। सहकारी कार्यों के . . रूप के गम्भीर अध्ययन किये जाने की भी आवश्यकता है। ग्रामीण

भारत मे स्थित संचार के साधनों को ढूंढ़ निकालना तथा संचार के अभिकरणों को विभिन्न श्रेणियों के कार्य तथा प्रस्थिति का मूल्यांकन करना आवश्यक है। यह पता लगाना आवश्यक है कि इन समुदायो मे किस प्रकार के विषय-वस्तु तथा अनुरोध प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य करते हैं। ग्रामीण समुदायों में संचार-व्यवस्था की इन प्रतिक्रियाओ का सावधानी से मूल्याकन किया जाना भी अत्यन्त आवश्यक है। स्कूली शिक्षा का आधुनिक विचारों के प्रचार तथा प्रसार में योगदान भी मूल्यांकन करने योग्य है। इस क्षेत्र मे भी अनुभवी शोध-कार्य तथा उसके प्रभावकारी प्रसार-कार्यक्रम आवश्यक हैं। सामाजिक वैज्ञानिक सामुदायिक विकास आन्दोलन मे विशिष्ट परियोजनाओं, क्षेत्रीय अवस्थाओं के अनुभवी वैयक्तिक अध्ययन के द्वारा उपयोगी योगदान कर सकते हैं। ग्रामीण कल्याणकारी कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण कार्यक्रम भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। वैयक्तिक अध्ययन (case study method) के द्वारा जटिल प्रवृत्तियों, विश्वासों तथा मूल्यो का अध्ययन होना चाहिए तथा प्रत्येक विशिष्ट क्षेत्रीय अवस्था में उनकी भूमिका का मूल्याकन कर सामाजिक समस्या के निराकरण का प्रबन्ध होना चाहिए।

सामाजिक नियोजन का एक उद्देश्य यह भी होना चाहिए कि ग्राम-स्तरीय कार्यकर्त्ताओं तथा अन्य योजनाओं से सम्बन्धित अधिकारियो का प्रशिक्षण समाजशास्त्रीय ज्ञानों पर आधारित होना चाहिए। बोटोमोर ने लिखा है कि 'भारत में आर्थिक समस्या मुख्य है।' अतः समाजशास्त्री कृषि सम्बन्धी तथा औद्योगिक उत्पादन मे परम्परागत संस्कृति, जाति तथा परिवार विघटन की जाँच तथा विशिष्ट नियोजित परियोजनाओं में वांछित उद्देश्यों के प्रभावपूर्ण तरीकों के अध्ययन से सर्वाधिक उपयोगी व्यावहारिक योगदान दे सकते है। जनसख्या में तीव्र वृद्धि के आर्थिक तथा सामाजिक प्रभावों तथा ऐसी वृद्धि को नियन्त्रित करने के तरीकों को खोज निकालना भी उनका कर्त्तव्य है। सामाजिक नियोजन के कार्यक्रमों को बनाते समय समाजशास्त्रियों को अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों, जनसंख्यकों, नेतृत्वशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों के साथ सहयोग की आवश्यकता होगी तथा उन्हे उन विधियों पर ध्यान देना होगा जिनसे यह सहयोग सर्वाधिक प्रभावपूर्ण बन सकता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है सामाजिक नियोजन का उद्देश्य समाज के सभी पहलुओं का विकास करना है। अत: सभी पहलुओ के संतुलित विकास के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न पहलुओं के विशेषज्ञों से विशेष राय लेकर उसके विकास के कार्यक्रम बनाये जायें।

आजकल औद्योगिक समाजों में तथा उन समाजों मे जहाँ औद्योगीकरण हो रहा है बेकारी, बीमारी (जिसमे मानसिक बीमारी प्रमुख है), असन्तोष आदि अनेक समस्याएँ उपस्थित हो रही हैं जिसका समाधान सामाजिक नियोजन के द्वारा ही सम्भव है।

बोटोमोर ने लिखा है कि 'सामाजिक नियोजन का उद्देश्य मानवीय स्वतन्त्रता तथा बौद्धिकता में विकास करना है जिसके लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं।' अत: हम देखते हैं कि सामाजिक नियोजन जिसका प्रमुख उद्देश्य सामाजिक व्यक्तियो के समस्त पहलुओं का विकास करना है, पूर्णतया समाजशास्त्रीय ज्ञानों पर आधारित है।

उपर्युक्त मतो का विवेचन करने के पश्चात् अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते

हैं कि सामाजिक नियोजन के निम्नलिखित पांच तत्त्व हो सकते हैं :

(1) सामाजिक कल्याण (Social Welfare),

(2) सामाजिक पुनर्गठन (Social Reorganisation),

(3) व्यक्ति का परिवर्तन (Transformation of man),

(4) योजना सभी लोगों को स्वीकार हो (Plan must be acceptable to people),

(5) योजना में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं होना चाहिए (The Plan must be consistent) ।

समाज कल्याण (Social Welfare)

आधुनिक समय मे प्रत्येक समाज की यह मूलभूत आवश्यकता है कि वह कल्याणकारी राज्य की स्थापना करे । टी० एच० मार्शल ने लिखा है कि 'कल्याणकारी राज्य की विशिष्ट विशेषता राज्य के माध्यम से कार्य करते हुए समुदाय द्वारा उन साधनों को एकत्रित करने की जिम्मेदारी को निभाना है जिससे कि उसके सभी सदस्य स्वास्थ्य, आर्थिक सुरक्षा तथा सभ्य प्राणी के न्यूनतम मानों तक पहुँच सकें और अपनी क्षमतानुसार सामाजिक और सांस्कृतिक विरासत में भाग ले सकें ।'

भारतीय सविधान मे वर्णित मौलिक अधिकारो (Fundamental Rights) और राज्य नीति के निर्देशक सिद्धान्तों *(Directive Principles of State Policy)* दोनों ही में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो जिसके लिए सामाजिक नियोजन आवश्यक है । भारतीय सविधान मे उल्लिखित कल्याणकारी सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(1) भारतीय सविधान की धारा 3 के अनुसार, राज्य इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करेगा जिसमे सभी को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय प्राप्त हो सकेगा ।

देश के सभी नागरिको को, चाहे वे स्त्री हो अथवा पुरुष जीविकोपार्जन का समुचित अवसर मिलेगा । भौतिक साधनों का प्रयोग इस प्रकार होगा जिससे समाज का अधिकतम लाभ हो सके । पुरुष और स्त्री दोनों को ही समान काम के लिए समान मजदूरी मिले । समाज की आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार की हो जिससे कम आयु के लोगो को वह काम न करना पड़े जो उनकी आयु के लिए उचित नहीं है । समाज के सभी सदस्यों, विशेषकर बालकों तथा तरुणों के नैतिक पतन को रोका जाना चाहिए ।

(2) सविधान के 41वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि राज्य अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार अपने सदस्यों की बीमारी, बेकारी तथा वृद्धावस्था मे मदद करेगा ।

(3) सविधान के 42वें अनुच्छेद में लिखा है कि राज्य ऐसी व्यवस्था करेगा जिससे लोगो को मानवोचित तथा न्यायोचित दशाएँ प्राप्त हो सकें ।

(4) अनुच्छेद 45 में लिखा हुआ है कि इस सविधान के शुरू होने के दस वर्ष के अन्दर राज्य 14 वर्ष तक की आयु के सभी बालक तथा बालिकाओं को निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा ।

(5) अनुच्छेद 46 के अनुसार राज्य अनुसूचित जातियों तथा पिछड़ी हुई [illegible] के आर्थिक तथा बौद्धिक विकास का प्रयत्न करेगा ।

समाज कल्याण के विषय में गांधी जी का मत

महात्मा गांधी के अनुसार कल्याणकारी राज्य के लिए निम्नलिखित तत्त्व आवश्यक हैं—

(1) राज्य को जनता के सर्वांगीण विकास पर ध्यान देना चाहिए। यह तभी सम्भव हो सकता है जब सरकार अपने को जनता का सेवक समझेगी, उसका स्वामी नहीं।

(2) राज्य का प्रत्येक प्रयत्न जनता को स्वावलम्बी बनाना है। आत्मनिर्भरता ही प्रगति का मुख्य मापदण्ड होना चाहिए।

(3) राज्य की शक्ति, राष्ट्रीय धन तथा उत्पादन के साधनों का विकेन्द्रीकरण (decentralisation) होना अति आवश्यक है। इसके लिए व्यक्तियों का हृदय परिवर्तन आवश्यक है। साधनों के विकेन्द्रीकरण के द्वारा ही धनी तथा निर्धन वर्गों के बीच की दूरी को कम किया जा सकता है।

(4) अहिंसा के आधार पर समाज का प्रत्येक कार्य होना चाहिए।

(5) शासन की इकाई गाँव स्वय हो। ग्रामीण जीवन के पुनरुत्थान पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(6) व्यक्तियों का बौद्धिक विकास आवश्यक है; इसके लिए सामाजिक शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास सम्भव हो सकता है।

(7) पिछड़े हुए वर्गों के उद्धार की विशेष व्यवस्था होनी चाहिए।

(8) स्त्रियों के विकास का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए क्योंकि नारी जाति का कल्याण राष्ट्रीय-कल्याण का मूल आधार है।

(9) समाज में अपराधी कृत्यों को कम करने के लिए नशाखोरी को रोकना चाहिए।

(10) गरीबों के लिए आवश्यक साधन उसी प्रकार उपलब्ध होने चाहिए जिस प्रकार अमीरों के लिए है, तभी रामराज्य सम्भव हो पायेगा।

सामाजिक कल्याण और सामाजिक-पुनर्निर्माण के लिए स्वैच्छिक प्रयत्न भारतवर्ष में कम से कम लगभग 200 वर्षों से हो रहे हैं। कल्याण के लिए हो रहे स्वैच्छिक प्रयत्नो को सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक सुधार और पुनर्निर्माण से अलग नहीं रखा जा सकता। राजा राममोहन राय जिन्होने सती-प्रथा का अन्त करने का भरपूर प्रयास किया। महादेव गोविन्द रानाडे, सर सैयद अहमद खाँ, स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होने आर्य समाज की स्थापना की, श्रीमती एनी बीसेन्ट, तथा मदर टेरेसा आदि के नाम उन व्यक्तियों में अग्रणी हैं जिन्होंने स्वैच्छिक समाज-कल्याण कार्यों को करके भारतीय समाज से हिंसा, बीमारी, बेकारी, अज्ञानता तथा गन्दगी को दूर करने का प्रयत्न किया है। स्वैच्छिक समाज-कल्याण के कार्यों में महात्मा गांधी का योगदान भारतीय समाज के लिए अद्वितीय है।

सामाजिक नियोजन जिसका उद्देश्य समाज-कल्याण है, के अन्तर्गत निम्नलिखित तत्त्वों के विकास के लिए नियोजित कार्यक्रम चल रहे है :

(अ) बाल कल्याण

बाल कल्याण समाज के सभी कल्याणकारी कार्यों में प्रमुख स्थान रखता है।

सरकार अब विभिन्न सामाजिक विधानों तथा कार्यक्रमों के द्वारा बाल कल्याण के क्षेत्र में सराहनीय कार्य कर रही है जिसमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(i) बाल शिक्षा—अब सरकार द्वारा बेसिक प्राइमरी कक्षाओं तक सभी बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दी जा रही है ताकि वे शिक्षित हो सकें। व्यक्तियों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उनका बौद्धिक तथा नैतिक स्तर विकसित हो। जब इस प्रकार सभी सामाजिक सदस्यों का बौद्धिक तथा नैतिक विकास होगा तभी वास्तविक प्रगति हो सकेगी।

(ii) बाल स्वास्थ्य—बच्चों के स्वास्थ्य को सुधारने के लिए भी कार्यक्रम तैयार किया जाना चाहिए। मानसिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि लोगो का स्वास्थ्य ठीक हो। बच्चों का बौद्धिक तथा नैतिक विकास तब तक सम्भव नही जब तक उनका शारीरिक विकास नही हो जाता। सरकार विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत चिकित्सकों तथा दवाइयो का प्रबन्ध कर रही है ताकि बालकों के स्वास्थ्य को सुधारा जा सके।

(iii) बाल रोजगार—साधारणतया उन परिवारों के बच्चे जिनकी आर्थिक स्थिति अधिक सुदृढ नही है बहुत छोटेपन से ही नौकरी करना शुरू कर देते हैं। उद्योग-धन्धों में वे अपने परिवार के अन्य सदस्यों के साथ भाग लेते हैं। आमतौर से बच्चे ऐसा इसलिए करते हैं क्योकि उन्हें पढ़ने-लिखने की सुविधा नही मिलती। सामान्यतः शिक्षा की व्यवस्था का प्रसार कर ऐसे बालकों को समय के पहले किसी रोजगार आदि में जाने से रोकना चाहिए ताकि उनका शारीरिक विकास ठीक प्रकार से हो सके। सामाजिक विधानों में इस बात के नियम हैं कि किस आयु के लोगों को किस प्रकार का कार्य करना चाहिए।

(iv) अवैध सन्तानों की देख-भाल—समाज से वैसे बच्चे जिनके माता-पिता के बारे में पूर्ण जानकारी नही है या जो अवैध हैं उनकी देखभाल भी ठीक प्रकार से होनी चाहिए और इसके लिए नियोजित कार्यक्रम शुरू करना चाहिए। विभिन्न प्रकार के आश्रम, मिशनरियों की संस्थायें, रामकृष्ण मिशन द्वारा चलाये गये आश्रम, आदि ऐसे बच्चों की देख-रेख करते हैं। कुछ गैर सरकारी सस्थायें जो मान्यता-प्राप्त भी नही हैं वे कभी-कभी इन बच्चों को उचित दिशा का मार्ग-दर्शन न करके उन्हे अनुचित कार्यों के लिए प्रोत्साहित करती हैं। सरकार को इन संस्थाओं के लिए इस प्रकार की आचार-संहिता का निर्माण कर देना चाहिए जिससे कि वे किसी प्रकार के अनैतिक कार्यों को न कर सके।

यद्यपि यह बात सही है कि इस प्रकार की सन्तानों की वृद्धि गरीबी के कारण होती है फिर भी इसके लिए अलग से कार्यक्रम बनाकर इससे उत्पन्न समस्याओं का निराकरण करना चाहिए।

(v) बाल-भिखारी—समाज मे बाल-भिखारियों की समस्या भी एक भीषण समस्या है। लोग धार्मिक भावना से प्रेरित होकर खाना-पीना या फटे-पुराने कपड़े देकर बच्चों को भिखारी बनाने मे मदद करते हैं। कुछ लोग बच्चों का एक झुण्ड बनाकर उनसे भिक्षावृत्ति कराते हैं। ऐसे बच्चे बड़े होकर या तो भिक्षावृत्ति ही अपना लेते हैं अथवा चोरी, डाका या ऐसे ही अन्य अपराधी कृत्य करते हैं।

(vi) बाल अपराध—जब बच्चो को सही मार्ग-दर्शन नहीं मिलता तो वे [illegible] प्रकार के अपराधी कृत्यों को करते हैं। ग्रामीण समुदायो की अपेक्षा नगरीय

समुदायों में अपराधी कृत्य अधिक पाया जाता है। समाज-कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि बच्चों को अपराधी होने से रोका जाय।

इस प्रकार हम देखते है कि समाज में बाल-कल्याण के लिए नियोजित कार्यक्रम बनाकर उपर्युक्त वर्णित दोषों को दूर करना चाहिए ताकि सामाजिक प्रगति हो सके।

(आ) महिला-कल्याण

समाज-कल्याण के अन्तर्गत महिला-कल्याण का स्थान सर्वप्रमुख है। भारतीय समाज में तो इनके कल्याणकारी कार्यक्रमों की अधिक आवश्यकता है क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत इन्हे पुरुषों की तुलना में हेय दृष्टि से देखा जाता था। यही कारण था कि इन्हें समाज मे सामाजिक प्रस्थिति भी पुरुषों की तुलना में निम्न स्तर की प्राप्त थी।

लेकिन इस युग में विभिन्न सामाजिक सुधारकों जैसे, राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, गोविन्द रानाडे, दयानन्द सरस्वती, डाक्टर कर्वे, महात्मा गांधी तथा श्रीमती बीसेन्ट ने सराहनीय कार्य कर स्त्रियों की सामाजिक प्रस्थिति को सुधारने का भरपूर प्रयास किया। 1917 मे श्रीमती बीसेन्ट ने तो मद्रास मे स्त्रियों के कल्याण के लिए एक समिति का निर्माण किया जिसे 'भारतीय महिला समिति' के नाम से सम्बोधित किया गया। 1925 मे 'नेशनल कौंसिल ऑफ विमेन' की स्थापना हुई जिसका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय महिला संघ से था। 'यग विमेन क्रिश्चियन एसोसियेशन' का भी निर्माण हुआ और सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान 1944 मे स्थापित 'कस्तूरबा गांधी नेशनल मेमोरियल ट्रस्ट' का हुआ जिनके द्वारा ग्रामीण समुदायों में स्त्रियों तथा बालकों के कल्याण के लिए विभिन्न कार्यक्रम चल रहे हैं। इसके अन्तर्गत 'ग्राम सेविकाओं' के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है, ताकि ये ग्राम-सेविकाएँ गांवों में जाकर अशिक्षित महिलाओं का मार्ग-प्रदर्शन कर सकें। इन विभिन्न महिला संगठनों ने निम्नलिखित तीन कुरीतियों को दूर करने का भरसक प्रयास किया है—

(i) बाल-विवाह—स्त्रियो के स्वास्थ्य में गिरावट साधारणतया उनके कम उम्र में विवाह के कारण होती है। इसके साथ-साथ विभिन्न प्रकार की अन्य बुराइयाँ भी बाल-विवाह के कारण उत्पन्न होती हैं। कभी-कभी तो कम उम्र की माताओं का प्रसव के समय देहान्त भी हो जाता है।

अतः बाल-विवाह को दूर करना महिला-कल्याण का प्रथम चरण माना गया जिसके अन्तर्गत 1929 मे बाल-विवाह निरोध कानून पारित किया गया। अब तो वैधानिक रूप से कोई भी अभिभावक अपनी कन्या का जिसकी आयु 15 वर्ष से कम है विवाह नही कर सकता। यदि कोई भी व्यक्ति ऐसा करेगा तो वह कानून के द्वारा दण्डित किया जायेगा।

(ii) पर्दा-प्रथा—पर्दा-प्रथा भी स्त्रियों के विकास में बाधक है। हो सकता है कि किसी समय में इसकी आवश्यकता रही हो लेकिन आज तो इस बात की आवश्यकता है कि पुरुष तथा स्त्री दोनों साथ-साथ काम करके सामाजिक पुनरुत्थान मे योगदान दें। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि दोनो एक-दूसरे को ठीक प्रकार से समझें और उनमें कोई भेद-भाव न हो। अब तो भारतीय समाज मे पर्दा-प्रथा केवल आंशिक रूप में रह गई है।

(iii) विधवा-विवाह—समाज में विधवा-विवाह की मान्यता सामाजिक रूप से स्वीकार करनी चाहिए। यद्यपि इसके बारे में कानून बने हैं फिर भी समाज में मध्य वर्ग के लोग इसे मुश्किल से अपनाते हैं। ऐसी स्त्रियाँ जिनके पति की मृत्यु विवाह के तुरन्त बाद हो जाया करती है, वे आजीवन अविवाहित रहने पर मजबूर होती हैं। यही कारण है कि समाज में विभिन्न प्रकार के अपराधों में विशेषकर यौन-अपराधों में वृद्धि होती है। लोगों में इस भावना का विकास कर कि विधवा-विवाह अपराध नहीं है और न ही धार्मिक कुकृत्य है अपितु यह एक उचित सामाजिक कृत्य है, विधवा-विवाह को प्रोत्साहन देना चाहिए। इसके साथ-साथ समाज में चल रही देवदासियों की प्रथा को समूल रूप से नष्ट करना चाहिए। ऐसी विधवाएँ जो विवाह करना नहीं चाहती हैं तथा देवदासियाँ जो मन्दिरों में कुकृत्य करने पर बाध्य होती हैं उन्हें अस्पतालों में रोजगार विशेषकर नर्स का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि वे दूसरों की सेवा के साथ-साथ अपना जीविकोपार्जन भी कर सकें।

(iv) वेश्यावृत्ति—अधिकांश वेश्यायें वे स्त्रियाँ हैं जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी जिसके कारण उन्होंने वेश्यावृत्ति को अपनाया। समाज में कुछ अपराधी समूह भी हैं जो कम उम्र की लड़कियों को विभिन्न प्रलोभनों के द्वारा बुरे कृत्यो को करने पर मजबूर करते हैं। किसी भी समाज की सामाजिक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति नैतिक दृष्टिकोण से आगे हों। अतः समाज से वेश्यावृत्ति तथा ऐसे अन्य अपराधी कार्यों को समूल रूप से नष्ट करना प्रत्येक कल्याणकारी योजना का उद्देश्य होना चाहिए। समाज में अब ऐसे नियम उपलब्ध हैं जिनके द्वारा इस प्रकार के अनैतिक कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है।

भारतवर्ष मे नियोजन के अन्तर्गत इस बात पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है कि कार्यक्रम ऐसे बनें जिससे कि स्त्रियों की दशा में सुधार हो सके। अब भारतीय संविधान में स्त्रियों तथा पुरुषों को समान अधिकार प्राप्त हैं। स्त्रियाँ भी उच्च शिक्षा में भाग लेती हैं। समाज के प्रत्येक सामाजिक कृत्य में, राजनीतिक संस्थाओं में पुरुषों के समान हर कार्य कर रही है। हारटोग कमेटी (Hartog Committee) की रिपोर्ट में कहा गया है कि स्त्री-शिक्षा से समाज मे एक प्रकार की ऐसी चेतना का विकास होगा जिससे कि समाज-कल्याण सम्भव हो सकेगा। 1948 में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने स्त्रियों की उच्च शिक्षा के लिए पाठ्यक्रमों मे 'गृह विज्ञान' की शिक्षा पर अधिक बल दिया।

(इ) पिछड़े वर्गों का कल्याण

सामाजिक स्तरण के कारण भारतीय हिन्दू समाज चार वर्गों में बँट गया—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। शुरू-शुरू में जाति-व्यवस्था के विभिन्न सिद्धान्तों द्वारा यह प्रतिपादित किया गया कि शूद्र वर्ण का कार्य अन्य तीनों वर्णों के लोगों की सेवा-सुश्रूषा करना है।

कालान्तर में शूद्र वर्ण के लोग नीच समझे जाने लगे और इसी में एक वर्ग ऐसा अवतरित हुआ जिसे अस्पृश्य कहा जाने लगा। किन्हीं प्रदेशों में तो सवर्ण व्यक्ति शूद्रों की छायामात्र से भी घृणा करने लगे। दिन के 8 बजे से लेकर सध्या के 4 बजे तक शूद्रों को विशेषकर अस्पृश्यों को घर से बाहर न निकलने का आदेश था। लोगों

का यह मत था कि कहीं इनकी छाया से सवर्ण व्यक्ति अपवित्र न हो जाय। भारतीय सामाजिक व्यवस्था ही एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे अस्पृश्य वर्ग नाम की कोई चीज पायी जाती है। अस्पृश्यो को सार्वजनिक कुएं से पानी लेने का अधिकार नही था और न ही वे धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यो में भाग ले सकते थे। विभिन्न धार्मिक तथा सामाजिक सुधारकों ने इनके विरुद्ध आवाजें उठाई और लोगों को यह उपदेश दिया कि हमारे वैदिक साहित्य मे कहीं भी किसी को अस्पृश्य नही कहा गया है। अतः समाज में किसी भी व्यक्ति के लिए इस शब्द का प्रयोग नही होना चाहिए। शंकर, रामानुज, चैतन्य, गुरुनानक, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द सरस्वती, तथा स्वामी विवेकानन्द आदि धार्मिक गुरुओं ने समाज में इसका विरोध किया। अस्पृश्यता नाम की कोई वस्तु समाज मे नही रहनी चाहिए क्योकि हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता नाम की कोई भी चीज कभी भी नही रही है। महात्मा गाधी ने 1933 में 'हरिजन' पत्रिका में लिखा था कि 'अस्पृश्यता हिन्दू धर्म के लिए एक अभिशाप है। अस्पृश्यता हमारे शास्त्रों के विपरीत है। मानवता के मूलभूत नियमों के यह विरुद्ध है, अतः किसी भी व्यक्ति को अस्पृश्य कहना न्यायसगत नही है।' महात्मा गाधी द्वारा किये गये 1932 के पूना पैक्ट के बाद पूरे भारतीय समाज में अस्पृश्यता के विरुद्ध आन्दोलन शुरू हुआ। महात्मा गाधी ने अस्पृश्यों के लिए 'हरिजन' शब्द का प्रयोग किया।

गांधी जी के ही शब्दों मे 'जब तक हम लोग हरिजनों के मित्र नही होंगे, उन्हें अपने भाई नही समझेंगे तब तक हम लोग विश्वबन्धुत्व की कल्पना भी नहीं कर सकते। अस्पृश्यता का उन्मूलन विश्वबन्धुत्व का निर्माण करना है।' समाज तभी सफल माना जायेगा जब इन अस्पृश्यों अथवा हरिजनो की दशा में सुधार किया जायेगा। भारतीय संविधान की 17वी धारा में अस्पृश्यता के निवारण की बात कही गई है। जो लोग छुआछूत का भेद-भाव करेंगे उनके लिए वैधानिक दण्ड की व्यवस्था है। संविधान की 46वीं धारा मे कहा गया है कि हरिजनों के लिए विशेष कार्यक्रम कार्यान्वित किया जाना चाहिए। सरकार को उनके लिए शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए तथा उनके आर्थिक स्तर को सुदृढ़ करने का प्रयास करना चाहिए। अब सरकार द्वारा सरकारी नौकरियों, विधान सभाओं तथा संसद् के लिए हरिजनों की सीटें सुरक्षित हैं। ऐसा इसलिए किया गया है ताकि उनकी सामाजिक प्रस्थितियों मे सुधार आ सके। पिछड़ी जाति तथा अनुसूचित जातियों की छात्रवृत्तियाँ अब भी समाज मे प्रचलित है ताकि अधिक से अधिक हरिजनों और पिछड़ी जाति के लोगों को साक्षर बनाया जा सके। विभिन्न स्वैच्छिक संस्थाओं जैसे—रामकृष्ण मिशन, आर्यसमाज, सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी, हरिजन सेवक सघ, आदि सगठनों द्वारा पिछड़ी जाति के लोगो के कल्याण के लिए सराहनीय कार्य हो रहा है। पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए औद्योगिक स्कूलों की स्थापना भी की गई है जहां लोगो को व्यवसायगत प्रशिक्षण दिया जाता है। सार्वजनिक कुओं से अब वे भी पानी ले सकते हैं। अब इसकी वैधानिक व्यवस्था हो गई है कि हरिजन भी धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यों में भाग ले सकते हैं। अब मन्दिरों तथा अन्य धार्मिक संस्थाओं में वे बिना किसी रोक-टोक के भाग ले सकते हैं। दक्षिणी भारत में जहां धार्मिक कट्टरता अधिक है वहाँ भी मन्दिरों में अब अस्पृश्य आ-जा सकते है। इसका श्रेय राजगोपालाचारी और सी० पी०. स्वामी अय्यर को है। सरकार ने विभिन्न सामाजिक कानूनों का

निर्माण कर यह व्यवस्था कर दी है कि जो खेत बटाई पर थे वह अब उन लोगों के हो जायेंगे जो इन खेतों में काम करते हैं। इसके अतिरिक्त सरकार ने उन जमीनों को जो अभी खेती के प्रयोग में नहीं लायी जाती थीं हरिजनों को बाँटा है ताकि उनके पास कुछ खेती योग्य भूमि हो जाय और वे अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर सकें। 1952 के बाद विभिन्न राज्य सरकारों ने हरिजनों के लिए जमीन की व्यवस्था की है ताकि वे अपने लिए मकान बना सकें।

विभिन्न शहरों में हरिजन बस्तियाँ भी बसाई गई हैं। बिहार सरकार ने इस दशा में एक कानून 'दी बिहार प्रिविलेज्ड परसन्स होमस्टेड टीनेन्सी एक्ट' के द्वारा अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। गाँवों में जो 'बेगार' (बिना मजदूरी दिये हुए) काम कराने की प्रथा थी वह करीब-करीब समाप्त हो गयी है। अब कोई भी हरिजन बिना मजदूरी के काम नहीं करता। भारतीय संविधान की 340वीं धारा में इस बात का विधान है कि राष्ट्रपति एक ऐसी कमेटी का निर्माण करेंगे जो यह पता लगायेगी कि हरिजनों तथा पिछड़े हुए लोगों के कल्याण के लिए क्या-क्या किया जाये। 1953 में एक कमेटी बनी जो आज तक अपनी विभिन्न सिफारिशों को पेश करती आ रही है जिसके द्वारा पिछड़े वर्गों की दशा में सुधार हो सके। आजकल लगभग 90 ऐसे गैर-सरकारी तथा सरकारी संगठन हैं जो पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए कार्य कर रहे हैं। केवल सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रो में प्रगति से ही हरिजनों या पिछड़े वर्ग का कल्याण सम्भव नही। कल्याण की सार्थकता में वृद्धि तब होगी जब मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी लोग एक-दूसरे को समझने लगें और स्वयं हरिजनों में यह भावना व्याप्त होने लगे कि सवर्ण व्यक्ति उन्हें अपने जैसा ही समझते हैं। सवर्ण व्यक्तियों को अपनी मनोवृत्तियों मे परिवर्तन करना होगा और इस विचारधारा को लेकर कार्य करना होगा कि पिछड़े वर्गों के लोगों का कम महत्त्व नहीं है। यदि यह विचारधारा घर कर गई तो नि.सन्देह ही समाज-कल्याण सम्भव हो सकेगा।

(ई) वन्य जातियों का कल्याण

पिछड़े वर्ग के लोगों में कुछ वन्य जातियाँ भी आती हैं जिनका कल्याण और विकास आवश्यक है जैसे, मध्य प्रदेश की गोंड वन्य जाति, पश्चिमी बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के सन्थाल, राजस्थान, मध्य भारत तथा बम्बई के भील और बिहार के मुण्डा। इन सभी वन्य जातियों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है अतः इनका विकास आवश्यक है। स्वतन्त्रता के बाद इन वन्य जातियों मे विशेष परिवर्तन हुआ है। सविधान में भी इन वन्य जातियो के उत्थान के लिए विधान है। लेकिन इसके साथ-साथ इस बात का विधान है कि वन्य जातियों की संस्कृति को सुरक्षित रखा जाये। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर वन्य जातियो के कल्याण के लिए कल्याणकारी योजनाएँ बनायी जा रही हैं। वन्य जातियो की शिक्षा आदि की समुचित व्यवस्था आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उन्हें भी आधुनिक पहनाव तथा फैशन से अवगत कराना चाहिए। किस कपड़े को कैसे धारण करना चाहिए इसका प्रशिक्षण भी उन्हें देना चाहिए। जो वन्य जातियाँ खेती-बाड़ी का काम करती हैं उन्हें नयी-नयी कृषि की प्रविधियों से अवगत कराना चाहिए। नये-नये प्रकार के तथा खेती के साधनों को उन्हें देना चाहिए ताकि वे राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि

कर सकें।

किन्हीं-किन्हीं प्रदेशों में कुछ अपराधी वन्य जातियाँ हैं। समाज-कल्याण तभी सफल माना जायेगा जब इन लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाया जायेगा। भारत सरकार ने 1955 में एक विधान में संशोधन कर जिसे 'क्रिमिनल ट्राइब एक्ट' कहते हैं, ऐसा कर दिया है कि किसी भी इस प्रकार के व्यक्ति को अब अपराधी नहीं कहा जायेगा। उनके साथ भी अब वही व्यवहार किया जायेगा जो साधारण नागरिकों के साथ किया जाता है। उन्हें भी अब वही मूलभूत अधिकार प्राप्त हैं जो अन्य सभी नागरिकों को प्राप्त हैं। सरकार द्वारा इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इन अपराधी वन्य जातियों की हर आवश्यकता को पूरा किया जाये जिससे वे भविष्य में अपराध करने के लिए उद्यत न हो। विभिन्न अध्ययनों से यह प्रमाणित हो चुका है कि केवल आर्थिक पहलू मे विकास से ही किसी की अपराधी प्रवृत्ति को नहीं बदला जा सकता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण अमरीका है। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि आज विश्व के सभी समाजों में अमरीका सबसे अधिक समृद्ध है फिर भी वहाँ जितने निम्न कोटि के तथा जघन्य अपराध होते है उतने दुनिया के किसी अन्य समाज में नहीं होते। अतः यह कहना कि केवल अपराधियों की आवश्यकताओं को पूरा करके उन्हें अपराध करने से रोका जा सकता है ठीक नही। आवश्यकता इस बात की है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से ऐसे व्यक्तियो को बदलने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इन अपराधियों के अपराध करने का कारण केवल वंशानुगत न होकर पर्यावरण के कारण भी हैं, अतः पर्यावरण में कुछ आवश्यक संशोधन करके इन लोगों में भी परिवर्तन किया जा सकता है। डॉ० डी० एन० मजूमदार के अनुसार, इन वन्य जातियों के लोगों तथा अन्य साधारण नागरिको के रक्त तथा अन्य जैविक गुणों में कोई अन्तर नहीं होता। अतः पर्यावरण में सुधार करके उनकी दशा को सुधारा जा सकता है।

मानव-शास्त्रियों का मत है कि इस प्रकार के लोग राजस्थान में चित्तौड़ में पाये जाते थे जिनकी मूलभूत विशेषता यह थी कि वे तुरन्त जो कोई भी काम करते थे उसका परिणाम देखना चाहते थे। यदि उनके काम का उचित पुरस्कार नहीं मिलता तो वे कोई भी अपराधी काम करने को तैयार हो जाते। 'क्रिमिनल ट्राइब एक्ट' जिसे किसी-किसी प्रदेश में 'हैबिचुअल ऑफेण्डर एक्ट' में परिवर्तित किया गया है, उसके द्वारा इन अपराधी वन्य जातियो के सुधार के लिए सन्तोषजनक कार्य हुए हैं। इन लोगों के पास अपनी कोई जमीन नही थी, जहाँ वे स्थायी रूप से रह सकें। सरकार ने स्थायी रूप से इन्हे एक स्थान पर जमीन देकर इनके रहने की व्यवस्था की है। इन्हें विभिन्न लघु उद्योग-धन्धो को खोलने के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा है ताकि वे अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर सकें। सहकारी समितियों की स्थापना की गयी है जो उन्हे सस्ती दर पर रुपया देकर महाजनों के चगुल से बचाती हैं। इन्हें धार्मिक तथा नैतिक उपदेश देकर इनकी अपराधी मनोवृत्तियो को बदलने का प्रयत्न किया जाता है। जिस प्रकार समाज-कल्याण के लिए इन अपराधी वन्य-जातियों के परिवर्तन पर बल दिया जा रहा है उसी प्रकार उत्तरी हिमालय-क्षेत्र में रहने वालों की दशा भी सुधारी जानी चाहिए। ये लोग भी अधिक गरीब हैं। इनकी संख्या भी करीब 90 लाख है। इस क्षेत्र मे संचार-व्यवस्था की कमी है जिसके अभाव में इन लोगों की दशा सुधारी नहीं जा सकती। अतः संचार-व्यवस्था

में विकास करके तथा इन लोगों से सम्पर्क बढ़ाकर इनकी आवश्यकताओं को तुरन्त पूरा किया जाना चाहिए ताकि ये लोग अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के पश्चात् सामाजिक निर्माण कार्यक्रमों में भाग ले सकें।

उत्तर प्रदेश सरकार विभिन्न छात्रवृत्तियाँ प्रदान कर इस क्षेत्र के लोगों को पढ़ाने-लिखाने की व्यवस्था कर रही हैं। जम्मू-कश्मीर में सामाजिक शिक्षा के कार्य-क्रम भी चल रहे हैं। यद्यपि योग्य शिक्षकों की कमी इन पहाड़ी क्षेत्रों में है फिर भी इस कमी को शीघ्र ही दूर किया जा सकता है। सामुदायिक योजनाओं तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं द्वारा पहाड़ी क्षेत्रों में अगणित कल्याणकारी कार्य हुए हैं। यद्यपि यह बात सही है कि पहाड़ी क्षेत्रों के लोग परम्परावादी अधिक हैं फिर उचित योजना के द्वारा उनके विचारों मे परिवर्तन लाकर उनकी स्थिति को सुदृढ़ किया जा सकता है। कस्तूरबा ग्रामीण संस्थान द्वारा प्रशिक्षित महिलाएँ इन पहाड़ी क्षेत्रों में अत्यन्त सराहनीय कार्य कर रही हैं। इन पहाड़ी क्षेत्रों में कार्य करने वाले समाज-सेवकों तथा समाज-सेविकाओं के लिए विभिन्न प्रकार के उपकरण तथा पोशाक विश्व स्वास्थ्य संगठन (W. H. O.) द्वारा प्रदान की जाती हैं। वर्मा जैसे राष्ट्र मे तो समाज-सेवकों को भी भत्ते के रूप में कुछ धनराशि प्रदान की जाती है ताकि वे विशेष रुचि से कल्याणकारी कार्यों में भाग ले सके। भारतवर्ष मे सेना के अवकाश-प्राप्त कर्मचारी जो इन क्षेत्रों के रहने वाले हैं विशेष रुचि लेकर समाज-कल्याण कार्यक्रमों में भाग ले रहे है ताकि अपने समुदाय का विकास कर सके। उत्तर प्रदेश मे ही करीब 30 हजार ऐसे समाज-सेवक कार्य कर रहे हैं। अशोक आश्रम तथा विभिन्न समाज सुधारकों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अब इन क्षेत्रों में लड़कियों के वेचने की प्रथा को समाप्त किया जा रहा है। उत्तर प्रदेश सरकार ने इस प्रथा को रोकने के लिए तीन विधानों की व्यवस्था की है—

(1) नायक लड़कियो के लिए संरक्षण अधिनियम जो 1929 में बना (The Naik Girls Protection Act, 1929)।

(2) उत्तर-प्रदेशीय कम आयु की लड़कियों के लिए सरक्षण अधिनियम (The U. P. Minor Girls Protection Act, 1929)।

(3) अनैतिक व्यवहारों को रोकने के लिए अधिनियम (The U. P. Suppression of Immoral Traffic Act, 1933)।

(उ) सामुदायिक कल्याण

सामुदायिक कल्याण समाज कल्याण का एक अभिन्न अंग है। सामुदायिक कल्याण को दो भागों मे बाँटा जा सकता है—

(i) नगरीय क्षेत्रों के लिए कल्याणकारी कार्यक्रम, और (ii) ग्रामीण क्षेत्रों के लिए कल्याणकारी योजनाएँ।

नगरीय और ग्रामीण समुदायो में से ग्रामीण समुदायों के लिए कल्याणकारी योजनाएँ अधिक आवश्यक हैं क्योकि भारतीय समाज का वास्तविक विकास तभी सम्भव है जबकि भारतीय गाँवों का विकास होगा। ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के लिए विभिन्न योजनाएँ चल रही हैं। नगरीय समुदायों की अपनी अलग समस्याएँ हैं समाधान आवश्यक है। नगरों में श्रमिकों के रहने के लिए आवास की अच्छी नहीं है। वे साधारणतया झुग्गियों (slums) में रहते हैं जहाँ उनका

विकास सम्भव नहीं। वे परिस्थिति से बाध्य होकर अनैतिक कार्यों को करते हैं, अतः सामुदायिक संगठनों के द्वारा नगरीय दशाओं को सुधारने का प्रयत्न किया जाता है। विकसित देशों जैसे अमरीका आदि मे इन सामुदायिक संगठनों के द्वारा नगरीय समुदायों की दशाओं को सुधारने का सराहनीय कार्य हुआ है। भारतवर्ष में भी बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा दिल्ली आदि नगरों मे सामुदायिक संगठनों के द्वारा वहाँ की सामाजिक स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है। उत्तर प्रदेश में भी सामुदायिक संगठनों का निर्माण हुआ है ताकि विभिन्न नगरों में विशेषकर औद्योगिक नगरों जैसे कानपुर आदि की सामाजिक स्थिति को ठीक किया जा सके। श्रमिकों के कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार की योजनाएँ सरकारी तथा गैर-सरकारी संगठनों द्वारा सम्पन्न हो रही हैं। बम्बई सरकार ने तो श्रमिक कल्याण केन्द्र खोले हैं जिनके द्वारा श्रमिकों के कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम शुरू किये गये हैं। इन सामुदायिक सगठनों के द्वारा नये नगरों को अब सुनियोजित ढंग से बसाया जा रहा है जिसमें संचार तथा यातायात व्यवस्था की सुविधा के अतिरिक्त सफाई, हवादार मकान की व्यवस्था तथा गन्दी बस्तियो को पनपने से रोकना है। शहरों में सभी आवश्यक स्थानो पर चिकित्सालयों की व्यवस्था है तथा स्वास्थ्य-केन्द्रों द्वारा लोगों के स्वास्थ्य के सुधारने के सुझाव दिये जाते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है ग्रामीण समुदायो में विकास के बिना सामाजिक कल्याण सम्भव नही। लेकिन ग्रामीण समुदाय का विकास तथा कल्याण तभी हो सकता है जब ग्रामीण लोगों को शिक्षित किया जाये और उन्हें प्रेरित किया जाये ताकि वे नये मूल्यों को अपनाये। ग्रामीण समुदायों के विकास के लिए निम्न-लिखित कार्यक्रम लाभकारी हो सकते हैं—

(1) खेती की नयी प्रविधियों के द्वारा अधिक अन्न का उत्पादन तथा खेती का न्यायोचित वितरण।

(2) सन्तुलित भोजन का प्रबन्ध।

(3) सभी लोगों के सुन्दर स्वास्थ्य का विकास।

(4) ग्रामीण तथा लघु उद्योग-धन्धों का विकास। यह सहकारिता पर आधारित होना चाहिए।

(5) बेसिक शिक्षा का प्रबन्ध जिससे कि प्रत्येक ग्रामवासी अपना आध्यात्मिक विकास कर सकें और अपने लिए जीविकोपार्जन कर सके।

(6) शक्ति का विकेन्द्रीकरण। ग्राम पंचायतों का पुनरुद्धार कर गाँवों की छोटी-मोटी समस्याओ का समाधान यही कर देना चाहिए।

(7) ग्रामीण लोगो का नैतिक विकास। इसके लिए सांस्कृतिक तथा मनो-रंजनात्मक कार्यक्रम आवश्यक हैं।

(ऊ) अपाहिजों का कल्याण

समाज के ऐसे व्यक्ति जो शारीरिक तथा मानसिक रूप से स्वस्थ नहीं हैं उनके कल्याण के लिए कार्यक्रम बनाना आवश्यक है। शुरू से ही गैर-सरकारी संगठन ऐसे व्यक्तियो के लिए कार्य करते रहते हैं। आधुनिक समय मे केवल गैर-सरकारी सगठनों द्वारा किया गया कल्याणकारी कार्य पर्याप्त नही। यही कारण है कि आधुनिक सरकारें भी अपने-अपने समाजों मे असहाय अपाहिजो के लिए ऐसे कार्यक्रम शुरू कर

रही है ताकि उनका कल्याण हो सके। प्रजातान्त्रिक समाजों में अधिकांश कल्याणकारी कार्यक्रम जो अपाहिजों के लिए होते हैं सरकार द्वारा बनाये जाते हैं। शारीरिक अपाहिज उसे कहते हैं जिस व्यक्ति के एक या उससे अधिक अंग बेकार हो गये हैं तथा जिससे कोई काम नही किया जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि केवल अंगहीन होने के अलावा शारीरिक रूप से अपाहिज व्यक्ति अन्य सभी दृष्टिकोणो से एक साधारण व्यक्ति के समान होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह वे सभी कार्य कर सकता है जो एक साधारण व्यक्ति से इच्छित है। सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रयत्नों द्वारा इस बात का प्रबन्ध होना चाहिए ताकि शारीरिक रूप से अपंग व्यक्ति एक उत्पादन सदस्य के रूप में काम करके सामाजिक विकास में योगदान कर सके। यदि इस प्रकार का प्रबन्ध हो सका तो निःसन्देह सभी अपाहिज व्यक्ति सामान्य लोगो की भाँति अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगे। अपाहिजों के लिए दो प्रकार का कल्याणकारी कार्य प्रारम्भ किया जा सकता है—

(1) ऐसे कार्यक्रम जिससे कि वे अधिक अंश मे आर्थिक रूप में समृद्ध होकर किसी अन्य पर आश्रित न रहें, और

(2) ऐसे कार्यक्रम जिनके द्वारा उन्हें जीवन की सभी आवश्यक सुख-सुविधाओं को प्रदान किया जा सके। अन्धे, गूँगे तथा बहरे ऐसे अपाहिज है जिन्हे उचित प्रशिक्षण देकर प्रत्येक कार्य कराया जा सकता है। देहरादून, बम्बई तथा कलकत्ता आदि स्थानो पर खोले गये अन्धों के स्कूल सराहनीय कार्य कर रहे है। इन स्कूलों मे अन्धो को कपडा बुनना, कुर्सी बनाना, सूत कातना, जूता बनाना तथा अन्य दस्तकारी के काम सिखाये जाते हैं। ब्रेल व्यवस्था के द्वारा अन्धो को पढ़ना-लिखना भी सिखाया जाता है। आजकल छोटी-बड़ी सभी सस्थाओ को मिलाकर कुल 50 स्कूल अन्धों को उचित प्रशिक्षण देने के लिए कार्यशील है। अन्धों को विभिन्न प्रकार के रोजगार भी दिये जा रहे है जैसे—संगीत, पत्रकारिता, अध्यापन तथा कुटीर उद्योग-धन्धों की स्थापना आदि। इन्हें विभिन्न कारखानो मे भी रोजगार दिया जाता है।

इसी प्रकार बहरे व्यक्तियों के लिए भी बम्बई तथा कलकत्ता में स्कूल खोले गये हैं। इन स्कूलों में ऐसे बच्चे जो बाल्यावस्था मे बहरे हो जाते हैं उन्हे प्रशिक्षण दिया जाता है। अब 'लिप रीडिंग' के द्वारा ऐसे बहरे बच्चों को पढ़ना सिखाया जाता है। बहरे व्यक्तियों को अब थोड़े से प्रशिक्षण के द्वारा किसी भी काम के करने के योग्य बनाया जा सकता है। लूले, लगड़ो के लिए भी इसी प्रकार का प्रशिक्षण आवश्यक है ताकि वे उत्पादन-कार्य कर सकें। अब चिकित्सा विज्ञान मे प्रगति हो जाने के कारण अधिकाश लूले, लगड़ों को कृत्रिम अंग प्रदान किये जा रहे हैं फिर भी इन कृत्रिम अगो मे प्राकृतिक शक्ति सम्भव नही। 1947 मे प्रारम्भ 'सोसाइटी फार दी रीहैबिलिटेशन ऑफ क्रिपिल्ड चिल्ड्रेन' (S. R. C. C.) द्वारा अपाहिजों के कल्याण के लिए उपयोगी कार्य हुए हैं। ऐसे लोगो को भी शिक्षित कर उन्हें रोजगार सम्बन्धी प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। इस बात की व्यवस्था होनी चाहिए कि ऐसे व्यक्ति किसी न किसी उद्योग मे नौकरी के लिए रख लिये जायें। समाज मे भी प्रत्येक सदस्य का यह पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे अपाहिज व्यक्तियों के कल्याण के लिए हर सम्भव प्रयत्न करे। ऐसे व्यक्ति जो मानसिक रूप से अस्वस्थ हैं उनके मानसिक सन्तुलन को ठीक करना भी आवश्यक है। औद्योगिक संस्थानो में जहाँ भीड़-भाड़ तथा शोर-गुल है वहाँ मानव अपने को एक मशीन के पुर्जे की ही

भाँति पाता है। वहाँ उचित प्रोत्साहन तथा सुरक्षा का आभास न करके कभी-कभी ऐसा कार्य करने लगता है जो एक सन्तुलित व्यक्ति से सम्भव नही।

कुछ व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति नहीं कर पाते इस कारणवश वे निराश होकर अपने मानसिक सन्तुलन को भी खो बैठते हैं। प्रयत्न इस बात का होना चाहिए कि जहाँ एक ओर शारीरिक रूप से अपाहिज व्यक्तियों को प्रशिक्षित करने का प्रयत्न किया जाता है वही पर दूसरी ओर मानसिक दृष्टिकोण से अस्वस्थ व्यक्तियों को उचित सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक दशा प्रदान कर उन्हे फिर से सन्तुलन करने का प्रयास करना चाहिए ताकि वे उत्पादन-कार्यों मे भाग लेकर समाज की प्रगति मे योगदान दे सके।

(ए) भिक्षावृत्ति का उन्मूलन

समाज-कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि भिक्षावृत्ति का उन्मूलन किया जाये। इसकी आवश्यकता दो कारणों से है—प्रथम, भिक्षावृत्ति को रोकना ताकि भिखारियों के नैतिक पतन को रोका जा सके। दूसरे, स्वस्थ तथा हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति जो समाज के बोझ हैं वे उत्पादन-कार्यों मे भाग लेकर सामाजिक समृद्धि को बढ़ा सकते हैं तथा सुखपूर्वक अपना जीवन बिता सकते है। भारतवर्ष मे भिक्षावृत्ति का मूलभूत कारण गरीबी हो सकता है लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से कारक ऐसे हैं जिसके कारण लोग भिक्षावृत्ति करते हैं। भिक्षावृत्ति के पीछे सबसे प्रधान कारण भारतीय धार्मिक भावना है। शुरू से ही बच्चों को यह शिक्षा दी जाती है कि उन्हें गरीबो को दान देना चाहिए। अतः जो भी व्यक्ति माँगता हुआ पहुँचता है उसे लोग कुछ न कुछ दान अवश्य देते हैं। समाज मे कुछ ऐसे व्यक्ति पाये जाते है जो छोटे बच्चो को प्रलोभन देकर उनसे भिक्षावृत्ति कराते हैं तथा बच्चे भीख मागकर जो लाते हैं उसी से अपना भी जीवनयापन करते हैं। कुछ लोग तो ऐसे भी पाये जाते है जो अपने बाप-दादाओ की तरह भीख माँगना ही अधिक श्रेयस्कर समझते हैं।

कुछ गरीब स्वाभिमानी व्यक्ति किसी हालत मे भीख माँगना स्वीकार नही करते जबकि अधिकाश व्यक्ति यही दलील देते हैं कि हम चूँकि गरीब है इस कारण भिक्षावृत्ति करते है। वैधानिक दृष्टिकोण से भीख माँगना अपराध है और इसके लिए कानून सहिता में दण्ड का विधान है। भारतीय कानून की धारा खण्ड 109 (ब) के अन्तर्गत भीख माँगने वालो के विरुद्ध विभिन्न प्रकार की सजा की व्यवस्था है। वैसे समाज में कुछ स्थानों पर 'भिखारी गृहो' की व्यवस्था है जहाँ भिखारियो को रखकर उन्हे एक साधारण नागरिक की तरह व्यवहार करना सिखाया जाता है। इन भिखारी गृहों (Beggar Homes) के नियम तथा सहिताएँ जेल जैसी ही होती है जिसका पालन प्रत्येक भिखारी के लिए अनिवार्य होता है। समाज मे भिखारियों के लिए रोजगार की व्यवस्था कर भिक्षावृत्ति को समाप्त करना चाहिए ताकि समाज का भौतिक विकास हो सके और उसके सदस्यो का नैतिक विकास सम्भव हो सके।

(ऐ) नशाखोरी का उन्मूलन

समाज से नशाखोरी को दूर करना उतना ही आवश्यक है जितना की शरीर से रोग को दूर करना। जिस प्रकार एक रोगी व्यक्ति अपना विकास तब तक नही कर सकता जब तक कि वह अपना रोग दूर नही कर लेता उसी प्रकार वह समाज

विकसित नहीं हो सकता जहाँ के लोग नशीली वस्तुओं का प्रयोग अधिक करेंगे। अतः समाज में नशीली वस्तुओं के उपभोग-पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। भारतीय समाज में अफीम, गांजा, भाँग तथा शराब आदि का प्रयोग लोग सदियों से करते चले आ रहे हैं। परिवार-समूह तथा समाज इसके उपयोग से पूरी तरह से विनष्ट हो गये है। इसके असंख्य उदाहरण भारतीय इतिहास में मौजूद हैं। यद्यपि अफीम, भाँग, गांजा तथा शराब पर कानूनी प्रतिबन्ध है फिर भी समाज में इसका प्रचलन अधिक है। समाज-कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि नियोजन के द्वारा इन बुराइयों को निश्चित कार्यक्रम के अनुसार समाप्त किया जाय।

सामाजिक पुनर्निर्माण (Social Reorganisation)

सामाजिक नियोजन का दूसरा उद्देश्य सामाजिक पुनर्गठन है। समाज का रूप जैसे-जैसे जटिल होता जाता है उसमे अव्यवस्था उतनी ही अधिक मात्रा में आ जाती है। समाज मे कुछ कारक ऐसे कार्यरत् हो जाते है जिनके कारण सामाजिक सम्बन्ध पूर्ववत् नही बने रहते और समाज मे एक असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। विभिन्न सामाजिक समस्याएँ भी इस असन्तुलन के कारण उत्पन्न हो जाती हैं जिनका समाधान आवश्यक हो जाता है। सामाजिक पुनर्गठन तथा पुनर्निर्माण से तात्पर्य ऐसी सभी समस्याओं का निराकरण करना है जो समाज के लिए उचित नही हैं। केवल सामाजिक समस्याओं के निराकरण से ही सामाजिक पुनर्गठन का लक्ष्य पूरा नही होता बलिक इसके अन्तर्गत उन सभी अन्य कार्यक्रमों को भी सम्मिलित किया जाता है जिसके द्वारा समाज, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा अन्य पहलुओं मे यथोचित विकास कर एक सुगठित समाज की स्थापना की जा सके।

साधारणतया सामाजिक पुनर्गठन की निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए :

(1) सामाजिक परिस्थितियों तथा सामाजिक मूल्यों मे सामजस्य ताकि सामाजिक स्थिरता को बनाये रखा जाय।

(2) सामाजिक पुनर्निर्माण भी एक प्रक्रिया है। यही कारण है कि इसमें निरन्तरता पायी जाती है। यह बात अवश्य है कि किसी समय में पुनर्निर्माण के कार्यक्रम अधिक प्रत्यक्ष होते हैं और किसी काल में कम।

(3) सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रम आधुनिक युग में समाज के अधिकतम व्यक्तियों की स्वेच्छा पर आधारित होते हैं।

(4) पुनर्निर्माण का कार्यक्रम समाज के व्यक्तियों के द्वारा चेतन अवस्था में किया जाता है। जिसका अर्थ यह है कि सभी व्यक्ति अपने प्रयत्नों तथा कर्तव्यों के प्रति जागरूक रहते हैं।

(5) पुनर्गठन का अर्थ केवल पहले जैसी अवस्था को लाना ही नहीं है, इससे तात्पर्य समाज के मूल्यो के अनुसार एक ऐसी स्थिति को पैदा करना है जिससे कि अधिकतम व्यक्तियो का कल्याण हो सके।

(6) पुनर्गठन की एक अन्य विशेषता यह है कि इसके द्वारा सामाजिक समस्याओं का निराकरण कर समाज के विभिन्न पहलुओं मे समुचित विकास किया जाता है। केवल समस्याओं के निराकरण से ही पुनर्निर्माण का काम पूरा नहीं हो जाता बल्कि पुनर्निर्माण का मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि ऐसी सामाजिक समस्याएँ समाज में अवतरित ही न होने पायें।

(7) सामाजिक पुनर्गठन के अन्तर्गत निर्धारित लक्ष्य सामाजिक न्याय तथा समानता पर आधारित होना चाहिए। यदि सामाजिक न्याय सभी को प्राप्त हो सका तो निःसन्देह ही सामाजिक स्थायित्व समाज में दृष्टिगत होगा।

(8) सामाजिक पुनर्निर्माण का कार्यक्रम विभिन्न विधियों जैसे शान्तिमय, उग्र तथा हिंसात्मक किसी के द्वारा भी कार्यान्वित किया जा सकता है। प्रजातान्त्रिक सामाजिक व्यवस्था में शान्तिमय ढंग से किये गये कार्य अधिक उचित तथा श्रेयस्कर माने जाते हैं।

(9) आधुनिक समाजों में सामाजिक पुनर्गठन के कार्यक्रम अधिकाशतया सरकारी साधनों द्वारा कार्यान्वित होते हैं जबकि सरल समाजों मे साधारणतया स्वैच्छिक साधनो द्वारा ही पुनर्गठन का कार्यक्रम संचालित होता था। आधुनिक समय में भी स्वैच्छिक संगठनों द्वारा पुनर्गठन के कार्य किये जाते हैं लेकिन अपेक्षाकृत उनका महत्त्व सरकारी सगठनों द्वारा किये गये कार्यों से कम होता है।

(10) पुनर्गठन का वह कार्यक्रम जिसे समाज के सभी व्यक्ति स्वीकार करते हैं तथा जिसे सामूहिक रूप से सरकारी तथा गैर-सरकारी संगठन कार्यान्वित करते है उचित तथा श्रेयस्कर माना जाता है। ऐसा देखा गया है कि जो कार्य गैर-सरकारी प्रयत्नों द्वारा सफल नही हुआ है उसे सरकारी प्रयत्नों द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है।

सामाजिक पुनर्गठन के उद्देश्य

समाज मे सामाजिक पुनर्गठन के जो कार्यक्रम चलते है उनके पीछे निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं :

(1) **सामाजिक न्याय (Social justice)**—आधुनिक वैज्ञानिक युग में सामाजिक न्याय प्रत्येक प्रगतिशील देश का नारा है। सामाजिक पुनर्गठन के कार्यक्रमों को बनाकर कार्यान्वित करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि इसके द्वारा *व्यक्तियो को सामाजिक न्याय मिल सके। सामाजिक न्याय से तात्पर्य* समानता के आधार पर पुरस्कार तथा दण्ड की व्यवस्था से है। समाज बिना किसी जाति-पाँति वर्ग-भेद तथा लिंग-भेद के व्यक्तियों के गुणों पर यदि प्रस्थितियो का वितरण करता है तो उसे हम सामाजिक न्याय कह सकते हैं। *सामाजिक न्याय की विचारधारा अभी अधिक पुरानी नही है,* इसे 20वीं सदी की ही देन समझना चाहिए। *सामाजिक न्याय की भावना के कारण ही समाज में निर्बल तथा सशक्त व्यक्ति* साथ-साथ रहकर अपना जीवनयापन कर पाते है।

(अ) **समानता (Equality)**—आयु, लिंग, धर्म तथा धन के आधार पर व्यक्तियों में कोई मूलभूत भेदभाव नही होना चाहिए।

(ब) **पद तथा कार्य में समन्वय (Co-ordination between status and role)**—समाज मे सभी व्यक्तियो को अपने पदों के अनुसार कार्य करना आवश्यक है तभी सामाजिक न्याय मिल सकेगा।

(स) **स्वतन्त्र विचार**—सामाजिक न्याय के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तियों के सोचने-समझने तथा विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(2) **सामाजिक स्थायित्व (Social Stability)**—सामाजिक स्थायित्व से तात्पर्य सामाजिक संगठन के स्थायित्व से है जिसके कारण सामाजिक संस्थाएँ सुचारु

रूप से कार्य करती रहती हैं तथा सामाजिक प्रक्रियाएँ नियमित रूप से होती रहती हैं। सामाजिक स्थायित्व समाज में तभी सम्भव हो सकता है जब समाज के सभी व्यक्ति अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार कार्यों को करते रहें। सामाजिक स्थायित्व का तात्पर्य उस स्थिति से नहीं है जहाँ सामाजिक परिवर्तन न होता हो। सामाजिक परिवर्तन तो एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है, अन्तर केवल इतना है कि सामाजिक स्थायित्व के लिए जो सामाजिक परिवर्तन इच्छित है, वह सामाजिक मूल्यों के अनुरूप हो। इसके अतिरिक्त सामाजिक स्थायित्व की धारणा सापेक्षिक होती है। किसी चीज मे स्थायित्व है या नहीं, इसका निर्धारण हम किसी अन्य समय की उसी चीज अथवा अन्य किसी मिलती-जुलती चीज से तुलना करके लगाते हैं। आधुनिक समय मे हमारे सामाजिक सम्बन्ध सुदृढ़ नहीं हैं। उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। कभी-कभी तो सामाजिक सम्बन्ध इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाते हैं कि सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इन्ही सामाजिक सम्बन्धों को फिर सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार बनाने के लिए विभिन्न सामाजिक पुनर्गठन तथा पुनर्निर्माण की योजनाओं को बनाया जाता है। समाज मे पुनर्गठन के कार्यक्रमो द्वारा इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि समाज मे सामाजिक स्थायित्व बना रहे। समाज की जो शासन-व्यवस्था हो वह पूर्ववत् निश्चित प्रतिमानो के अनुसार चलती रहे। आधुनिक समाजों में सामाजिक स्थायित्व की कमी का एकमात्र कारण सरकारों के बदलते हुए रूप हैं। प्रत्येक प्रकार की सरकार नये-नये प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को जन्म देना चाहती है लेकिन समाज की परम्पराएँ उस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का विरोध करती है।

मैकाइवर ने लिखा है कि सामाजिक संहिताएँ जिनको कि सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है, यदि ठीक प्रकार से कार्य करती रहें तो निश्चय ही समाज मे सामाजिक स्थायित्व सम्भव हो सकेगा। मैकाइवर के अनुसार, समाज में दण्ड-व्यवस्था का प्रचलन भी इसलिए होता है जिससे कि सामाजिक संहिताएँ ठीक प्रकार से कार्य कर सकें, जैसे राज्य द्वारा बने कानून संहिताओं का उल्लंघन करने पर विभिन्न प्रकार के दण्ड का विधान होता है। धार्मिक संस्थाओ द्वारा निर्धारित नियमों का पालन नैतिक दृष्टिकोण से आवश्यक होता है। इसी प्रकार परिवार अथवा जाति आदि के नियमों को न मानने पर विभिन्न प्रकार का दण्ड दिया जाता है। आचार-संहिताएँ विभिन्न व्यवसायों मे व्यक्तियों के व्यवहारो को नियन्त्रित करती हैं। इस प्रकार विभिन्न समूहो, संस्थाओं तथा अन्य सामाजिक इकाइयों द्वारा निर्मित नियमों का पालन सामाजिक व्यक्ति किसी न किसी कारण से करते है ताकि सामाजिक स्थायित्व बना रहे। सामाजिक स्थायित्व जिस समाज मे होगा वही पर सामाजिक न्याय मिल सकेगा और जब तक सामाजिक न्याय नही मिलेगा, सामाजिक कल्याण की बात सोची भी नही जा सकती। इस प्रकार हम देखते है कि सामाजिक स्थायित्व ही सामाजिक न्याय तथा समाज-कल्याण का एक मूल आधार है। अतः सामाजिक पुनर्गठन के द्वारा सामाजिक स्थायित्व का निर्माण आवश्यक है।

(3) व्यक्तित्व का विकास (Enrichment of Human Personality)—सामाजिक पुनर्गठन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करना है। व्यक्तित्व से अभिप्राय व्यक्तियो के केवल बाह्य रूप से नही होता, अपितु ... व्यक्तियों के आन्तरिक गुणो मे वृद्धि से होता है। व्यक्तित्व का सम्बन्ध

व्यक्तियों के शारीरिक तथा मानसिक दोनों पहलुओं से होता है । किंबल यंग ने लिखा है कि 'व्यक्तित्व व्यक्ति की आदतों, मनोवृत्तियों, विचारों तथा शारीरिक लक्षणों की वह संगठित व्यवस्था है जो आत्म-चेतन और (स्व) की धारणा तथा अन्य बहुत से प्रेरकों, कार्य व पदों से सम्बन्धित विचारों, प्रयोजनों तथा मूल्यों से निर्मित होती है ।' व्यक्तित्व का विकास जहाँ एक ओर व्यक्ति के बहुमुखी विकास के लिए आवश्यक है वहीं पर यह समाज के नव-निर्माण के लिए भी आवश्यक है । वही समाज प्रगति कर पाता है जिसमें अधिकांश व्यक्ति ऐसे हो जिनका व्यक्तित्व ठीक प्रकार से विकसित हुआ हो । उचित समाजीकरण व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है । सरल समाजों में साधारणतया प्राथमिक समूह अपने-अपने सदस्यों का उचित मार्ग-दर्शन करने में सफल हो पाते थे लेकिन आजकल प्राथमिक समूह ही व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्याप्त नहीं । यही कारण है कि सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम बनाये जाते है जिससे कि व्यक्तियों का विकास ठीक प्रकार से हो सके और वे अपने शारीरिक तथा मानसिक विकास को उचित दिशा प्रदान कर सकें । सामाजिक पुनर्गठन के लिए निर्धारित विभिन्न कार्यक्रमों का अन्तिम उद्देश्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व का विकास करना है जिससे कि वे अपने पर्यावरण से ठीक प्रकार से अनुकूलन कर सकें और सफल जीवन व्यतीत कर सकें ।

सामाजिक नियोजन की कमियाँ

यद्यपि सामाजिक नियोजन प्रत्येक समाज के लिए उचित तथा आवश्यक है फिर भी सामाजिक नियोजन की कुछ कमियाँ है । यही कारण है कुछ विचारक इस पर सन्देह करते हैं कि सामाजिक नियोजन अपने उद्देश्यों की प्राप्ति करने में समर्थ हो सकेगा अथवा नहीं । आधुनिक समय में व्यक्ति की समस्त सामाजिक आवश्यकताएँ नियोजन के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, ऐसा नियोजनकर्त्ताओं का मत है । फिर भी इसे अनुपयुक्त माना जाता है जिसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(1) सामाजिक नियोजन का सर्वप्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों के अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण करना है । इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्तियों की मनोवृत्तियों तथा विचारों में मूलभूत परिवर्तन किया जाय । चूंकि व्यक्तियों की मनोवृत्तियों तथा विचारों में भिन्नता होती है अतः कोई एक कार्यक्रम सभी व्यक्तियों की मनोवृत्तियों को बदल सकने में समर्थ हो सकेगा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता ।

(2) सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन सामाजिक नियोजन का दूसरा उद्देश्य कहा जाता है । सामाजिक व्यवस्था का निर्माण एक या दो वर्षों में नहीं होता । उसके निर्माण में सदियाँ लगती हैं अतः उसमें निर्धारित समय, जो साधारणतया बहुत ही थोड़ा होता है, के अन्तर्गत परिवर्तन सम्भव नहीं है ।

(3) मानव परिवर्तन तथा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन सामाजिक मूल्यों तथा सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए । सामाजिक मूल्य तथा आवश्यकताएँ स्वयं निरन्तर परिवर्तित होती रहती है । अतः सामाजिक नियोजन को कितनी सफलता मिली है, ठीक से नहीं कहा जा सकता ।

(4) सामाजिक नियोजन के लिए साधारणतया एक केन्द्रीय संस्था की आवश्यकता होती है जिसके हाथों में उच्च अधिकार तथा सरकारी सत्ता का समर्थन प्राप्त होता है । अतः कभी-कभी लोग इस शक्ति का दुरुपयोग करने लगते हैं ।

(5) सामाजिक नियोजन में साधारणतया दो तरीकों, आग्रह और दबाव, से योजना के कार्यक्रमो को कार्यान्वित किया जाता है। कभी-कभी ये कार्यक्रम सामाजिक परम्पराओ तथा अपेक्षित आवश्यकताओं के विल्कुल विपरीत होते है जिसके कारण विभिन्न सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं और समाज विघटित होने लगता है।

(6) विभिन्न व्यवस्थाओं में सामाजिक नियोजन के जो कार्यक्रम चलते है वे मानव स्वतन्त्रता के विरोधी है, जैसे अधिनायकवाद, समाजवाद तथा साम्यवाद आदि। किसी मे एक शासक अथवा राजा की प्रधानता होती है तो किसी में राज्य अथवा सरकार की।

(7) सामाजिक नियोजन का कार्यक्रम साधारणतया पूरे समाज के लिए एक जैसा बनाया जाता है जबकि सामुदायिक आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। अतः सामाजिक नियोजन के कार्यक्रम इच्छित लक्ष्य को समाज के प्रत्येक भाग में प्राप्त कर लेगे, यह आवश्यक नही है।

(8) नियोजन का उद्देश्य व्यक्तियों तथा समाज की दशाओं को सुधारना होता है। यदि नियोजन के कार्यक्रम किसी कारणवश त्रुटिपूर्ण हो गये तो उससे सम्पूर्ण समाज की स्थिति खराव हो सकती है। अत: सामाजिक नियोजन के कार्यक्रमों को विशेष रूप से देख-सुन कर लागू करना चाहिए।

उपर्युक्त तर्कों के पश्चात् कोई भी प्रगतिशील व्यक्ति आज यह स्वीकार करने के लिए तैयार नही कि सामाजिक नियोजन के कार्यक्रम शुरू न किये जाएँ। विभिन्न देशो की प्रगति (जैसे सोवियत रूस अथवा कुछ हद तक भारतवर्ष में ही) नियोजन पर आधारित है। समाज में सामाजिक नियोजन के द्वारा विभिन्न सामाजिक समस्याओं तथा कुरीतियों को दूर करके सामाजिक प्रगति को सम्भव बनाया जा सकता है।

भारत में सामाजिक नियोजन (Social Planning in India)

भारत मे विस्तृत तौर पर नियोजन का श्रीगणेश 1950 ई० मे केन्द्रीय योजना आयोग की स्थापना करके किया गया। आयोग ने अपने लिए निम्न लक्ष्य निर्धारित किये जिनकी पूर्ति के लिए प्रोत्साहन मूलक (by inducement) तथा आज्ञा-मूलक (by direction) दोनों प्रकार की विधियाँ काम में लायी जाती हैं। इन लक्ष्यों की पूति के लिए निरन्तर पचवर्षीय योजनाएँ तैयार की जाती हैं तथा उनका कार्यान्वयन किया जाता है :

(1) आयोग देश के भौतिक, पूंजी सम्बन्धी तथा मानवीय साधनों का अनुमान लगायेगा तथा इसमें से जिसकी भी कमी होगी उसे सुधारने के लिए कार्यकम निर्धारित करेगा।

(2) देश के सभी साधनों का सन्तुलित प्रयोग ताकि समाज का अधिकतम कल्याण हो सके।

(3) प्राथमिकता के आधार पर उन अवस्थाओं का निर्धारण जिसमे कार्यक्रम पूरे किये जायेंगे। प्रत्येक अवस्था के लिए समुचित साधनो का प्रवन्ध।

(4) उन तत्वो का पता लगाना जो आर्थिक तथा सामाजिक विकास मे बाधा करते हैं तथा उन सामाजिक और राजनीतिक स्थितियो का पता लगाना

जिससे नियोजन सफल हो सके।

(5) योजना की विभिन्न अवस्थाओं को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए उचित प्रविधियों का निर्धारण।

(6) समय-समय पर योजनाओं द्वारा प्राप्त उद्देश्यों का मूल्यांकन ताकि उसकी कमियो को दूर किया जा सके।

(7) आयोग ऐसे अन्तिम तथा सम्बन्धित सुझाव देगा जो इसके कार्यों को ठीक प्रकार से करने तथा उस समय की वर्तमान आर्थिक परिस्थितियो, नीतियों तथा साधनों के आधार पर होगा। केन्द्र तथा राज्य सरकारो द्वारा दिये गये सुझावों को भी आयोग स्वीकार करेगा।

पंचवर्षीय योजनाएँ तथा समाज कल्याण

प्रत्येक समाज के लिए नियोजन समाज कल्याण का अकेला विकल्प है। नियोजन के दोनों प्रमुख रूप आर्थिक तथा सामाजिक प्रत्येक समाज मे इसीलिए अपनाये जा रहे हैं। अविकसित तथा विकासशील राष्ट्र भी अब यह निश्चय कर चुके हैं कि यदि उन्हें विकसित राष्ट्र की श्रेणी मे स्थान पाना है तो नियोजन को अपनाना होगा। भारतवर्ष मे व्यवस्थित रूप से नियोजन कार्यक्रम स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ-साथ प्रारम्भ हुआ। 1950 ई० मे भारतवर्ष एक गणतन्त्र राज्य के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ और इसी वर्ष नियोजन के माध्यम से विकास कार्यक्रयो को प्रारम्भ करने के लिए 'योजना आयोग' की स्थापना की गयी। प्रथम पचवर्षीय योजना (1951–56), द्वितीय योजना (1956–61), तृतीय योजना (1961–66)। तीन एक वर्षीय योजनाएँ—(1966–67; 1967–68; तथा 1968–69) चतुर्थ योजना (1969–74), पचम योजना (1974–79) तथा छठी योजना जिसे 1978 में ही प्रारम्भ किया गया है के द्वारा समाज मे नियोजित परिवर्तन एक वाछित दिशा प्राप्त कर समाज को सामाजिक प्रगति के आधारो को सुलभ कर रहा है।

पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा सामाजिक कल्याण के लिए किये गये विभिन्न कार्यक्रमों में से कुछ मुख्य कार्यक्रम निम्नलिखित हैं :

(1) शिक्षा का विस्तार—सरकारी आँकड़ों के अनुसार 1950–51 ई० में स्कूलो मे पढने वालो की कुल संख्या 187 लाख थी। 1955–56 ई० मे यह बढ़ कर 248 लाख हो गयी अर्थात् करीब 33 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 6 से 11 वर्ष के बीच बच्चों की सख्या 1950–51 ई० मे जो स्कूलो मे पढने जाते थे 42 प्रतिशत थी जो 1955–56 ई० में बढ़कर 51 प्रतिशत हो गई। 11 वर्ष से 14 वर्ष की आयु के पढ़ने वालों की संख्या 13·9 प्रतिशत थी जो 1955–56 ई० में बढ़कर 19·2 प्रतिशत हो गई। लोगों को प्रशिक्षित करने के लिए विभिन्न प्रशिक्षण सस्थाएँ शुरू की गईं। प्रथम पचवर्षीय योजना काल में ही इन्जीनियरिंग तथा तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने वालो की सख्या 2700 से बढ़कर 4000 हो गई। दूसरी पंचवर्षीय योजना में पहली योजना की तुलना मे शिक्षा पर कम ध्यान दिया गया। साधारण तथा तकनीकी शिक्षा के लिए प्रदत्त धनराशि पूरी नही थी। ऐसा लगता है कि इस नियोजन मे शिक्षा के वास्तविक महत्त्व को नही आँका गया। कोई भी समाज तब तक विकास नही कर सकता जब तक कि उस देश के समस्त व्यक्ति शिक्षित नही हो जाते। तृतीय पंचवर्षीय योजना का यह उद्देश्य था कि शिक्षा का प्रसार प्रत्येक

घर में होना चाहिए। 6 से 11 वर्ष के सभी बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था निःशुल्क की गयी है। व्यावसायिक तथा तकनीकी शिक्षा में भी विस्तार किया गया है। लड़कियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया है। सरकार ऐसी गैर-सरकारी संस्थाओं को करीब 90 प्रतिशत तक अनुदान देती है जो स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षायें केवल लड़कियों के लिए चल रही है। इस योजना तक स्कूलों की संख्या में करीब 75 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। विज्ञान के छात्रों के लिए विभिन्न प्रकार की छात्रवृत्तियाँ भी दी जा रही हैं। इस योजना मे शिक्षा के कुल व्यय का 25 प्रतिशत तकनीकी शिक्षा पर व्यय हुआ है।

चौथी पंचवर्षीय योजना में शिक्षा के प्रचार और प्रसार पर 1210 करोड़ रुपये खर्च किये गये जिससे आशातीत सफलता मिली। पाँचवी योजनावधि में 1937 करोड़ रुपये शिक्षा के विकास पर खर्च हुए। इन सभी पंचवर्षीय योजनाओं के कारण शिक्षा के स्तर मे सुधार हुआ है। उदाहरण स्वरूप प्राइमरी स्तर पर विद्यार्थियों की संख्या में 32 प्रतिशत से 69 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। सेकेण्डरी स्तर पर 5 प्रतिशत से 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। उच्च शिक्षा में जहाँ 1951–52 में केवल 4 लाख 16 हजार प्रतिवर्ष की दर से विद्यार्थियों की संख्या बढ़ रही थी वही आज यह दर 30 लाख से अधिक हो गयी है। यद्यपि यह स्थिति शिक्षित बेरोजगारी को भी जन्म देती है फिर भी शिक्षा के क्षेत्र में सराहनीय विकास हुआ है इसे नकारा नही जा सकता। छठी योजनाकाल में 'पूर्ण प्राथमिक शिक्षा' का लक्ष्य सामने रखा गया है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में आज जो 20 करोड़ से अधिक लोग निरक्षर हैं उन्हे साक्षर करने के लिए प्रौढ़ शिक्षा का कार्यक्रम चलाया जा रहा है।

छठी पंचवर्षीय योजना (1978–83) में न्यूनतम आवश्यकता पूर्ति कार्यक्रम के अन्तर्गत (i) प्राथमिक शिक्षा, (ii) प्रौढ़ शिक्षा, (iii) ग्रामीण स्वास्थ्य, (iv) ग्रामीण क्षेत्र में पीने का पानी की व्यवस्था, (v) गाँवो में सड़कों की व्यवस्था, (vi) गाँवों में बिजली की व्यवस्था, (vii) साधन विहीनों को आवास के लिए जमीन प्रदान करना, (viii) नगरीय झुग्गियो में सुधार, (ix) पोषक आहार योजना आदि का प्रावधान है।

(2) श्रम कल्याण—किसी भी समाज की वास्तविक स्थिति का पता वहाँ के श्रमिकों की स्थिति को देखकर लगाया जाता है। अतः सम्पूर्ण समाज के विकास के सन्दर्भ में श्रम कल्याण की महत्ता और बढ़ जाती है। श्रम कल्याण के अन्तर्गत उन सभी सुविधाओं को सम्मिलित किया जाता है जो श्रमिकों के रहन-सहन के स्तर, भोजन, आवास, मनोरंजन तथा कार्य करने की दशा में सुधार के लिए आवश्यक हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना से लेकर आज छठी योजना काल तक कुछ प्रमुख विधान निम्नलिखित हैं जिनसे श्रम कल्याण को बढ़ावा मिला है—

(i) *चाय बागान श्रम अधिनियम 1951—इस अधिनियम में 1960 में* संशोधन भी किया गया है; (ii) भारतीय खान अधिनियम 1952; (iii) कर्मचारी निर्वाह निधि *अधिनियम 1952;* (iv) *बोनस भुगतान अधिनियम 1965;* (v) बन्धक मजदूर उन्मूलन अधिनियम *1976;* (vi) अनुबन्धित श्रम नियमन तथा उन्मूलन अधिनियम 1970।

(3) विस्थापितों का पुनर्वास—देश के विभाजन के बाद सबसे प्रमुख समस्या ओं के पुनर्वास की रही। भारतवर्ष पाकिस्तान के अतिरिक्त अन्य देशों से भी

भारतीयों के प्रत्यावर्तन की सम्भावना है। अतः उसके पुनर्वास का भी प्रबन्ध करना होगा। प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में विस्थापितों के पुनर्वास के लिए कुछ न कुछ कार्यक्रम अनिवार्य रूप से बनाने पड़े।

कुटीर तथा लघु-उद्योगों को शुरू किया गया जिसमें 12,000 शरणार्थियों को काम मिला। महाराष्ट्र में चाँदा तथा अण्डमान द्वीप में और विस्थापितों को बसाने की योजना है। पाँचवीं योजना में पुनर्वास कार्यक्रम पर 130 करोड़ रुपये व्यय किये गये। छठी योजना में लगभग 200 करोड रुपये खर्च करने का प्राविधान है।

(4) मातृत्व तथा शिशु कल्याण— किसी भी समाज में सामाजिक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि माताओं तथा बच्चों के कल्याण के लिए नियोजित कार्यक्रम पेश किये जाएँ। भारतवर्ष में मातृत्व तथा शिशु कल्याण के लिए योजनाएँ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ही शुरू हुई हैं। अब भी उनकी स्थिति अधिक सुदृढ़ नहीं कही जा सकती। पहली पंचवर्षीय योजना में स्त्रियों तथा बच्चों के कल्याण के लिए 4 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी थी। दूसरी योजना में भी करीब 14 करोड़ रुपया इस पर व्यय किया गया जिसमें अन्य कल्याणकारी खर्च भी सम्मिलित है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में भी करीब 19 करोड रुपया व्यय हुआ है। तीसरी योजना मे स्त्रियों और बच्चों के लिए 264 कल्याण विस्तार परियोजनाएँ सामुदायिक विकास के समन्वय से चल रही थीं। मान्यता प्राप्त ऐच्छिक संगठनों द्वारा चलाये गये 306 कल्याण विस्तार केन्द्र और 1472 पंजीकृत महिला मण्डली द्वारा चलायी गयी कल्याण विस्तार सेवाएँ थी। 17 बाल-कल्याण परियोजनाएँ विभिन्न राज्यों में शुरू हुई। चौथी पचवर्षीय योजना में मातृत्व तथा बाल-कल्याण पर 13 करोड रुपया खर्च हुआ। इसके अतिरिक्त स्त्रियों के विशेष कार्यक्रम के लिए 3 करोड़ तथा बच्चों के कार्यक्रम के लिए 8 करोड़ रुपये और व्यय किया गया। ग्रामों में उन बच्चों के लिए जो अभी स्कूलों में नही जाते विभिन्न समाज सेवाओं की व्यवस्था की जा रही है। स्त्रियों तथा युवतियों को गृह-विज्ञान, मातृत्व शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा तथा बच्चों की देख-भाल की शिक्षा का प्रबन्ध किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक, शैक्षिणक तथा अन्य मनोरजनात्मक कार्य-कलापों की वृद्धि, स्त्रियों के आर्थिक क्रिया-कलापों में वृद्धि आदि कुछ विशेष कार्यक्रम है जिन्हें विभिन्न योजनाओं में स्थान दिया जा रहा है।

(5) शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से असमर्थ व्यक्तियों का कल्याण— समाज में ऐसे व्यक्ति जो शारीरिक तथा मानसिक रूप से स्वस्थ्य नहीं हैं उनके कल्याण के लिए विशेष कार्यक्रम निर्धारित किया जाना चाहिए। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में शिक्षा मन्त्रालय ने एक राष्ट्रीय सलाहकार समिति की स्थापना की जो केन्द्रीय सरकार की शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से असमर्थ लोगों की शिक्षा, प्रशिक्षण तथा नौकरी आदि को प्राप्त करने के लिए कार्यक्रम बनाती है। इस समय देश में अन्धों के लिए 97, गूंगों और बहरों के लिए 62 तथा लूले-लंगड़ों के लिए 15 और मानसिक दृष्टि से असमर्थ लोगों के लिए 8 स्कूल हैं। प्रौढ़ अन्धों के लिए देहरादून मे 'अन्धों का स्कूल' समाज-कल्याण मन्त्रालय के अन्तर्गत सराहनीय कार्य कर रहा है। तीसरी योजना में इस बात पर ध्यान दिया गया था कि अपाहिजों, असमर्थ वृद्धो, स्त्रियों तथा बच्चों के लिए सामाजिक स्तर पर कार्यक्रम तैयार किये जायें। जब तक सामाजिक सुरक्षा की एक व्यापक पद्धति का विकास नहीं कर

लिया जाता तब तक इन वर्गों की सहायता स्वेच्छासेवी तथा धार्मिक संगठनों, नगर महापालिकाओं तथा इस प्रकार की अन्य संस्थाओ द्वारा की जानी चाहिए। तीसरी योजना मे गैर-सरकारी सगठनो को भी कुछ धनराशि प्रदान की गयी थी ताकि वे इस वर्ग के लोगों की सहायता कर सकें। चौथी योजना में इसके लिए 4 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गयी थी। पाँचवी योजना में इस पर 11 करोड़ रुपये व्यय किया गया। छठी योजना में इस पर 64 करोड़ रुपये खर्च करने का विधान है।

(6) **पिछड़े वर्गों का कल्याण**—पिछड़े वर्ग के अन्तर्गत अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ, भूतपूर्व अपराधी जनजातियाँ तथा अन्य आर्थिक और सामाजिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए व्यक्ति आते हैं। समाज के उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि समाज मे कोई भी वर्ग ऐसा न हो जो पिछड़ा हुआ हो। अतः नियोजन के अन्तर्गत इनके विकास के लिए विशेष प्रकार के कार्यक्रम बनाये जाते हैं। इनके लिए विभिन्न प्रकार के ऐसे कार्यक्रम चल रहे हैं ताकि इनका आध्यात्मिक तथा आर्थिक विकास हो सके। नौकरियो में भी इनके लिए विशेष स्थान सुरक्षित रहते है, शिक्षा भी निःशुल्क दी जाती है। इसके अतिरिक्त उन्हें विभिन्न प्रकार की छात्रवृत्तियाँ दी जाती है ताकि वे अपना कल्याण कर सकें। पहली पंचवर्षीय योजना मे इनके कल्याण के लिए 30 करोड़ रुपये, दूसरी योजना मे 79 करोड़ रुपये, तीसरी योजना मे 102 करोड़ रुपये खर्च किये गये है। इस प्रकार तीन योजनाओ पर जो 211 करोड़ रुपये व्यय हुआ उसमें 115 करोड़ रुपये अनुसूचित आदिम जातियो, लगभग 72 करोड़ रुपये अनुसूचित जातियों तथा 22 करोड़ अन्य पिछड़े वर्गों पर खर्च किये गये। स्वैच्छिक सगठनों को 2 करोड़ रुपये की सहायता प्रदान की गयी। चौथी पंचवर्षीय योजना में, 180 करोड़ रुपये इसके लिए खर्च किये गये। जिसमे 100 करोड़ रुपये अनुसूचित आदिम जातियों, 66 करोड़ अनुसूचित जातियों तथा 14 करोड़ रुपये अन्य योजनाओं पर व्यय किये गये। पाँचवी योजना मे इस कार्य के लिए 210 करोड़ रुपये खर्च किया गया। अन्त्योदय कार्यक्रम से अनेक पिछड़े वर्ग के लोगों को लाभ पहुँचा है। जनवरी 1980 मे ससद ने एक एक्ट बनाकर अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आगामी 10 वर्षों तक पुनः स्थान सुरक्षित रखने का प्रवन्ध किया है।

(7) **मद्यनिषेध**—तीसरी योजना से ही मद्यनिषेध को समाज कल्याण का कार्यक्रम माना गया है। मद्यनिषेध के लिए जनमत को अपनी तरफ करने के लिए शिक्षण कार्यक्रम चलाये गये हैं। विभिन्न राज्यों में नशाबन्दी भी लागू है।

(8) **परिवार नियोजन**—1971 की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार भारत की जनसख्या 54 करोड़ 70 लाख थी। जो बढ़कर अब 64 करोड़ के करीब पहुँच गयी है। जन-स्वास्थ्य में प्रगति होने से मृत्यु-दर मे तेजी से कमी आयी है जबकि जन्म-दर मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। भारत में आर्थिक समृद्धि तभी हो सकती है जब जनसंख्या की वृद्धि को रोका जाय। भारतवर्ष मे परिवार नियोजन को इसीलिए राष्ट्रीय कार्यक्रम के रूप मे अपनाया गया है।

1983–84 तक जन्म-दर को 25 प्रति हजार कम करने की योजना है। पाँचवीं योजना-काल में जनसंख्या नियन्त्रण कार्यक्रम को यह सफलता नहीं मिल पायी जो निश्चित की गयी थी। छठी योजना में जनसख्या नियन्त्रण कार्यक्रम को पूरी सफलता मिल सकेगी इसकी आशा है।